प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य के अध्ययन की ओर आरम्भ से ही मेरी रुचि रही है। मेरी अभिरुचि विशेष रूप से छायावादी काव्य की ओर थी। कविवर पंत की सुललित-मधुर-पदावली सदैव मन को आकर्षित किया करती थी। हिन्दी एम० ए० करने के बाद जब शोध-विषय के चयन की बात उठी, तो सहज ही मेरा मन कवि पंत की ओर उन्मुख हो गया। यद्यपि पंत जी के काव्य पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु पंत काव्य का कला शिल्प और सौन्दर्य की दृष्टि से सम्यक अनुशीलन करने वाला कदाचित कोई भी शोध-प्रबन्ध उस समय तक प्रकाश में नहीं आया था। अतएव मैंने इसी विषय पर शोध करने का निश्चय किया और मुझे प्रसन्नता है कि मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हुई। मेरे शोध का विषय 'पंत काव्य में कला, शिल्प जनित सौन्दर्य' है, प्रकाशन के समय इसमें किंचित परिवर्तन कर इसे 'पंत काव्य में कला-शिल्प और सौन्दर्य' कर दिया गया है।

मेरे शोध-कार्य का आरम्भ और परिसमाप्ति मेरे माता-पिता के अपूर्व उत्साह-वर्धन और प्रोत्साहन का परिणाम है जिनके असंकुचित दृष्टिकोण और असंकीर्ण विचारधारा से प्रभावित पारिवारिक परिवेश में हिन्दी विषय पर गंभीर अध्ययन करने में कोई भी कठिनाई अनुभव नहीं हुई। प्रायः देखने में आता है कि भाषा को धर्म से सम्बद्ध कर उसे एक वर्ग अथवा सम्प्रदाय विशेष की ही निजी सम्पत्ति मान लिया जाता है। समय-समय पर संकुचित दृष्टिकोण एवं संकीर्ण विचारधारा वाले व्यक्तियों का सामना भी करना पड़ा, परन्तु माता-पिता एवं गुरुजनों की प्रेरणा ने कभी हतोत्साहित नहीं होने दिया। किसी भी भाषा अथवा विषय के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण में ही शिक्षा का उचित लक्ष्य निहित है। अन्यथा शिक्षा का क्या उद्देश्य रहा, यदि हम मानसिक रूप से उन्नत न हो सके।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन श्रद्धेया डॉ० (श्रीमती) शशि अग्रवाल के सुयोग्य निर्देशन में हुआ है। उनके सत्परामर्शों एवं बहुमूल्य निर्देशन ने मेरे शोध-पथ को प्रशस्त किया तथा इसके अंतिम रूप तक की समस्त प्रक्रिया उनके सहज स्नेह तथा आशीर्वाद का ही प्रतिफलन है। उनके प्रति कृतज्ञता की अनुभूति मेरी निजी सम्पदा है, किसी प्रकार के औपचारिक आभार प्रदर्शन से उसके मूल्य की क्षति ही होगी। मेरी हार्दिक आकांक्षा है कि मैं सदैव ही उनके अपार स्नेह तथा सहृदयता की भोक्ता बनी रहूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में स्वर्गीय सम्मान्य कविश्री सुमित्रानन्दन पंत जी की आशीषपूर्ण स्नेहछाया का विशेष योगदान रहा। समय-समय पर उनकी सुदक्ष व्याख्याओं एवं विवेकपुष्ट ज्ञान द्वारा मेरी अल्पबुद्धि लाभान्वित होती रही। वास्तव में, उन्होंने ही मेरे इस साधना-पथ को आलोकित कर मेरी जिज्ञासाओं को सजग और सबल बनाया। उनकी महत् अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये मेरी लेखनी सर्वथा अक्षम है।

मैं श्रद्धेय डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत शोध-विषय की संस्तुति करने के साथ इस विषय पर कार्य करने के लिये मेरा उत्साह-वर्धन किया। मैं उदारचेता श्रद्धेय डॉ० रघुवंश (भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने विषय से सम्बन्धित पुस्तकें प्रदान कर मेरे कार्य को सुगम बनाया। मैं आदरणीय डॉ० जगदीश गुप्त (सम्प्रति विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं सत्परामर्शों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ। श्रद्धेया कु० शांति जोशी (भूतपूर्व रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति भी मैं ऋणी हूँ। जब भी मैं परम आदरणीय कविवर सुमित्रानन्दन पंत जी के यहाँ गयी उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझे अनेक सद्परामर्श दिये तथा मेरी प्रत्येक संभव सहायता की। उनकी पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य' के दोनों खण्ड मेरे लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। अतः मैं उनके प्रति अपना हार्दिक आभार-प्रदर्शन करती हूँ। साथ ही मैं उन समस्त विद्वानों एवं लेखकों के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनकी बहुमूल्य पुस्तकों से मैंने सहायता ली।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री आर० आर० मैसी तथा श्री एस० पी० राय, श्री अब्दुल वहाब, श्री भोलानाथ यादव और श्री संगमलाल पाण्डेय के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने प्रत्येक अवसर पर मुझे यथोचित सुविधाएँ प्रदान कीं। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के 'हिन्दी संग्रहालय' और केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय, इलाहाबाद द्वारा भी मुझे अपने शोध-कार्य से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हुईं, अतः मैं इनके प्रति भी आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कविश्री सुमित्रानन्दन पंत की समग्र काव्य चेतना के सन्दर्भ उनके काव्य में निहित कला-शिल्प और सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है।

कवि पंत 'सौन्दर्य के कवि' कहे जाते हैं, दूसरे शब्दों में सौन्दर्य कवि पंत में आत्मसात् था और कवि पंत सौन्दर्य में। पंत जी प्रधान रूप से कलाकार थे इसलिए उनके काव्य में सर्वप्रथम स्थान कला का ही है। उनकी कला चिर-सुन्दर एवं अत्यन्त कोमल है। हिन्दी काव्य-कला को निखार कर उसमें सरसता, सुकुमारता और सौन्दर्य भरने का श्रेय उन्हीं को है। प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण विशुद्ध कलाकार का रहा है। वास्तव में प्रकृति ने ही उनके काव्य-जगत को वह सौन्दर्य प्रदान किया है जो उन्हें अन्य कवियों से पृथक कर देता है। प्राकृतिक वातावरण से ही उन्हें छन्दों और भाषा का परिष्कार करके अपनी काव्य-कला को समृद्ध बनाने की प्रेरणा मिली। सफल काव्य की दृष्टि से भाव और कला-शिल्प में तादात्म्य आवश्यक है, इसलिये कला शिल्पगत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति के अधीन रहना चाहिये। जिस काव्य में केवल विचार तथा भाव बोध की ही प्रधानता रहती है, उसे कला शिल्पगत सौन्दर्य का रसात्मक स्पर्श नहीं मिल पाता। शिल्प और कलागत सौन्दर्य काव्य विहग के उन पंखों के समान है जो उसके स्वर-मुखर व्यक्तित्व को दूर-दूर तक प्रसारित करने में समर्थ होते हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए मैंने पंत-काव्य को मूल्यांकित किया है। अपने अध्ययन को मैंने मुख्य रूप से भावपक्ष और कलापक्ष के अंतर्गत रेखांकित किया है। भावपक्ष में काव्यकला पर विचार किया है और कलापक्ष में काव्य शिल्प पर।

सम्पूर्ण प्रबन्ध की विषय-वस्तु छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कला, शिल्प और सौन्दर्य की स्वरूप विवेचना है। ये उपकरण काव्य की समृद्धि में प्रमुख भूमिका निभाते हैं और विषय की दृष्टि से इनके परस्पर संबंध एवं महत्व पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में पंत जी का जीवन परिचय है। किसी कवि के काव्य के किसी भी पक्ष के मूल्यांकन में कवि के व्यक्तित्व का पक्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यह कवि-व्यक्तित्व काव्य में दो रूपों में प्रतिपादित होता है—एक उसका साधारण व्यक्तित्व जो उसके जन्म एवं संस्कार से सम्बन्धित है और दूसरा उसका शुद्ध कवि-व्यक्तित्व जो उसकी काव्य प्रतिभा की भूमि पर उसकी जीवनानुभूतियो, भावनाओं, आदर्शों, सौन्दर्य-बोध एवं शिल्प के उपकरणों से निर्मित होता है। कवि पंत के व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों को स्पष्ट करने के लिये इस अध्याय में समानांतर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और यह स्थापित किया गया है कि उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों में कोई द्वैत नहीं है। पंत व्यक्तित्व ही पंत-काव्य है।

तृतीय अध्याय में छायावाद की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में पंत जी के छायावादी काव्य में कला शिल्पगत सौन्दर्य का विवेचन-विश्लेषण है। छायावादी काव्य-धारा के उद्भव एवं विकास के क्रम में पंत जी पर उसका प्रभाव एवं उसमें उनके सहयोग का मूल्यांकन है। पीठिका के तौर पर हमने उस युग की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के साथ इस काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का संकेत कवि की मनोभूमि को समझने के लिये किया है। उस काल की इन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों ने कवि के मानस को विभिन्न कोणों से प्रभावित किया जिसका स्पष्ट प्रतिफलन उसके काव्य में हुआ। छायावाद एक नवीन लक्ष्य की पूर्ति के लिये साहित्य क्षेत्र में उतरा था। वह किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों का उपजीवी काव्य नहीं था। उसने कई स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की और कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व अपनाये जो उसकी लक्ष्यसिद्धि में सहायक हो सकें। विश्व-मानवतावाद उसका प्रमुख लक्ष्य था। पंत जी की भी निश्चित धारणा थी कि छायावाद विश्वात्मवाद के नये व्यापक आदर्श को वाणी देता है तथा उसका संघर्ष यदि राजनीतिक, आर्थिक धरातल पर प्रत्यक्ष नहीं है तो एकदम व्यक्ति के सीमित धरातल पर भी नहीं है वरन् वह एक वृहत् सांस्कृतिक भूमि पर है। ऐसे उदात्त भावों के प्रेषीकरण के लिये विशिष्ट कला की अपेक्षा लेती है, जिसका संतुलन उन विशिष्ट भावों के साथ हो सके। इसलिये छायावाद में भावों के साथ कला-सम्बन्धी नवीन प्रयोग हुए। छायावादी काव्य ने अभिव्यंजना शिल्प के क्षेत्र में युगान्तर स्थापित किया। उस काल के काव्य की यह समृद्धि हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है।

पंत जी के कला-सम्बन्धी अवचेतन प्रयोगों का उल्लेख उनकी प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में किया है तथा चेतन प्रयोगों का विवेचन मुख्य रूप से 'पल्लव' की भूमिका के संदर्भ में किया है जिसमें उनके काव्य-शिल्प के प्रति अतिरिक्त जागरूकता, उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की महत्ता प्रतिपादित करते हुए यह स्थापना की है कि उनकी इस काल की काव्य-सृष्टियाँ शिल्प, कला और सौन्दर्य की दृष्टि से वास्तव में छायावाद का प्रतिनिधित्व करती हैं।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत प्रगतिवाद की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में कवि पंत की इस काल की रचनाओं का कला शिल्पगत अध्ययन प्रस्तुत है। सर्वथा नवीन लोकोन्मुखी जीवन-दृष्टि, भावबोध तथा प्रशस्त रचना-क्षेत्र को यथार्थवादी स्पर्श से अनुप्राणित करने का नितांत सहानुभूतिपूर्ण संकल्प ही प्रगतिवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। छायावादी कवि का सम्पूर्ण रचना संसार एक नितान्त वायवीय एवं वैयक्तिक बोध से ग्रस्त होता जा रहा था फलतः उसकी मूल्यगत

सार्थकता नष्ट होती जा रही थी। इस सारे परिवर्तन के निश्चित ऐतिहासिक कारण थे जिसका उल्लेख हमने पृष्ठभूमि के अन्तर्गत किया है। पंत जी ने भी अनुभव किया कि छायावादी काव्य-बोध समकालीन जीवन स्थितियों के साथ अनुकूल नहीं हो पा रहा है अतः उनकी सौन्दर्यवादी दृष्टि में विशिष्ट परिवर्तन लक्षित हुआ। वे सर्वात्मवादी गांधी-दर्शन एवं मार्क्स-दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित हुए। यह उनकी आन्तरिक प्रेरणा के अनुरूप उनके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास है।

एक आदर्श मानव समाज की कल्पना ने उन्हें समय-समय पर विभिन्न जीवन-दर्शनों की ओर आकर्षित किया। आलोच्य काल में मार्क्सवाद का स्वागत करते हुए उन्होंने उसे सर्वाङ्गीण दर्शन के रूप में न स्वीकार कर विराट् लोक-कल्याण की दृष्टि से भारतीय अध्यात्मवाद के साथ उसका समन्वय उचित ठहराया। छायावाद की भूमि से प्रगतिवाद की भूमि पर संक्रमण एवं कवि की सौन्दर्यवादी दृष्टि में हुए परिवर्तन का दिग्दर्शन कराते हुए हमने यह स्थापित किया है कि इस कालखण्ड में उनका कलात्मक मोह प्रौढ़ सामाजिक यथार्थ के निकट पहुँचने पर कम होने लगता है, परन्तु उनकी सौन्दर्यात्मिक दृष्टि में कोई कमी नहीं होती बल्कि आयाम और विषय परिवर्तित हो जाने पर भी कला की दृष्टि से विषयानुकूल सहजता एवं सरलता का सौन्दर्य विद्यमान है।

पंचम अध्याय में अरविंद-दर्शन के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप पंत जी की भावधारा में हुए परिवर्तन और स्थिर जीवन-दृष्टि की प्राप्ति के संदर्भ में, इस भावधारा के अन्तर्गत आने वाली रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत है। मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद में पंत जी का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सका। उनके जैसे संस्कारी व्यक्तित्व के लिये आस्तिकता अनिवार्य थी। इसलिये स्वभावतः वह आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुए। इसके अतिरिक्त मौलिक रूप से वे एक आस्थाशील कवि थे और उच्च मानवीय मूल्यों में उनका प्रारंभ से ही विश्वास था। उनकी आस्था थी कि उच्च मानवीय मूल्यों का ऊर्ध्वगामी चेतना के साथ संयोग किया जाय तो निश्चय ही मानवता नवीन अर्थ गौरव प्राप्त कर सकती है। पंत जी का वैचारिक धरातल अरविंद के दार्शनिक चिंतन की ओर उन्मुख हुआ। उनका जिज्ञासु मन जड़वाद व चेतनावाद में सामंजस्य के सूत्रों की खोज कर रहा था। चूँकि महर्षि अरविंद ने ऐसा सामंजस्य खोज निकाला था इसलिये उनके दर्शन की ओर पंत का आकर्षण स्वाभाविक था।

इस कालखण्ड की कविताओं को कवि ने नवचेतनावादी कविताएँ कहा है, क्योंकि इनमें उस 'सूक्ष्म चेतना' का विकास है जो 'सौन्दर्य चेतना' और 'बौद्धिक चेतना' की अगली कड़ी है। यह चेतना प्राचीन अध्यात्म से इस अर्थ में भिन्न है कि यह उस युग की विरक्ति के स्थान पर अनुरक्ति का संदेश देती है। प्राचीन अध्यात्म मुक्ति का समर्थक था, यह सामाजिक कल्याण का, उसमें स्वर्ग के स्वप्न देखे जाते थे, इसमें पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतारने की कल्पना है। इस प्रकार पंत जी की रचना का यह काल-खण्ड नि:स्वर शोभामय आरोहण का काल था। कला शिल्प के स्तर पर इस काल-खण्ड का काव्य अधिक बौद्धिक, विचार-प्रबल, विचार-प्रबल एवं प्रौढ़ है, काव्य-शिल्प अत्यन्त सूक्ष्म है जिसके अंतर्गत प्रतीकों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। अनुभूति और विचार-दर्शन की मौलिकता के कारण ये प्रतीक नितान्त मौलिक एवं अर्थ सम्प्रेष्य हैं। इसके साथ ही बिम्बों का वैविध्य, चित्रात्मकता तथा भाव-प्रवणता का अद्‌भुत समन्वय दृष्टिगत होता है—इन सभी को दृष्टि में रखते हुए इस काल की कला शिल्पगत उपलब्धियों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

षष्ठम अध्याय में पंत जी के समस्त उत्तरवर्ती काव्य, जिसे उन्होंने विकासवादी काव्य की संज्ञा दी है, का अध्ययन चेतनावादी काव्य की परम्परा के अंतर्गत मानकर किया गया है, क्योंकि भाव, जीवन दृष्टि और कलात्मक प्रतिष्ठा की दृष्टि से इस चरण की कविताओं में कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं है वरन् कला-शिल्प और सौन्दर्य की दृष्टि से इस चरण की रचनाओं में उनकी पूर्ववर्ती मान्यताओं का ही विकास हुआ है। काव्य में नवीनता न होने पर भी पंत जी जैसे संवेदनशील एवं सौन्दर्यप्रिय कलाकार अपनी अभिव्यक्ति में सदैव नवीन एवं सुन्दर रहे। सौन्दर्य-स्निग्ध, अनुभूतिपूर्ण स्थलों को संकेतित करते हुए विकासवादी काव्य में कलात्मकता और सौन्दर्य का उद्‌घाटन हमने इस अध्याय में किया है।

अन्त में मैं उस परम शक्ति नियंता के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिसकी इच्छा से यह कार्य संभव हो सका। मेरा सहृदय विद्वानों से यही निवेदन है कि—

गच्छत: स्खलनं क्वापिभवत्येव प्रमादत:।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना:॥

दिनांक २०-८-१९८४ —किश्वर सुल्ताना
जन्माष्टमी

आशीर्वचन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से कु० किश्वर सुल्ताना ने डॉ० शशि अग्रवाल के निर्देशन में १९७८ ई० में पंत-काव्य में कला, शिल्प जनित सौन्दर्य विषय पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर डी० फिल्० उपाधि प्राप्त की। यह एक ऐसा तथ्य है जो उनकी अध्ययनशीलता और लेखन-क्षमता का एक पक्ष उजागर करता है। हिन्दी में शोध-कार्य जितने विशद रूप से हो रहा है, उसमें सार्थक और महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्धों की पहचान करना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। उपाधि का स्तर भले ही एक हो, पर प्रबन्धों का स्तर समान नहीं होता। अरबी-फारसी और उर्दू की परम्परा वाले परिवार में जन्म लेकर भी अपनी प्रवृत्ति और निष्ठा से हिन्दी विषय लेकर उसमें शोध-कार्य करने का सफल संकल्प उनकी मनस्विता का परिचायक है तथा विषय-चयन उनकी आधुनिक काव्योमुख अभिरुचि का द्योतन करता है। दोनों बातें मिलकर उनके व्यक्तित्व का सजीव चित्र उपस्थित करती हैं।

सौन्दर्य-बोध मनुष्य की ऐसी विशेषता है जिसका अन्तर्भाव उसकी किसी अन्य जैविक प्रवृत्ति में नहीं होता। सौन्दर्य-दर्शन मानव-चेतना का संस्कार करके उसे अधिक संवेदनशील, उदात्त और सम्पन्न बनाता है। उसकी व्याप्ति केवल मानव-कृत शिल्प और कला तक सीमित नहीं है। समस्त जगत् उसकी सीमा में आता है। कला और शिल्प मनुष्य की रचना-शक्ति के उत्कर्ष को निर्भ्रान्त रूप में प्रमाणित करते हैं। ललित कलाओं के साथ साहित्य का रिश्ता जितना माना जाता है उससे कहीं अधिक गहरा है। सरस्वती की परिकल्पना में साहित्य और संगीत दोनों प्रतिमूर्त है। भारतीय दृष्टि संगीत को सभी कलाओं का आधार निरूपित करती है। पाश्चात्य चिन्तन ने भी 'लय' (Rhythm) को साहित्य और कला दोनों में अन्तर्व्याप्त माना है।

पंत जी हिन्दी के उन विशिष्ट कवियों में हैं जिनके काव्य में संवेदन, चिन्तन और सम्मूर्तन की त्रिधा क्षमता असाधारण सुकुमारता और सूक्ष्मता के साथ मिलती है। 'चित्र राग' की उनकी धारणा अद्वितीय है। 'मानव' को उन्होंने अन्ततः 'सुन्दरतम' घोषित किया है जबकि वे प्रारंभ में 'प्रकृति' के ही सुकुमार कवि माने जाते थे। लेखिका ने पंत जी को सौन्दर्यवादी कहते हुए

उनके व्यापक दृष्टि कोण का प्रमाण 'पल्लव' की इन पंक्तियों में विशेषत: लक्षित किया है—

वही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप लोक सेवा में शिव अविकार,
स्वरों में ध्वनित मधुर सुकुमार सत्य ही प्रेमोद्गार,
दिव्य सौन्दर्य स्नेह-साकार भावनामय संसार।

निश्चय ही यहाँ पंत जी ने प्रज्ञा के सत्य, लोक-सेवा-कर्म के शिवत्व तथा प्रेम के दिव्य सौन्दर्य को अपने भावनामय छायावादी संसार में एकान्वित किया है। 'ग्राम्य' से लेकर 'चिदम्बरा' और संक्रान्ति तक की काव्य यात्रा तथा उसके बीच आने वाली गाँधी-अरविंद प्रेरित अनेक काव्य कृतियों तथा उसके बाद 'सत्यकाम' जैसी औपनिषदिक कथा-प्रधान रचना तक के समग्र वैविध्य को सहेजते हुए इस शोध-प्रबन्ध में उनके कृतित्व का जो विश्लेषण, विवेचन एवं निरूपण किया गया है, वह साधार, प्रामाणिक और प्रेरक है इसमें संदेह नहीं। लेखिका की निजी विचारधारा भी अपना परिचय स्वयं देती जाती है।

पंत जी का कृतित्व हिन्दी-काव्य के कई युगों को एक साथ मिलाता है अत: मूल्यगत समन्वय का कार्य दुष्कर है। अनेक वैचारिक अन्तर्विरोधों और असंगतियों का निराकरण करना इस शोध-कार्य का लक्ष्य भी नहीं था। मूल उद्देश्य था पंत जी की सौन्दर्य दृष्टि की सही पहचान सामने ला देना, जिसमें लेखिका को निश्चय ही सफलता मिली है। मुझे विश्वास है कि आधुनिक काव्य के प्रति जिज्ञासा रखने वाले साहित्य-चेता इससे यथेष्ट परितोष प्राप्त करेंगे।

दिनांक १६-८-१६८४

डॉ० जगदीश गुप्त
विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

कला, शिल्प और सौन्दर्य का स्वरूप

कला, शिल्प और सौन्दर्य परस्पर इस प्रकार अन्तःसम्बन्धित हैं कि एक का विवेचन करने पर अन्य दो स्वतः समाहित हो जाते हैं। काव्य-साहित्य में इन तत्त्वों का विशिष्ट महत्त्व है। किसी कवि के काव्य की उत्कृष्टता भी इन्हीं पर निर्भर है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए इनका पृथक् रूप से विवेचन करना अपेक्षित होगा।

कला—कला शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही बहुत व्यापक अर्थ में होता आया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति कल धातु + कच प्रत्यय में टाप स्त्रीलिंग[1] प्रत्यय लगा कर हुई है। अन्य कोशों में भी लगभग यही व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच—दोनों ही रूपों में इस शब्द का विकास हुआ है। कला-सम्बन्धी प्राचीन विचारधारा आधुनिक विचारधारा से सर्वथा भिन्न थी। भारतीय शास्त्रों में कला के इतने अधिक अर्थ मिलते हैं कि एक निश्चित अर्थ बताना कठिन है, परन्तु फिर भी उन अर्थों से जो ध्वनि निकलती है उससे स्पष्ट होता है कि कला का अर्थ किसी वस्तु की रचना अथवा बनाना है।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "कला मानव संस्कृति की उपज है। निसर्ग से युद्ध करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौन्दर्य बोध प्राप्त किया, कला शब्द में उसका अन्तर्भाव है।"[2]

कतिपय विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार कला को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। श्री राजेन्द्र द्विवेदी ने अपने कोश में कला को प्रतिभा शक्ति और कल्पना कौशल से कतिपय रूपों में स्वान्तःसुखाय या मनोरंजन और उपदेश के लिए किया गया जीवन का अनुकरण बताया है।[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कला की परिभाषा इस प्रकार दी है,

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे, पृ० २५६।

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २२०, प्रथम संस्करण।

३. साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश– राजेन्द्र द्विवेदी, पृ० ६२।

उत्पन्न करता है ।[१] ले हृण्ट कविता को मानव के सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के भावावेगों की अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसमें कवि अपनी कल्पना के आश्रय से विचारों को मूर्तिमान् एवं स्पष्ट रूप प्रदान करता है ।[२] मैथ्यू आरनाल्ड के अनुसार कविता काव्यात्मक सत्य और काव्यात्मक सौन्दर्य द्वारा निश्चित स्थितियों में जीवन की आलोचना है ।[3]

आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है ।...हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं ।[४] हृदय को इस मुक्तावस्था में पहुँचाना सौन्दर्य के योग से ही सम्भव है । जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है ।[५]

भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों के मतावलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य में सौन्दर्य के उद्दीपन से साहित्यकार के मन में अनुभूतियाँ विकसित होती रहती हैं और ये अनुभूतियाँ अपनी सत्यता के कारण पाठक के साथ साधारणीकरण की क्रिया द्वारा एकाकार हो जाती हैं ।

१. "Poetry has been its own exceeding great reward, it has given me the habit of wishing to discover the good and the beautiful in all that needs and surrounds me."

२. "Poetry is the utterance of a passion for truth, beauty and power, embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy."

३. (Poetry is) A creation of life under the conditions is fixed for such criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty.

४. चिन्तामणि, भाग २—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६६—सरस्वती मन्दिर प्रकाशन, वाराणसी, संवत् २०१६ ।

५. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३८—भारती भण्डार, चतुर्थ संस्करण ।

इसमें व्यक्ति के अहं और स्व का लोप हो जाता है और इस तल्लीनता की स्थिति में एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। इस अलौकिक आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। मात्र सत्त्वोद्रेक ही साहित्य का उद्देश्य नहीं, यह तो सभी कलाओं का उद्देश्य है। उसमें कुछ ऐसा भी होना चाहिए जो जीवन में महत्त्वपूर्ण हो। "साहित्य अन्य कलाओं से इसलिए विशिष्ट है कि उसका जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है।"[१] साहित्यत्व तो क्रान्तद्रष्टा कवि के वस्तु या भाव के साक्षात्करण में है अर्थात् साहित्य कलात्मक दृष्टि से देखे हुए समाज का दर्पण है। क्या हो रहा है, क्या होता रहा है, क्या होता रहेगा, इसका उपन्यास और समीक्षण ही साहित्य की विशेषता है। इस दृष्टि से वह चिर नवीन और चिरन्तन है। चारों ओर नाश और ध्वस के मध्य साहित्य सब के सहित सब दिन सतत जागृत रूप में विद्यमान रहता है। यही उसका सार्वभौमत्व है।

कला में मौलिकता—मौलिकता का अर्थ है कुछ नवीनता अथवा अपनापन। मौलिक कलाकृति की अपनी विशिष्टता होती है। केवल पिष्टपेषण सहृदय को रुचिकर नहीं लगता। यही कारण है कि एक ही वस्तु का निर्माण अनेक कलाकारों द्वारा होने पर भी उनमें भिन्नता होती है, इसका कारण है मौलिकता। यथा रामकथा के अनेक रचयिता हुए परन्तु सब रचनाओं की अपनी अलग विशिष्टता है।

कलाकार को अपनी सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि कला संस्कृति से विच्छिन्न नहीं रह सकती। इसके अनन्तर उसे अपनी पूर्वकालिक कृतियों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। ज्ञान से कलात्मक मौलिकता का कोई विरोध नहीं है। कलाकार संवेदनशील प्राणी होने के कारण समाज का अवलोकन मार्मिक दृष्टि से करता है। कलाकार समाज से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी अनुभूतियों को, युग की अव्यक्त भावनाओं को वाणी प्रदान करता है। अनुभूति कहीं से भी ग्रहण की जाय, उसका नवीन एवं आकर्षक रूप से प्रस्तुतीकरण ही कृति को मौलिकता प्रदान करता है। साहित्य में यह मौलिकता वस्तुगत, रूपगत, भाषागत एवं शैलीगत आदि अनेक रूपों में दृष्टिगत होती

१. आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ४०७, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, संवत् २००८ वि०।

है। इनमें से किसी भी रूप की विशिष्टता कलाकृति को मौलिकता प्रदान करती है। समस्त रूपों की मौलिकता कलाकृति को सर्वश्रेष्ठ साहित्य में स्थान ग्रहण कराती है। अतः कला के सन्दर्भ में मौलिकता का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जीवन में अनुभूत अथवा अनुभूत्याभास की आह्लादमयी चमत्कारपूर्ण जनमानसहारिणी अभिव्यक्ति का ही नाम कला है। किसी वस्तु का यथातथ्य निरूपण अथवा उसका अनुकरण कला कदापि नहीं कही जा सकती। सौन्दर्य को बुद्धि-गम्य और व्यापक बनाने का श्रेय कला को ही है। पर स्वयं कला भी सौन्दर्य की प्रेरणा से प्रकट होती है। कलाकार स्वयं सौन्दर्य स्रष्टा नहीं होता वरन् गूढ़, अगूढ़ रहस्य, प्रकट रूप में विश्व में सौन्दर्य कणों को एकत्र कर मोहक ढंग से प्रस्तुत कर देता है। कुम्भकार कोई मृण्मय पात्र बनाता है और शिल्पी उस पर बेल-बूटे बना कर उसका सौन्दर्य-वर्द्धन कर देता है, तो जिस प्रकार वह सृष्टिकर्ता नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार प्रकृति ने अपना सौन्दर्य भण्डार विश्व-मानव के सम्मुख उन्मुक्त कर दिया है और कलाविद् उसी सौन्दर्य को फिर से विश्व मानव के आगे चिर-नूतन, अभिनव रूप में प्रस्तुत कर देता है। विशिष्टता उस अभिव्यक्ति और उस सौन्दर्य में है जिसमें कलाकार अपनी अनुभूति और कल्पना का रंग चढ़ा कर देता है। यही कला है—यही मौलिकता है। अनुभूति एक है, किन्तु प्रदर्शन के ढंग अनेक हैं।

कला और सौन्दर्य—कला और सौन्दर्य में अभिन्न सम्बन्ध है। यदि हम कहें कि सौन्दर्य के सूत्र में ही कला के मोती पिरोये जाते हैं तो अत्युक्ति न होगी। कला के अन्तर्दर्शन में सौन्दर्य है और सौन्दर्य के अन्तर्दर्शन में कला। सौन्दर्य प्रत्येक प्रकार की कला में निहित रह कर उसके विविध रूपों का समन्वय करता है—चाहे यह कला काव्य कला हो या संगीत कला, वादन कला हो या नृत्य कला अथवा स्थापत्य कला हो या मूर्ति कला। "सौन्दर्य शास्त्र का दूसरा नाम कला है। सौदर्न्य कला का सहयोग पाकर निखरता है। जो व्यक्ति अपनी कृतियों में सौन्दर्य की सुष्ठु अभिव्यक्ति कर पाता है वही कलाकार है और जो कला में सौन्दर्य का अनुभव करता है वह कलाविद् है।"[1]

सौन्दर्य की यह अनुभूति ही साहित्य का अभीष्ट है। कला के रूप की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। साहित्य शब्दों द्वारा सौन्दर्य को मूर्त्त रूप प्रदान करता है। कला के मौन को साहित्य ही मुखर करता है। अपनी परि-

१. आधुनिक काव्य में सौन्दर्य भावना—शकुन्तला शर्मा, पृ० २५, प्रथम संस्करण, १९५२।

मार्जित भाषा से वह कला के रूप को जीवन देकर गतिमान बनाता है। इस जीवन से कला का ऐश्वर्य, उसके मनोभाव और संस्कार ज्वलित हो जाते हैं। "साहित्य में निहित जीवन और सृष्टि के विभिन्न रूप ही सुन्दर हैं। वह सौन्दर्य-निर्माता भी है और सौन्दर्य की सृष्टि भी। सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना ही का नाम साहित्य है।"[१] जीवन के विविध रूपों का कलात्मक अंकन साहित्य द्वारा ही सम्भव होता है। मानव समाज इन रूपों का अनुकरण कर जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। अतः साहित्य द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि होती है और सौन्दर्य द्वारा साहित्य का निर्माण।

सौन्दर्य-बोध से सौन्दर्याभिव्यंजन के लिए आकुल भावुक हृदय की सौन्दर्याभिव्यक्ति की रमणीय प्रणाली का ही नाम वस्तुतः कला है। जब उस भावमय सत्ता को ध्वनि-तरंगों द्वारा प्रस्फुटित कर, मनोवेग को वायु की लहरों के साथ विकीर्ण कर देने की इच्छा हुई तभी संगीत-कला का जन्म हुआ। उसी भाव को, उसके अनिर्देश्य आभास, इंगित को, उस असीम को एक निश्चित अर्थ में प्रतिष्ठित कर देने का प्रयास हुआ तब चित्रकला ने जन्म लिया। मिट्टी, पत्थर और धातु के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को छेनी से काट कर जीवधारियों के आकार और उनमें भाव के अंकन की इच्छा के फलस्वरूप मूर्तिकला मुखरित हुई। उस मूक शरीर में भाषा भर कर जीवन-दान देने की इच्छा ही काव्य या साहित्य है। वस्तुत. "समस्त कला, उसके सभी क्षेत्र मानव की सौन्दर्याभिमुखी वृत्ति से प्रेरित हैं। उसकी विश्लेषणात्मक व्याख्या कला के विभिन्न अंगोपांगों के रूप में हम चाहे जिस प्रकार करें, सभी दिशाओं में अभीष्ट होगी सौन्दर्यानुभूति।"[२]

कला और सौन्दर्य-चित्रण के प्रसाधन

कलाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न उपादानों की आवश्यकता होती है। जैसे चित्रकला के लिए तूलिका, रंग, चित्रपट आदि आवश्यक उपकरण हैं, इन्हीं की सहायता से चित्रकार अपनी भावाभिव्यक्ति में समर्थ होता है। शब्द एवं अर्थ के उचित सामंजस्य द्वारा साहित्य का निर्माण होता है। अतः साहित्य के सशक्त उपकरण हैं शब्द। साहित्य रागात्मकता की सृष्टि करता है और यह तभी सम्भव है जब सुन्दर एवं मधुर शब्दों में रमणीय मधुर भावों का संयोजन हो। कोई

१. कल्पता—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४०।

२ दार्शनिक त्रैमासिक—अंक ४, अक्टूबर १९६७, पृ० २२६।

भी साहित्य शब्दों के कुशल प्रयोग द्वारा ही महत्ता की उच्च श्रेणी को प्राप्त करता है।

साहित्यकार अपने भावों के साथ पाठक के भावों का सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। इसीलिए वह अपने अन्तस्तल के आवेगों और मनोदशा को इस प्रकार व्यक्त करता है कि जागरूक एवं प्रबुद्ध पाठक में भी समान मनःस्थिति उत्पन्न हो जाय। अपनी कल्पना, संवेदना और गहन अनुभूति को प्रत्यक्ष करने के लिए वह विशेष भावोत्प्रेरक शब्दों का चयन करता है। जब वह इन रम्य मधुर भावों को मधुर शब्दों द्वारा व्यक्त करता है तो वे अपनी रमणीयता, माधुरी एवं संगीतात्मकता के कारण पाठक को गहन सौन्दर्यानुभूति कराते हैं।

सीधे सरल शब्दों में कही हुई बात अनाकर्षक होती है। उसी को यदि वक्र ढंग से कहा जाय तो विशेष अर्थ की कान्ति से युक्त हो भाषा का आकर्षण बढ़ जायगा। शब्दों के जादू से भाषा में एक-एक ऐसी शक्ति एवं प्राणवत्ता आ जाती है कि जो अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करती है। सहज, स्वाभाविक अर्थ की प्रतीति अभिधा शक्ति द्वारा होती है। ध्वनित अर्थ का ज्ञान व्यंजना शक्ति द्वारा होता है। व्यंजना से साहित्य को मूर्त आधार प्राप्त होता है। इसके प्रयोग से साहित्य में चमत्कार के साथ प्रेषणीयता बढ़ती है। परोक्ष एवं इंगित अर्थ को विज्ञापित कराने वाली शक्ति लक्षणा है। लक्षणा एवं व्यंजना द्वारा ही जटिल एवं गुम्फित भावों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है।

परिस्थिति की गम्भीरता एवं अनुभूति की गहनता के कारण जब सामान्य भाषा में अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती, तब प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार शब्द शक्तियाँ प्रतीकों द्वारा अपना इष्ट सिद्ध करती है। इन प्रतीकों का सम्बन्ध समस्त मानव एवं मानवेतर जगत् की संवेदनाओं से होता है। एक प्रतीक अनेकानेक मानव-जगत् और वस्तु-जगत् के कार्य व्यापारों का संकलन होता है। यह व्यष्टि में सम्पोषण का प्रतीक है। साहित्येतिहास में मन्त्र से लेकर आतमबोध तक की अनेक भावनाएँ इस प्रतीक द्वारा ही उद्‌बुद्ध हुई हैं।

अलंकार साहित्य में सौन्दर्य-चित्रण के प्रमुख उपकरण है। यह अभिव्यंजना में सौष्ठव और सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। अलंकार भाषा को महत्-से-महत् सत्य की अभिव्यंजना कराने की शक्ति प्रदान करते हैं तथा वाणी के

विभूषण अथवा साहित्य की शोभावृद्धि करते हैं। अलंकार मुख्यतः तीन रूपों में प्राप्त होते है—शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार। जब परिस्थिति एवं भाव विशेष के अनुकूल शब्दों का चयन इस प्रकार किया जाता है कि भाव सौन्दर्य के साथ ही शब्द-लालित्य में भी चमत्कार उत्पन्न हो जाय तो शब्दालंकार की योजना होती है। भूषण का शिवराज भूषण शब्द चमत्कार के कारण ही अपूर्व है। शब्दालंकार में अर्थभार रहने के कारण काव्यगत प्रभाव और संगीत की गति बढ़ जाती है। अर्थालंकार का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। साहित्यकार कभी रूप-लिप्सा से आकृष्ट हो सादृश्यमूलकता एवं प्रभावसाम्य के आधार पर अनेक उपमाओं का सृजन करता है तो कभी वस्तु के रूप और गुण के आधार पर दो विरोधी प्रवृत्तियों का सामंजस्य कर चमत्कार एवं कौतूहल उत्पन्न करता है।

विशिष्ट शब्दों द्वारा विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति होती है। व्यवस्थित भावाभिव्यक्ति लय की अपेक्षा रखती है। लय का सम्बन्ध संगीत में राग से होता है। राग में ध्वनियाँ होती हैं, शब्द नहीं। साहित्य ने इसे शब्द प्रदान किया है, जिसे हम छन्द कहते हैं। साहित्यकार की वेगवती सौन्दर्यानुभूति यदि कूल तोड़कर अस्त-व्यस्त रूप में अभिव्यक्त हो तो सौन्दय में सम्पूर्णता नहीं रहती परन्तु जब वह छन्द के कूलों में लय से प्रवाहित होती हुई व्यक्त होती है तो सौन्दर्य में सम्पूर्णता का आभास होता है। छन्द विशेष मनोभावों के उपयुक्त नादव्यंजना एवं लय की व्यवस्था कर रागात्मक वृत्तियों का अनुरंजन करते हैं एवं अपनी लयात्मकता के कारण सदैव के लिए स्मृति-पटल पर अंकित हो जाते हैं।

कलाकार सौन्दर्य-चित्रण के अनेकानेक प्रसाधनों की सहायता से अपनी कलाकृति को मूर्त रूप प्रदान करता है। यह शब्द-मूर्तियाँ साहित्य का सर्वस्व एवं जीवन की सच्ची अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण 'सत्यं', 'शिवं', और 'सुन्दरम्' का स्वरूप होती हैं।

कला का उद्देश्य

कला-सृजन में कोई भी एक उद्देश्य अवश्य निहित रहता है। कलाकारों का दृष्टिकोण विभिन्न युगों में बदलता रहा है। यह लक्ष्य चाहे लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराना रहा हो अथवा सौन्दर्यानुभूति मात्र, शिक्षा प्रदान करना रहा हो अथवा समाज-कल्याण, उसकी सिद्धि स्वान्तःसुखाय हो या पर-जन-

हिताय। प्रत्येक दृष्टि एक लक्ष्य इंगित करती है। कलाकार किसी भी लक्ष्य को लेकर कला-सृजन करे, सामाजिक प्राणी होने के कारण वह जीवन और जगत् से असम्पृक्त नहीं रह सकता। कला और जीवन, सौन्दर्य और कला इस प्रकार परस्पर अनुस्यूत हैं कि इनके विशृंखलित होने से सम्पूर्ण अस्तित्व के नष्ट होने का भय उत्पन्न हो जाता है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में विद्वानों में मतवैभिन्य है। कुछ चिन्तकों का कहना है कि कला का उद्देश्य शिक्षा अथवा उद्देश्य प्रदान करना होता है। कतिपय मनीषियों का विचार है कि सौन्दर्य-रचना का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना होता है। इसके अतिरिक्त कलाविदों का एक वर्ग कला का सृजन कला के लिए मानता है अर्थात् सौन्दर्य का उद्देश्य केवल सौन्दर्य-सृष्टि ही है और कुछ नहीं। नैतिकतादि के प्रश्न को वे कला से दूर रखते हैं। इस दृष्टि से कलाकार की ओर से आँखें हटाकर केवल उसकी कला-वस्तु की परीक्षा की जाती है। इस कला-परीक्षा में व्यापक कलातत्त्व ही सामने आते हैं। आचार, सभ्यता और संसार के प्रश्न कला के लिए तात्त्विक नहीं होते। कवि के लिए अभिव्यक्ति कौशल ही सब कुछ है और कला में सौन्दर्य ही सर्वोपरि वांछनीय है—इस दृष्टिकोण का आरम्भ १९वीं शताब्दी के यूरोपीय काव्य की स्थिति की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था। इससे पूर्व वहाँ कला में नैतिकता का आग्रह था और ऐसा माना जाता था कि यदि कला की विषय-वस्तु गम्भीर एवं नैतिक दृष्टि से उपयोगी हो तो कलात्मक और रूपगत अभाव के होने पर भी वह कला उच्च-कोटि की कही जा सकती है। कलावादियों ने इसके विपरीत अनुभूति एवं भावना पर बल देते हुए सौन्दर्यानुभूति को ही कला का उद्देश्य स्वीकार किया। तात्पर्य यह कि कला से प्राप्त आनन्द अपने आप में पूर्ण होता है।

कलावादियों से भिन्न अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों ने सौन्दर्य को साहित्य अथवा कला का सर्वस्व स्वीकार किया है परन्तु केवल कला को ही साधन-साध्य रूप में नहीं माना। डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा कला का उद्देश्य निर्देश करते हुए कहते हैं कि "कला-सृजन में आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता का मूर्त रूप में अनुभव करती है। कला का उद्देश्य आदर्श और साफल्य प्राकृतिक रूप में आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति है।"[1] महाकवि प्रसाद जी भी साहित्य में

---

१. सौन्दर्य शास्त्र-हरद्वारीलाल शर्मा, पृ० १२६, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३।

सौन्दर्य एवं सत्य का समन्वय स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "काव्य अथवा साहित्य एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है।"[1] प्रसाद जी साहित्य, जीवन और दर्शन तीनों में आनन्दवादी साधक हैं। साहित्य में भी वे आनन्द रस की ही परिव्याप्ति मानते हैं। उन्होंने सर्वत्र समरसता द्वारा आनन्द व आह्लाद की ही सिद्धि की है। किन्तु इस आनन्दानुभूति के साथ साहित्य में लोक-शिक्षण के तत्त्व को भी उन्होंने अनिवार्य माना है। उनके मतानुसार वही कविता श्रेष्ठ है जो आह्लाद के साथ कुछ शिक्षा भी प्रदान करे। मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक ओर साहित्य का उद्देश्य लोक-हित, कांता सम्मित उपदेश एवं ज्ञान प्रदान करना माना है और दूसरी ओर विश्व के सौन्दर्य-साक्षात्कार द्वारा लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति—'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।[2]

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी कला का उद्देश्य आनन्द माना है। डॉ० नगेन्द्र भी साहित्य का उद्देश्य सुन्दर के माध्यम से सत्यम् और शिवम् की स्थिति मानते हैं, जिसकी अन्तिम परिणति आनन्द अथवा सुन्दरम् में ही होती है। आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी इसी मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि "सुन्दर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं —सुन्दर-असुन्दर।"[3] काव्य में समृद्धि रूप में सौन्दर्य की ही अवस्थिति होती है। सौन्दर्य साहित्य में चिरकाल से नित्य रूप में स्थित है। रसवादियों से लेकर वक्रोक्तिकार तक प्रायः सभी ने लक्ष्य रूप में आनन्द को ही स्वीकार किया है। सौन्दर्य रस-रूप में साहित्य में प्रतिष्ठित होता है, जिसका सहृदय आस्वादन करता है। यह आस्वाद आनन्दमय है, अर्थात् रस एक प्रकार की आनन्द चेतना है।

जैनेन्द्र जी भी इसी आनन्दवाद के पोषक हैं। वे कहते हैं—"हमारे यहाँ

---

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३८, भारती भण्डार, चतुर्थ संस्करण।

२. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १७१।

३. चिन्तामणि, भाग २—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४१।

कला एक आनन्दमय साधना मानी गयी है। आनन्दहीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधनाहीन आनन्द निष्फल है।"[१] कला के लिए साधना की जाती है और साधना से आनन्द की प्राप्ति होती है। कलाकार की प्रखर अनुभूति सहृदय के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसके आह्लाद का कारण होती है। इस प्रकार कला-सृजन एवं उपभोग दोनों में ही आनन्द का समावेश होता है। कलाकार अपने अन्तर के आनन्द को कला के रूप में अभिव्यक्त करता है और सहृदय कला के माध्यम से आनन्द का आस्वादन करता है।

इस सम्बन्ध में अज्ञेय का चिन्तन सर्वथा भिन्न है। उनकी दृष्टि में रूप, गुण, सामाजिक-असामाजिक आदि की समस्याएँ गौण हैं। अपना मत उन्होंने आधुनिक युग के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आधुनिक युग का व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुञ्ज है। इस कुण्ठित वासना के कारण उसकी सौन्दर्य चेतना भी आक्रान्त है। इन्हीं वर्जनाओं से घिरा कवि भी अपनी कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं की काल्पनिक पूर्ति के लिए नित्य नवीन प्रतीक खोजता है। अतः पूर्ण रूप से वैयक्तिक होने के कारण उसका आनन्द या तो स्वयं कवि ही प्राप्त कर सकता है अथवा उसके निकटवर्ती। साधारण जन के लिए यह आनन्द दुर्लभ सिद्ध होता है। इसीलिए आधुनिक चित्र कला अथवा नयी कविता कुछ रंग के धब्बों, लकीरों एवं अनमेल प्रतीकों के कारण अपने भाव-बोध द्वारा निश्चित आनन्द का उद्रेक करने में असमर्थ होती है। अतएव ऐसी स्थिति में कला का लक्ष्य कलाकार के अहम् की परितुष्टि अथवा आत्म-संस्कार हुआ, समाज-कल्याण और शिक्षादि का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

भारतीय मनीषियों के साथ ही पाश्चात्य चिन्तकों ने भी कला एवं साहित्य का उद्देश्य लोकरंजन व आनन्दानुभूति के साथ शिक्षा को भी स्वीकार किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्रांतदर्शी आचार्य अरस्तू ने सौन्दर्य द्वारा आह्लाद और ज्ञानार्जन प्राप्ति माना है। साथ ही, उन्होने ज्ञानार्जन का भी उद्देश्य आनन्द ही माना है। इस प्रकार आनन्द की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार की है। वर्ड्सवर्थ, शेली, कालरिज, विक्टर ह्यूगो, शिलर आदि ने भी सौन्दर्य को आह्लाद-स्वरूप माना है। इनके अतिरिक्त लोक-कल्याण को साध्य मानने वाले तथा नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास रखने वाले रस्किन, होरेस, मैथ्यू आरनाल्ड आदि ने भी इसका निषेध नहीं किया है।

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय—श्री जैनेन्द्र, पृ० ६६।

निष्कर्षतः कला का लक्ष्य युगानुकूल विभिन्न दृष्टिकोणों से मूल्यांकित होता रहा है, इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसका चरम लक्ष्य निर्धारित कर इसे सीमित नहीं किया जा सकता। इतना हम कह सकते हैं कि कला का सर्वोपरि धर्म सौन्दर्य है। सौन्दर्य के साथ ही यदि सत्य और शिव रूप भी इसमें अन्तर्निहित हों तो वह कला सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती है।

शिल्प

काव्य-विवेचन के अन्तर्गत 'शिल्प' शब्द से तात्पर्य काव्य-शिल्प से होता है। अंग्रेजी का 'टेकनीक' (Technique) शब्द शिल्प के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु विज्ञान-क्षेत्र में शिल्प का जो तात्पर्य है वही काव्य-क्षेत्र में नहीं है। काव्य-शिल्प अत्यन्त व्यापक अर्थ में गृहीत होता है। विज्ञान में शिल्प या टेकनीक का अर्थ किन्हीं विशिष्ट तथ्यगत उपलब्धि से होता है। काव्य में शिल्प विशिष्ट तथ्यों पर आधारित न होकर शिल्पी की मौलिकता और उसकी कल्पना पर आधारित होता है। शिल्प-सम्बन्धी पूर्व नियमों से अवगत होते हुए भी कवि सदैव उन्हीं का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। कल्पना की उर्वरा शक्ति के द्वारा वह अपनी प्रत्येक कृति में नवीन प्रयोग भी कर सकता है जबकि वैज्ञानिक पूर्वनिश्चित नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र में शिल्प और कला के क्षेत्र में शिल्प का यही मुख्य अन्तर है। वस्तुतः "काव्य के रूप तथा वस्तु दोनों तत्त्वों में निहित होने के कारण 'शिल्प' शब्द को अधिक व्यापक अर्थों में ग्रहण किया जाता है। काव्य-कृति के निर्माण में जिन उपादानों द्वारा काव्य का ढाँचा तैयार किया जाता है वे सब काव्य के शिल्प तत्त्व कहे जाते हैं।"[१] इन उपादानों के अन्तर्गत मुख्य रूप से काव्य-कला, काव्य-शैली, काव्य-विधि, काव्य-रीति, काव्य-विधान आदि सभी समाहित हो जाते हैं। अलंकार, छन्द, रस, भाषा, बिम्ब, कल्पना, विषय, अप्रस्तुत विधान आदि इन्हीं उपादानों के अंग हैं जिनका प्रयोग कवि अपनी अमूर्त्त भावनाओं के मूर्त्त-विधान तथा अभिव्यंजना के सौन्दर्य एवं शक्ति संवर्द्धन के लिए करता है। अर्थात् "काव्य के शिल्प से साधारणतया जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह काव्य की सम्पूर्ण विधाओं के भीतर अभिव्यंजना का ढंग विशेष तथा वह अनुक्रम है, जो रचना के प्रारम्भ से रचना के अन्त तक कुछ विशिष्ट तत्त्वों के माध्यम से शिल्पमूर्त किया गया है।"[२]

१. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प—कैलाश वाजपेयी, पृ० १६, प्रथम संस्करण, १९६३, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

२. वही - पृ० १६।

वैसे तो-कलाकार अपने कला-सम्बन्धी विषयों के प्रति स्वतंत्र होता है। अपनी आन्तरिक अनुभूति को साकार रूप प्रदान करने के लिए वह जिन उपादानों का सहारा लेता है उन्हें वह इच्छानुसार व्यवस्थित भी कर सकता है परन्तु कभी-कभी एक ही विषय को कई विधानों द्वारा प्रस्तुत करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि रूप-तत्त्व और वस्तु-तत्त्व परस्पर अन्तरावलम्बित है। ऐसी स्थिति में एक विशिष्ट विषय के लिए एक विशिष्ट रूप का चयन ही उपयुक्त होता है।

जब कलाकार अपने कला-सम्बन्धी ज्ञान की सहायता से कलाकृति का निर्माण करता है तो उसकी रचना उसके रचना-शिल्प सहित हमारे सामने प्रस्तुत होती है। काव्य-विधान के संदर्भ में इसका अर्थ हुआ कविता करने की विधि से लेकर उसके गुण-दोष का विधिवत् ज्ञान और इस ज्ञान का साक्षात् मूर्तिकरण अथवा प्रकाशन काव्य-शिल्प है। दूसरे शब्दों में, विधान को मूर्त करने का यह प्रयास ही शिल्प है। इस शिल्प का आकलन रचना में विद्यमान सौन्दर्य के आधार पर किया जा सकता है, क्योंकि शिल्प-विधि 'रचना कैसी' है के बजाय 'रचना ऐसी' का उत्तर देती है। कारण शिल्प के द्वारा ही कवि अपनी कविता को दोषमुक्त रख सकता है। श्रेष्ठ शिल्पकार की कृति में सौन्दर्यापकर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। सौन्दर्य में कभी शिल्प में कभी का द्योतक है। इस प्रकार शिल्प कविता को दोषमुक्त कर उसकी सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होता है।

शिल्प केवल शिल्पकार के लिए ही आवश्यक है अथवा इससे केवल उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता का बोध होता है—ऐसा नहीं है, पाठक और श्रोता भी इससे लाभान्वित होते हैं। काव्य संगीतपूर्ण शब्दों का चमत्कार है। काव्य-विधान से अपरिचित व्यक्ति काव्य-शिल्प का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ होगा। काव्य-पाठ उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा उसे चाहे पद्य में सुनायी जाय या गद्य में उसके लिए समान है। किस शब्द को कहाँ रखने पर सौन्दर्य वृद्धि होगी—यह कवि के उत्कृष्ट शिल्प का परिचायक होगा और उन विशेष शब्दों से काव्य में क्या लालित्य आ गया यह जानने वाला सहृदय उसका रसास्वादन करेगा। इसलिए काव्य-शिल्प का ज्ञान कवि के साथ ही पाठक के लिए भी आवश्यक है। पाठक को इससे दृष्टिसूक्ष्मता और कवि को कुशलता प्राप्त होती है।

काव्य में शिल्प की महत्ता काव्येतिहास से स्पष्ट है । संस्कृत साहित्य में काव्य का विश्लेषण शिल्प-विधि की प्रक्रिया के लगभग सभी अंगों के आधार पर काफी पहले किया जा चुका है । कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त, आचार्य वामन का रीति-सिद्धान्त, मम्मट का अलंकारवाद प्रकारान्तर से काव्य के शिल्पतत्त्व पर ही प्रकाश डालते हैं ।

कला आकाश की भाँति असीम है और शिल्प घटाकाश की भाँति ससीम । काव्य, संगीत, चित्र आदि को हम कला प्रकाशन के साधन कह सकते हैं कला नहीं, क्योंकि कला पूर्णत्व का प्रतीक है । कला-विधान के अन्तर्गत वे प्रारम्भिक नियम हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपनी कला का प्रकाशन करने में समर्थ होता है । कला-शिल्प पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास है । अर्थात् विधान की प्रक्रिया शिल्प का प्रस्तुतीकरण करती है । किसी कवि की रचना पूर्णत्व प्रकाशन का प्रयास होता है; यही उसका काव्य-शिल्प है और जिस ढंग से वह अपने प्रयास में प्रवृत्त होता है वह उसकी काव्य-शैली है । शिल्प और शैली में यही सूक्ष्म अन्तर है । शैली शिल्प का एक विधान है । शैली में आयाम विशेष का भाव होता है जबकि शिल्प में सम्पूर्णता का ।

शैली

शैली शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है । लेखन-शैली, भाषण शैली, रहन-सहन की शैली आदि अनेक प्रयोग हैं । अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द लैटिन के 'स्टिलस' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है । इसका अर्थ था धातु या हड्डी की बनी हुई कोई वस्तु जिससे लिखा जाता हो, अर्थात् कलम । हमारे यहाँ भी चित्रकला में कलम का प्रयोग शैली अर्थ में होता है, जैसे काँगड़ा कलम, राजस्थानी कलम । 'स्टिलस' शब्द का मूल अर्थ था लिखने का प्रकार और अधिक विकसित अर्थ था अभिव्यक्ति करने का प्रकार । ''' '''अंग्रेजी में यह शब्द इतने व्यापक अर्थ वाला है कि पूजा करने से लेकर चोरी करने तक के समस्त ढंग इस 'स्टाइल' शब्द में विराजमान हैं ।[1] सम्प्रति यह शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसे स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि शैली शिल्प-विधि के उन उपकरणों में से एक है जो कलाकार की कल्पना में आये दृश्यजगत् का प्रतिनिधित्व कलाकृतियों के रूप में करती है ।

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य शिल्प (१९००-१९४० ई०)—डॉ० मोहन अवस्थी, पृ० ८, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

शैली भाषा का वह गुण है जो भावना और विचारों को साकार करती है। वह एक प्रकार से वाक्यों का समन्वित रूप है। उसमें शब्दों और उनके प्रयोग का महत्त्व होता है। शब्दों का महत्त्व उसकी शक्ति, गुण और वृत्ति से सम्बन्धित है। जब भावना और विचार स्वस्थ रूप से एक दूसरे में संगुम्फित होते हैं तभी शैली का सुगठित और पूर्णतम रूप प्रस्तुत होता है। गम्भीरता और संक्षिप्ता शैली का गुण है। काव्य के प्रत्येक खण्ड (प्रबन्ध को छोड़कर) संक्षिप्ता काव्य की उत्कृष्टता का चिह्न मानी गयी है। विचार और भावनाओं की असम्बद्धता शैली की क्षीणता प्रकट करती है।

शैली को व्यक्तित्व प्रधान माना गया है। वस्तुतः शैली व्यक्ति की सभी विशेषताओं का संगठन है। शायद इसी भाव को लेकर 'स्टाइल इज द मैन इट-सेल्फ' कहा गया है। वास्तव में सफल शैलीकार का यह सबसे बड़ा गुण है कि उसकी शैली द्वारा मानवीय सम्बन्धों का अधिक-से अधिक उद्घाटन हो सके। रचना किस ढंग से की गयी है, केवल तथ्य शैली के अन्तर्गत नहीं आता वरन् उसके भीतर विचार-विवेचन, मनोवेग, संवेदन, मन की विशेषोन्मुखता सभी समाहित है। विचार और भाव के अनुसार शैली के तीन प्रकार माने जा सकते हैं—भावात्मक, प्रज्ञात्मक और कल्पनात्मक। काव्य में व्यञ्जना का महत्त्व अधिक होता है क्योंकि उसी के सहारे उत्तम काव्य-ध्वनि की सृष्टि होती है। शैली की शिल्पिक विशेषताओं के उल्लेख में केवल उसके बाह्य प्रत्यक्ष तत्त्वों को ही महत्त्व दिया जाता है, शैली के भाव अथवा विचार तत्त्व को नहीं। परन्तु अपने इस प्रबन्ध में (विषयानुसार) हम शिल्प पक्ष के साथ भाव और विचार पक्ष का भी विवेचन समानान्तर रूप से करेंगे। यहाँ 'शिल्प' के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत उसके कुछ मुख्य उपादानों का संक्षिप्त उल्लेख कर देना विषय को ग्रहण करने में सहायक होगा।

अलंकार

सौन्दर्यप्रियता मानव स्वभाव है। अलंकार का उपयोग सौन्दर्य-वृद्धि के लिए ही होता है। रसानुभूति वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति का दूसरा नाम है। अलंकार सौन्दर्य-छटा को दीर्घजीवी बनाते हैं। यह सौन्दर्य चाहे भावों का हो अथवा अभिव्यक्ति का। अलंकार जहाँ एक ओर भावों को सजाने, रमणीयता प्रदान करने में योग देते हैं, वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति को प्रांजल बना कर प्रभावशाली भी बनाते हैं। सहज रूप से आने वाले अलंकारों से सौन्दर्य शनैः-शनैः

प्रस्फुटित हो, समस्त व्याप्त हो पाठक को आच्छन्न कर लेता है। अपनी इसी महत्ता के कारण अलंकार काव्य में सदैव समादृत होते रहे हैं और आचार्यों ने काव्य में ध्वनि, रस, गुण आदि के साथ अलंकार की महत्ता भी प्रतिपादित की है, क्योंकि अलंकारयुक्त काव्य, काव्य-मर्मज्ञों को अत्यन्त आह्लाद प्रदान करता है। अलंकार के जन्म के सम्बन्ध में डॉ० मोहन अवस्थी का मत है कि "लक्षणकारों ने कवियों के काव्यों का अध्ययन करके ही चमत्कारक अंशों को अलंकार की संज्ञा दी होगी अर्थात् उन काव्यों में जो अलंकार मिले वे सहज रूप से आ गये होंगे। जब किसी भाव के वशीभूत होकर कवि ने अभिव्यक्ति के लिए वाणी की एक विशिष्ट शैली अपनाई होगी, तब अलंकार का जन्म हुआ होगा। बाद में विचारों के आधार पर अलंकार की महत्ता दिखाने के लिए अन्य अलंकारों की रचना हुई। इस प्रकार अलंकार काव्य के स्वाभाविक अंग हैं।"[1]

साहित्य में अलंकार शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—व्यापकार्थ और संकीर्णार्थ। जब सौन्दर्य, वर्णन में होता है तब अलंकार व्यापकार्थक होता है और जब चमत्कार केवल शब्दार्थ में हो तब अलंकार संकीर्णार्थक होता है। इसी आधार पर अलंकारों की अर्थालंकार और शब्दालंकार दो श्रेणियाँ की गयी हैं। मुख्य रूप से अलंकारों का कार्य भावों का उत्कर्ष दिखाना और वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव को तीव्र करना है। हमारे विवेच्य कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में काव्य के शिल्प पक्ष के लिए अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए अत्यन्त आलंकारिक रूप से अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"अलंकार केवल वाणी की सजावट नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गयी हों। विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियाँ तरुण तरंगों में फूट गयी हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट

१. आधुनिक हिन्दी काव्य शिल्प (१६००-१६४०)—डॉ० मोहन अवस्थी, पृ० ३०-३१।

करने के लिए बुनी जाती है वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता से बँध कर सेनापति की दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है।"[१]

छन्द

छन्द रागात्मक अनुभूति का सहज एवं उपयुक्त वाहक है। कविता और छन्द का अन्तरंग सम्बन्ध है अतः छन्द काव्य-शिल्प के प्रमुख उपकरणों में से एक है। काव्य के इस छन्दोबद्ध रूप का स्थायी तत्व संगीतात्मक लय है। यही शब्दबद्ध होकर छन्द-रूप में परिणत होती है। अनुभूत भाव को उत्तेजित करना छन्द का मुख्य कार्य है। साहित्यकार की सौन्दर्यानुभूति यदि अस्त-व्यस्त ढंग से अभिव्यक्त होती है तो उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। जब वह छन्द में बँध कर लय से प्रभावित होती प्रकट होती है तो उसका मूल्य बढ़ जाता है। पंत जी ने छन्द का स्वरूप-विवेचन विशेष मनोयोग और गंभीरतापूर्वक किया है। उनके अनुसार कविता तथा छन्द के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं—छन्दबद्ध चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौह-चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युत् धारा बहने लगती है। उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[२] इस प्रकार छन्द उपयुक्त नाद एवं लय की व्यवस्था कर रागात्मक वृत्ति का अनुरंजन करते हैं।

अधिकांश कवि छन्द के बन्धन को अनिवार्य मानते हैं। "छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (कम्यूनिकेबिलिटी आफ साउण्ड इम्पल्स) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी देता है। हाँ, नये-नये छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।"[३] किन्तु पिछले कुछ दशकों में

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३२, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, छठा संस्करण।

२. वही, पृ० ३२।

३. चिन्तामणि, भाग २ (काव्य में रहस्यवाद)—आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४५।

छन्द-सम्बन्धी मान्यता में परिवर्तन आया है। यहाँ हमारे विवेच्य विषय शिल्प के अन्तर्गत छन्द का सम्बन्ध उसकी उपादेयता से है, उसकी सारहीनता अथवा अनिवार्यता से नहीं, इसलिए इससे सम्बन्धित विवेचन भी आवश्यक नहीं। भाव-निर्वाह में छन्द-बन्धन के कारण कभी-कभी शब्द-चयन में कठिनाई अवश्य होती है परन्तु इनके अभाव में भाषा में सौन्दर्य, विषय में प्रभावोत्पादकता और संगीत पक्ष लगभग शून्य हो जाते हैं। वर्ण-विन्यास का सौन्दर्य भी कविता का गुण है जो छन्द के बिना उत्पन्न ही नहीं होता।

भाषा

भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रमुख एवं एकमात्र माध्यम होने के कारण काव्य-शिल्प का भी महत्त्वपूर्ण अंग है। साहित्यिक भाषा होने के अन्तर्गत शब्द-समूह महत्त्वपूर्ण है तथा शब्द-समूह की रूप-रचना पर काव्य-भाषा का स्वरूप निर्भर है। वैसे तो सभी शब्दों की अपनी महत्ता है परन्तु उनके विशिष्ट एवं उचित संयोग से ही रस निष्पत्ति सम्भव है। अतः काव्य-भाषा शब्द-शय्या निर्माण में विशिष्ट योजना की माँग करती है। केवल भावाभिव्यक्ति ही कविता का उद्देश्य नहीं, क्योंकि भाव तो गद्य में भी व्यक्त किये जा सकते हैं। गद्य से पद्य की यह विशिष्टता श्रृंगार की अपेक्षा रखती है जो इसे भाषा के सौष्ठव एवं श्री-समृद्धि के साधक तत्त्व—ध्वनि, चित्र, अनुप्रास आदि शब्दालंकार और गुण-रीति वृत्ति के आश्रित विविध शब्द एवं वर्ण-संयोजनाएँ तथा उसमें अर्थ-गौरव की सृष्टि लक्षण-व्यंजना, सांकेतिकता, प्रतीक योजना तथा चित्रात्मकता आदि से प्राप्त होती है, इसी के द्वारा कवि का कौशल प्रकट होता है। "वर्णों की चारुता को लेकर शब्दों के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य का आकलन करते हुए कवि अपनी भाषा प्रतिभा का निर्माण करता है जिसमें अभिव्यंजना का सम्पूर्ण सौन्दर्य परिस्फुट होता है।"[१]

कल्पना

काव्य में कल्पना का महत्त्व निस्संदेह अधिक है, क्योंकि काव्य की सृष्टि ही कल्पना द्वारा होती है। कल्पना काव्य की मूल विधायिनी शक्ति है। काव्य में कल्पना ही एक ऐसे रसमय लोक की सृष्टि करती है जिसमें डूबकर पाठक आनन्दविभोर हो जाता है। कवि के मन में जब कोई भाव उत्पन्न होता है

१. कवि निराला—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १०२।

तो उससे सम्बन्धित दूसरे भाव भी मानस-पटल पर घूमने लगते हैं। साधारणतया यह भाव देखी हुई वस्तु के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं परन्तु काव्य में यह अद्‌भुत भी हो सकते हैं जिन्हें कवि अपने रचना-शिल्प द्वारा प्रत्यक्ष कर देता है। यह उसकी उदात्त कल्पना शक्ति द्वारा ही संभव होता है। काव्य के कला-पक्ष के अन्तर्गत इस कल्पित रूप-विधान को अप्रस्तुत विधान कहते हैं। अप्रस्तुत योजना का प्रयोजन, प्रस्तुत की श्री-वृद्धि, अमूर्त का मूर्तिकरण तथा अभिव्यंजना में शक्ति, सौन्दर्य एवं रमणीयता का संवर्द्धन है।

बिम्ब

बिम्ब का आविर्भाव कल्पना से होता है और बिम्बों से प्रतीक का। बिम्ब-विधान कला का क्रिया-पक्ष है। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है तब बिम्ब उत्थित होते हैं और जब पुनः-पुनः प्रयोग के कारण किसी बिम्ब का निश्चित अर्थ-निर्धारण हो जाता है, तब प्रतीक का निर्माण होता है। अतः तात्त्विक दृष्टि से बिम्ब कल्पना और प्रतीक का मध्यस्थ है।

"बिम्ब विधान बहुत अंशों में कलाकार की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति की सफलता को प्रमाणित करता है और कलाकार की सौन्दर्य चेतना को भी द्योतित करता है। वस्तुतः बिम्ब-विधान कला का वह मूर्त्त पक्ष है, जिससे कलाकार का भावानयन (एवट्रेक्शन) से श्लिष्ट सौन्दर्यानुभूति को वस्तु सत्य का संस्पर्श या तद्‌गत सम्पृक्त आधार के साथ सादृश्याभास (सेम्ब्लेन्स) मिल जाता है।"[१] शायद इसीलिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों तथा काव्याचार्यों ने बिम्ब-विधान को कवि की अभिव्यंजना का अनिवार्य एवं निर्विकल्पिक प्रसाधन माना है।

बिम्ब वस्तु-जगत् के संसर्ग से मन में उत्पन्न अरूप भाव-संवेदनों को रूप प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त संश्लिष्ट एवं समृद्ध बिम्ब अभिव्यंजना को रूप, सज्जा और अलंकरण भी प्रदान करते हैं। काव्य में बिम्ब की यही उपयोगिता है। कला का रसिक किसी पठित कविता को भूल जाता है परन्तु उसके कुछ चित्र स्मृति पर अंकित हो जाते हैं, क्योंकि बिम्ब विस्मृत कलाकृति का शेषांश अथवा स्मृतंश होता है। मूर्तिमान होने के कारण वह स्मृति में सुरक्षित रह जाता है जबकि कलाकृति के भाव, शैली या शिल्प-पद्धति अमूर्त और भावात्मक होने के कारण विस्तृत हो जाते हैं।

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० २०१।

साधारण अर्थ में काव्यगत बिम्ब शब्दों द्वारा निर्मित चित्र हैं। शब्दों द्वारा चित्र खड़ा करना बिम्ब की मूलभूत विशेषता है। बिम्ब यथातथ्य और सर्वाङ्गीण होते हैं तथा एक अविच्छिन्न वस्तु-व्यापार का प्रतिपादन करते हैं। बिम्ब अनेकार्थ व्यंजक होते हैं तथा काव्य के जीवन्त तत्त्व माने जाते हैं। अतः उत्कृष्ट कलाकृति योजित बिम्बों के द्वारा अपने क्षेत्र में आयी हुई वस्तुओं को, गेटे के कथनानुसार 'कंक्रीट युनिवर्सल' बना देती है।[1]

प्रतीक

"कवि प्रतीकों के द्वारा भावनाओं की सशक्त व्यंजना करने में सफल होता है। जब शब्द कवि के भावों को वहन करने में असमर्थ हो जाते हैं, उस समय रचनाकार प्रतीकों के माध्यम से ऐसे चित्र निर्मित करता है, जो उसकी भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क किसी अनुभव का भावन करता है।[2]"

प्रतीक कम-से-कम शब्दों द्वारा अधिक अर्थ व्यंजित कर शिल्प को प्रभावोत्पादकता प्रदान करते हैं। प्रतीक शब्द अत्यन्त व्यापक है जो सदैव किसी-न-किसी सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। सामाजिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से प्रतीक का महत्त्व है। सामाजिक दृष्टि से ये हमारी भाव-परम्परा के स्मृति-चिह्न हैं, जिन्हें हम समय के साथ-साथ नये अर्थों से संयुक्त करते रहते हैं। साहित्यिक प्रतीक कुछ ऐसे प्रभाव से समन्वित होते हैं जो मन की गहराइयों से उद्भूत होते हैं। चूँकि प्रतीक मानव मन की पूरी प्रक्रिया का द्योतन करता है इसीलिए उसका प्रभाव पड़ता है। साहित्य में अनेक प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त होते हैं—इनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वैयक्तिक एवं स्वप्न प्रतीक से लेकर शुद्ध बौद्धिक प्रतीक सभी इस क्षेत्र में सम्मिलित हैं। प्रतीकों का उद्गम-स्थल कवि की चेतना, संस्कार और अवचेतन है। प्रतीक द्वारा अदृश्य सत्यों, इन्द्रिय ग्राह्य रूपों में सांकेतिक अभिव्यक्ति कर कवि अपने अभिव्यंजना पक्ष को सबल, सफल एवं प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न करता है। शिल्प के अन्तर्गत प्रतीक का यही महत्त्व है।

सौन्दर्य

स्वरूप

सौन्दर्य को परिभाषित करते समय साधारणतया यही कहा जा सकता है

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० २०४।

२. निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व—धनंजय वर्मा, पृ० २०४।

कि यह एक गुण विशेष है जो मन को आकर्षित करता है। यह सौन्दर्य जीवन, साहित्य, मनोजगत् एवं वस्तुजगत् सब कहीं परिव्याप्त है। जहाँ कहीं मनोमुग्धकारी आकर्षण है वहीं सौन्दर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य एक विशिष्ट बोध है, जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामंजस्य रहता है। इसका कोई निश्चित लक्षण देना कठिन है।

सौन्दर्य एक विलक्षण वस्तु है—शायद इसीलिए विचारकों ने इसका शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। हिन्दी में सौन्दर्य-शास्त्र शब्द अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' का पर्याय बन कर प्रचलित हुआ है। पश्चिम में 'एस्थेटिक्स' का अर्थ विकास सर्वप्रथम बाउमगार्तेन ने ललित कलाओं के दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त कर किया, तत्पश्चात् हीगेल ने भी इसे इसी अर्थ में लिया। बहुत बाद में इसका सामान्य प्रयोग सौन्दर्य के विश्लेषणात्मक निरूपण के अर्थ में हुआ जिसमें काव्य-सौन्दर्य तथा प्रकृति-सौन्दर्य है।

सौन्दर्य का आनन्द भी विलक्षण कोटि का है। वह न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न ही प्रत्यक्ष अनुमित हो सकता है। वस्तुतः इसकी अनुभूति जितनी सहज है, इसकी सर्वमान्य एवं निश्चित परिभाषा देना उतना ही कठिन है। इसीलिए सौन्दर्य विचारकों के हाथों में दो अतिबिन्दुओं के बीच दोलक की भाँति झूलता रहा है। फलतः इसकी अनेक परिभाषाएँ हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों ने इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है परन्तु उन सभी की परिभाषाएँ एकांगी रह गयी हैं। फिर भी सौन्दर्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उनका संक्षिप्त परिचय द्रष्टव्य है।

कलाकार की अनुभूतियों में सुरक्षित अमूर्त कला जब प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से मूर्त बनने लगती है, तब सांसारिक उपादानों की आवश्यकता होती है। अतः उपयोगी कलाओं में आवश्यक उपादानों के प्रस्तुत रहने पर उन्हें समंजस संगठन, आकारिक अनुपात और नयनाभिरामता प्रदान करने के लिए कलाकार को अपनी शिल्प-रुचि तथा सौन्दर्य-बोध का प्रयोग करना पड़ता है।[१] कला में सौन्दर्य की अनिवार्यता तो निश्चित है। भारतीय साहित्याचार्यों का इस सम्बन्ध में क्या मत है, पहले हम यह देखेंगे।

प्राचीन भारतीय साहित्य में अलंकारशास्त्रियों ने चारुत्व शब्द से सौन्दर्य की व्याख्या की है। उनके अनुसार अलंकार ही सौन्दर्य का हेतु है। आचार्य

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० ६६।

कुन्तक ने सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए सौन्दर्य एवं लावण्य शब्दों का प्रयोग किया है तथा सौन्दर्य को आन्तरिक धर्म का सूचक माना है और लावण्य को बाह्य सौन्दर्य का। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कह कर रमणीयता द्वारा सौन्दर्य को परिभाषित किया है। उनके अनुसार रमणीयता में आनन्द तत्त्व समाहित रहता है और यह आनन्द ही सौन्दर्य है। कवि कालिदास का मत भी लगभग यही है—'सर्वावस्थासु रमणीयत्वम् आकृतिविशेषाणाम्।'[१] कालिदास के समान भारवि भी 'न रम्यना-हार्यमपेक्षते गुणम्'[२] कह कर सौन्दर्य को सहज स्वाभाविक मानते हैं। माघ क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले रूप द्वारा उत्पन्न रमणीयता एवं वैचित्र्य में सौन्दर्य की अवस्थिति मानते हैं—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।[३]

इन संस्कृत मनीषियों के अतिरिक्त कतिपय हिन्दी के विद्वानों के भी सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार उल्लेखनीय हैं :

आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सौन्दर्य सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि "सौन्दर्य कोई बाहर की वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान से या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।"[४]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—अंक ६, कालिदास—रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६७।
२. किरातार्जुनीयम्—भारवि—चतुर्थ सर्ग, पृ० ८८।
३. शिशुपालवधम्—माघ, ४।१७, पृ० ६०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
४. चिन्तामणि भाग १—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६४-१६५।

डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"अपनी अनुभूति, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को सौन्दर्य और वस्तु को सुन्दर कहते हैं। ···· ··· ···· सौन्दर्य जिस वृत्ति का नाम है उससे जीवन का विकास, प्राणों में स्फूर्ति, हृदय में उदात्त वेदना का संचार तथा कल्पना के लिए नवीन आलोक का सृजन और शान्ति का संचार होता है। इस विशेषता के कारण ही यह जीवन का परम आधार है।"[1] इस प्रकार ये वस्तु के गुण और मानस चेतना-दोनों को ही सौन्दर्य निर्धारण का उपकरण स्वीकार करते हुए उसे 'जीवन का परम आधार' भी मानते हैं।

प्रमुख छायावादी कवि प्रसाद ने दार्शनिक दृष्टि से सौन्दर्य का अवलोकन किया है। वह सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हैं—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।[2]

सौन्दर्यवादी कवि पंत का सौन्दर्य के प्रति व्यापक दृष्टिकोण है—

वही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप लोक सेवा में शिव अविकार,
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार सत्य ही प्रेमोद्गार,
दिव्य सौन्दर्य स्नेह-साकार भावनामय संसार।[3]

सौन्दर्य-सम्बन्धी भारतीय विचारधारा के पश्चात् पाश्चात्य विचारधारा का परिचय भी आवश्यक है, क्योंकि वहाँ सौन्दर्यशास्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय रहा है और इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी हुआ है। विचारकों ने भिन्न दृष्टिकोणों से इस पर विचार प्रस्तुत किये हैं जिसके फलस्वरूप उनके अनेक वर्ग निर्मित हो गये हैं। कुछ विद्वान् सौन्दर्य को वस्तु के बाह्य आकार-प्रकार में निहित मानते हैं, कुछ आन्तरिक स्वरूप को महत्त्व देते हैं और कुछ उसे आध्यात्मिकता के स्तर पर मूल्यांकित करते हैं। वस्तुनिष्ठ विचारकों में रूस के चेनीशेव्सकी 'ब्यूटी इज लाइफ' कह कर सौन्दर्य को परिभाषित करते हैं, इसके विपरीत आत्मनिष्ठ चिन्तकों में इंग्लैण्ड के शैफ्टसबरी के अनुसार 'ब्यूटी एण्ड

१. सौन्दर्यशास्त्र—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, पृ० १०।
२. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, लज्जा सर्ग, पृ० ११०।
३. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८७।

गाड आर वन एण्ड द सेम'। इस प्रकार यह दो अतिवादी दृष्टिकोण है। इनके अतिरिक्त पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के आधुनिक स्वरूप को हीगेल तथा क्रोचे की धारणाओं ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। कतिपय धारणाएँ देशाधार रूप से अवलोकनीय हैं—

जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक बाउमगार्तेन ने प्रकृति को सौन्दर्य के चरम प्रतिमान के रूप में माना है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौन्दर्य है।[१]

शापेनहावर के अनुसार "इच्छाओं अथवा प्लैटोनिक आइडियाज का सम्मूर्तन ही सौन्दर्य है।"[२]

हीगेल का मत है कि 'आइडियल' की अभिव्यक्ति का प्रयास सौन्दर्य-सृजन है और इसका माध्यम अथवा अनुकरण ही सुन्दर है।[३]

रूस के चेर्नीशेव्सकी सौन्दर्य को ही जीवन मानते हैं। बेलिन्सकी की धारणा है कि सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो हमें आनन्द ही नहीं देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।[४]

यूनान के विद्वानों में सुकरात सुन्दर को जीवन सापेक्ष मानते हैं, क्योंकि सुन्दर और शिव एक हैं। इन्हीं की भाँति प्लेटो ने भी सौन्दर्य को शिवतत्त्व से निष्पन्न मंगल विधायक माना है। 'सुन्दर' 'परम' है और पूर्ण है तथा सुन्दर के लिए नैतिक होना आवश्यक है।[५] अरस्तू सौन्दर्य को वासना, उपयोगिता और आकांक्षा से ऊपर की वस्तु मानते हैं। उनके अनुसार सुन्दर वस्तु में सममात्रिता (सिमेट्री), निश्चितता (डिफिनिटनेस) और क्रम (आर्डर) की आवश्यकता होती है।

इंग्लैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इन चिन्तकों के दो वर्ग हैं। प्रथम प्रकार के चिन्तक 'आइडियलिस्ट' हैं—जो सौन्दर्य को वस्तु का अखण्ड गुण मानते हैं और उसे विश्लेषण से परे बताते हैं। द्वितीय प्रकार के चिन्तक 'फार्मेलिस्ट' हैं जिनके अनुसार सौन्दर्य का विश्लेषण सम्भव है क्योंकि इसका सम्बन्ध सुन्दर वस्तु के आकृति विधान से

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० ७१।
२. वही—पृ० ७१।
३. वही—पृ० ७१।
४. वही—पृ० ७३।
५. वही—पृ० ७१।

है। 'आइडियलिस्ट' विचारकों में शैफ्टसबरी और रस्किन प्रमुख हैं। शैफ्टसबरी ने सौन्दर्य और परम विभु को एक माना है तथा रस्किन सौन्दर्य को ईश्वर की विभूति मानते हुए उसमें नैतिकता को महत्त्व देते हैं। 'फार्मेलिस्ट' विचारकों में एडिसन और बर्क उल्लेखनीय हैं। एडिसन की धारणा है कि सौन्दर्य परिवेश और संगति का फल है। बर्क के अनुसार वस्तु विशेष की वर्णगत चारुता, आंगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है।

इस प्रकार पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने अपने विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर सौन्दर्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है परन्तु अपनी विलक्षणता के कारण सौन्दर्य की कोई भी परिभाषा अथवा धारणा पूर्ण नहीं है। पूर्णता की दृष्टि से उनमें अभाव परिलक्षित होता है।

सौन्दर्य का सैद्धान्तिक पक्ष जितना जटिल है व्यावहारिक पक्ष उतना ही सहज और सरल है। किसी वस्तु के प्रति सहज आकर्षण, फिर उसमें तन्मयता का आरोप मानव अपने दैनिक जीवन में ही करता चला आ रहा है। यही तन्मयता जब व्यापक होकर उदात्त हो उठती है तब सौन्दर्य पूर्णतया भास्वर हो उठता है। फलतः निष्काम आनन्द की प्राप्ति होती है। यह स्थिति सौन्दर्य के आध्यात्मिक स्वरूप की है। सौन्दर्य का स्थूल रूप भी अत्यन्त व्यापक है, हम क्षण भर के लिए भी इससे विलग नहीं हो सकते। हम चाहते हैं हमारा समस्त जीवन सौन्दर्यप्लावित रहे। स्थूल दृष्टि से सौन्दर्य रूप है और रूप पर मानव सदैव से रीझता आया है। अन्य गुण तो सम्पर्क में आने पर ज्ञात होते हैं, किन्तु रूप दूर से ही अभिभूत कर लेता है, यहीं हमारी वृत्ति रम जाती है और आनन्दोपलब्धि होती है। परन्तु रूप का आकर्षण चिरकालिक नहीं है इसलिए यदि उसमें आत्मिक अंश भी मिल जाय तो वह शाश्वत हो जायगा।

साहित्य में सौन्दर्य

सौन्दर्य द्वारा साहित्य का निर्माण होता है और साहित्य द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि। समस्त मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना ही साहित्य है। साहित्य और सौन्दर्य आत्मा और शरीर की भाँति एक-दूसरे के पूरक हैं। आत्मा का दृष्ट रूप सुन्दर शरीर है और शरीर की सार्थकता उसमें निहित आत्मा से है। मनुष्य की सुन्दर एवं चिरन्तन भावनाएँ ही साहित्य की आत्मा हैं। इनका साकार स्वरूप ही साहित्य है। साहित्यकार गद्य-पद्यात्मक शैली-

विधान द्वारा उन्हें बाह्य शरीर प्रदान करता है। इस शरीर को मनोरम शब्द संयोजन, गीतात्मकता, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार व छन्द से सुसज्जित करता है। उसमें से अनुभूत्यात्मक कान्ति छिटकती रहती है, परन्तु केवल उक्ति-वैचित्र्य एवं छन्दालंकारों से ही प्रभावोत्पादकता नहीं बढ़ती, बल्कि उसमें सहृदय को प्रभावित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। इसलिए साहित्य में रूप और सौन्दर्य का सामंजस्य आवश्यक है। वही सौन्दर्य साहित्य का व्यक्तित्व होता है जो सबको अपनी ओर आकर्षित करता है। साहित्य और सौन्दर्य का वही सम्बन्ध है जो व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का है।

साहित्य आत्मा की कला है अतः साहित्य और उसका सौन्दर्य आत्मा का सौन्दर्य है। साथ ही, उसमें इन्द्रियों को आनन्द प्रदान करने वाले तत्व पुष्प-पराग का परिमल, संगीत की मृदु झंकार आदि भी हैं। उत्कृष्ट काव्य में जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है वह पञ्चेन्द्रियों से ग्राह्य सौन्दर्य तो नहीं है परन्तु तत्त्वतः उससे भिन्न भी नहीं है क्योंकि वस्तुतः विश्लेषण करने पर काव्य जिन मानस-प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है वे चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका द्वारा प्रदत्त रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस-प्रत्यय अथवा चित्र ही होते हैं।

उदाहरण के लिए निम्नांकित काव्यांश द्रष्टव्य है—

तरुणियों सदृश किरणें चंचल
किसलयों के अधर यौवन-मद
रक्ताभ, मंजु उड़ते षट्पद
खुलती कलियों से कलियों पर
नव आशा-नवल स्पन्द भर-भर।[1]

सहृदय इन मानस-चित्रों का प्रत्यक्ष आस्वादन करता है। इस प्रकार जगत् का भौतिक सौन्दर्य आत्मा की कला द्वारा साहित्य में चित्रित होता है तथा सूक्ष्मता के कारण उपभोग्य न होकर आस्वादनीय होता है।

नित्य-प्रति हमारे जीवन में सुख-दुःखात्मक घटनाएँ घटती रहती हैं परन्तु उन पर हमारा ध्यान नहीं जाता, यदि जाता भी है तो अत्यल्प समय के लिए जिसका प्रभाव बाद में नष्ट हो जाता है। यही घटनाएँ साहित्य में संकलित

---

१. अनामिका—'दान'—निराला, पृ० २२, भारती भण्डार, प्रयाग, पाँचवाँ संस्करण, १६६६।

होकर एक विशिष्ट आकर्षण उत्पन्न करती हैं। साहित्यकार के कला शिल्पगत संयोजन के फलस्वरूप वे सम्प्रेषणीय बन जाती हैं और सहृदय को विशिष्ट आनन्द का बोध कराती हैं। प्रेमचन्द के 'गोदान' के अमर पात्र होरी की मृत्यु ने पाठकों को चिर-स्मृत करुणा प्रदान की है, करुणा की यह सृष्टि ही साहित्यकार की कृति का सौन्दर्य है। वस्तुतः साहित्य में प्रवेश करते ही जीवन की सामान्य घटनाओं के तत्त्व बदल जाते हैं। जीवन की दुःखात्मक घटना साहित्य की भावभूमि में पदार्पण करते ही (चाहे रस रूप में वह करुण या वीभत्स हो) सहृदय के मन में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करती है। जीवन में सुख-दुःख, सुन्दर-असुन्दर का संघर्ष चलता रहता है और सामान्य मनुष्य के जीवन में तो इन कटु विभीषिकाओं का संघर्ष होता है परन्तु जिसे संसार दुःख कहता है, वहाँ कवि के लिए सुख है। धन और ऐश्वर्य, रूप और बल, विद्या और बुद्धि ये विभूतियाँ संसार को चाहे कितना ही मोहित कर लें कवि के लिए यहाँ जरा भी आकर्षण नहीं है। उसके मोद और आकर्षण की वस्तुएँ तो बुझी हुई आशाएँ, मिटी हुई स्मृतियाँ और टूटे हुए हृदय के आँसू हैं। जिस दिन इन विभूतियों में उसका प्रेम नहीं रहेगा, उस दिन वह कवि न रहेगा। दर्शन जीवन के इन रहस्यों से विनोद करता हुआ कवि उनमें लय हो जाता है।[१] यह उक्ति दार्शनिक होते हुए भी सत्य है। विश्व के प्रत्येक कण में कवि को सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। अरूप एवं कुरूप भी उसकी आत्मा का स्पर्श प्राप्त कर साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे महत्त्वपूर्ण बन जाता है। साहित्य और साहित्यिक सौन्दर्य जीवन और जीव सौन्दर्य से विलग नहीं अपितु साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी वह जीवनसापेक्ष है। जो साहित्यकार जीवन के जितना निकट होता है उसकी कला उतनी ही उत्कृष्ट होती है। महान् साहित्यकारों की रचनाएँ अमर होती हैं, क्योंकि उनमें शाश्वत जीवन को स्पन्दित करने की क्षमता होती है।

साहित्यिक सौन्दर्य की यह विशेषता होती है कि वह अभ्यास का चमत्कार न होकर साहित्यकार के अन्तःकरण, आन्तरिक अनुभूति अथवा प्रतिभा की देन होता है जिसमें भावों का उत्कर्ष एवं अनुभूति की गहनता होती है। संवेदनाएँ तो वह प्रत्यक्ष जगत् से ही ग्रहण करता है परन्तु उसके अभिव्यंजना कौशल के

१. गोदान—प्रेमचन्द, पृ० ८५, सरस्वती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण, १९६० ।

फलस्वरूप वह अभिव्यक्ति मात्र उसकी न होकर मानव मन की हो जाती है। कलाकार की महानता भी 'स्व' से असम्पृक्त, कला-सृजन में है। टी० एस० इलियट ने एक स्थान पर कहा है—There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist the greater the separation.. अर्थात् भोगने वाले प्राणी और सृजन करने वाले कलाकार में सदा एक अन्तर रहता है और जितना बड़ा कलाकार होता है, उतना ही भारी यह अन्तर होता है। यही अभिव्यक्ति साहित्यिक सौन्दर्य की अभिधा ग्रहण कर लेती है।

मानव की सच्ची अनुभूतियों से सम्पृक्त होने के कारण साहित्यिक सौन्दर्य सत्यं और शिवं स्वरूप होता है। सत्य ही सौन्दर्य को सार्वकालिक और सार्व-जनीन बनाने में सहायक होता है। साहित्य में सत्य के आभास द्वारा सौन्दर्या-नुभूति की पुष्टि एवं विस्तार होता है और सौन्दर्य के माध्यम से ही हम सत्य के दर्शन करते हैं। सत्य ही जब भावना का रूप ग्रहण कर लेता है तो सुन्दर हो जाता है। सत्य अनुभवगत है और सौन्दर्य प्रतीतिगत। कला के निकट सत्य मात्र ज्ञेय नहीं वरन् प्रेय है। काव्यगत सत्य शाश्वत सत्य होता है जबकि वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य सिद्धान्तगत होता है। आगामी युग में ये असत्य भी सिद्ध हो सकते हैं। साहित्यिक सत्य की उत्कृष्टता की कसौटी तर्क नहीं होता। आकाश की दुग्ध गंगा, स्वर्ग-नरक, अनुराग का लाल रंग आदि काव्य-गत सत्य आज भी साहित्य में समादृत हैं। इस प्रकार साहित्य का आधार सत्य है जो नाना प्रकार के सौन्दर्य रूपों में प्रकट होता है।

सौन्दर्य का व्यावहारिक रूप ही शिव है। शिव का महत्त्व मानव जीवन में है, अतः साहित्य में भी उसका वही स्थान है। वैसे साहित्य का तो अर्थ ही है ऐसी रचना जो सबके हित में हो। साहित्य सदैव किसी उद्देश्य को लेकर चलता है। जरूरी नहीं कि यह सिद्धि भौतिक रूप में हो। साहित्य का तो उपयोग ही यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध करता है। अतः विश्व में व्याप्त विपुल सौन्दर्य से प्रेरणा ग्रहण कर तथा कल्पना द्वारा उसका परिष्कार कर कलाकार आत्माभिव्यक्ति करता है जो सौन्दर्यपूर्ण होने के कारण रमणीय होती है और रमणीयता के कारण आनन्ददायक। इस आत्माभिव्यक्ति का आधार कल्पना होते हुए भी यह

जीवन सत्य से विलग नहीं होती। नितान्त सत्य का वर्णन तो इतिहासकार का विषय है जबकि साहित्यकार इस सत्य को कल्पना के सुन्दर आवरण में प्रस्तुत करता है। वास्तव में सत्य और शिव, सत्य और सौन्दर्य एक ही वस्तु के तीन पक्ष हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति जब सृजन की ओर सक्रिय होती है तब वह कलानुभूति बन जाती है जिसका आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है। सौन्दर्य-बोध का सम्बन्ध अंशतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से है एवं सौन्दर्य-ग्रहण में अन्तःकरण का योग अपेक्षित है। इसके सृजन एवं भावन में स्रष्टा और सहृदय की रुचि का सापेक्षिक महत्त्व है, क्योंकि दोनों की रुचि उनके परिवेश और अभ्यास पर निर्भर है। इस प्रकार सौन्दर्य काव्य का अपरिहार्य एवं प्रधान तत्त्व है।

सुमित्रानन्दन पंत : जीवन-परिचय

किसी भी कवि के संश्लिष्ट रचना-संसार में प्रविष्ट होने के लिए उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ज्ञान आवश्यक है। उसके काव्य को सम्यक् रूप से समझने के लिए उसकी जीवनी से परिचित होना अनिवार्य है। क्योंकि काव्य की प्रमुखतः दो प्रेरक शक्तियाँ होती हैं—एक तो कवि की स्वयं की जीवनानुभूति से प्रेरित प्रतिक्रियाएँ और उसके संस्कार तथा दूसरी युगीन परिस्थितियाँ। कवि का जीवन-दर्शन, उसकी मान्यताएँ, आस्था आदि विभिन्न परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के अनन्तर किस प्रकार निर्मित होती हैं और उसकी चेतना किस प्रकार ऊर्ध्वतर होती जाती है—यह हम उसकी जीवनी द्वारा ही जान सकते हैं। हमारे आलोच्य कवि, श्री सुमित्रानन्दन पंत की प्रतिभा उत्तरोत्तर विकासशील रही है। वह प्रकृति से मानव और फिर भागवत-चेतना की ओर उन्मुख हुई है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य उनकी काव्य-सरिता की अन्तःप्रवाहित धारा के समान सदैव प्रवहमान रहा है। उनके काव्य-विकास में उनका वैचारिक जगत् एक निश्चित क्रम से परिचालित रहा है। पंत की समस्त काव्योपलब्धि उनके उदात्त व्यक्तित्व का परिणाम है। अतः उनकी काव्य-कला का आकलन करने से पहले उनका जीवन-परिचय आवश्यक है।

जन्म

समुद्रतल से साढ़े सात हजार फीट ऊपर तथा अल्मोड़े से ५३ कि० मी० दूर, कौसानी उत्तरी पर्वतीय प्रदेश की अत्यन्त सुन्दर उपत्यका है। रंग-बिरंगे वनफूलों से सुसज्जित और पक्षियों से पूर्ण तथा लम्बे-लम्बे चीड़, ओक और देवदारु के वृक्षों से ढंके पर्वतगात्र प्रकृति-सुषमा में कौसानी को अनुपम बनाते हैं। इसी रम्य सौन्दर्य-स्थली में प्रकृति के चिरप्रेमी कवि पंत का जन्म प्रातः आठ-नौ बजे के मध्य २० मई, सन् १९०० ई० को हुआ, जब उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने में केवल सात माह शेष थे—

धरती पर शिशु ने पहिले आँखें खोलीं।
नव प्रभात बेला थी, नव जीवन अरुणोदय,
विगत शती थी मुक्तप्राय, युगसंधि का समय।[1]

---

१. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत—राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण

पंत का जन्म और माता सरस्वती देवी की मृत्यु, ये दोनों घटनाएँ साथ-साथ घटित हुईं—

जन्म-मरण आये थे संग-संग बन हमजोली,
मृत्यु अंक में जीवन ने जब आँखें खोली।[१]

माँ के इस अभाव की पूर्ति प्रकृति ने की। वही उनकी माता, पिता, भाई, सखा, शिक्षक, प्रेयसी—सभी कुछ बन गयी। "जैसे माँ बच्चे को अपनाती है, वैसा प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चंचल मन की आकुल व्याकुलता को जिसे मैं किसी पर प्रकट नहीं कर सका हूँ—अपने में ले लिया है।...... उसकी एकान्त क्रोड़ में बैठकर मैं अपने को सबसे बड़ा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सम्मुख नहीं हुई है।"[२] बालक पंत का पोषण मातृ प्रकृति ने ही किया। प्रकृति का इतना निकट साहचर्य उन्हें प्राप्त हुआ, इस तथ्य की पुष्टि उनकी रचनाओं द्वारा होती है। "कौसानी की गोद मुझे माँ की गोद से भी अधिक प्यारी रही है।"[३]

माँ से बढ़कर रही धात्रि, तू बचपन में मेरे हित।
धात्रि कथा रूपक भर : तूने किया जनक बन पोषण
मातृहीन बालक के सिर पर वरद हस्त धर गोपन।[४]

मातृस्नेह से वंचित इस भावुक कवि के काव्य में 'माँ' की पुनीत स्मृति बिखरी हुई मिलती है। 'वीणा' की अंतिम पंक्तियाँ हैं—

जीवन भर भी माँ! मैं पूरे
गा न सकूँगा तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर।[५]

'ग्रन्थि' में इस अभाव का वर्णन इस प्रकार है—

नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली,

---

१. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत—राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ० ७०।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १८५, प्रथम संस्करण, १९६१।
३. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
४. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३५-३६।
५. वीणा—मुन्शी सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६०।

बाल में ही हो गई थी लुप्त हा !
मातृ अंचल की अभय-छाया मुझे ।[१]

इस प्रकार प्रकृति ने उसे पूर्णरूपेण अपना लिया था और कौसानी का प्राकृतिक सुषमा से पूर्ण प्रांगण ही बालक पंत का वास्तविक घर था। अपनी 'आत्मिका' नामक कविता में उन्होंने कौसानी का चित्र इस प्रकार अंकित किया है—

आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह मरकत मणिकण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्मसमर्पण ।[२]

पंत का बचपन यहाँ हिमाद्रि की स्वच्छ, शुभ्र छाया में विकसित हरी-भरी घाटी में बीता। उनका बालक मन निर्भय होकर इस सुरभित, मनमोहक वातावरण में विचरण करता—

छुटपन में विचरा हूँ मैं इन धूपछाँह शिखरों पर,
दूर क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्यपटी पर निःस्वर
हलकी गहरी छायाओं के रेखांकित-से पर्वत
नील बैगनी, रक्त, पीत, हरिताभ वर्ण श्री छहरा
मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रख तद्वत् ।[3]

प्रकृति का यह रहस्यमय सौन्दर्य पंत के किशोर मन को भाव-मुग्ध कर देता और उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती। "यह आत्म-विस्मरण ही प्राकृतिक सौन्दर्य का बोध या नैसर्गिक आनन्द था। यही एकमात्र सत्य था जिसका वे घण्टों निर्निमेष पान किया करते। अपने को तथा अपने मातृहीन बचपन, घर-द्वार, क्षुधा-तृष्णा सभी को वे भूल जाते, सभी से दूर, बहुत दूर उनका मन वहाँ विचरण करने लगता जहाँ मात्र अदृश्य, अज्ञात सत्ता का रहस्यमय सौन्दर्य प्राणों को आह्लादित कर देता। दिनों तक यह सुखद अनुभव उन्हें

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७ ।
२. वाणी—(आत्मिका)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १११ ।
३. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३६ ।

आत्म-विभोर रखता।"[१] स्वयं पंत का कथन है—"मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही, प्राकृतिक सौन्दर्य की रहस्यभरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही एक के ऊपर एक, अपने अनन्त वैचित्र्य में मेरे भीतर जैसे जमती गयीं।"[२] प्रकृति साहचर्य ने पंत को इतना अधिक प्रभावित किया कि आज हिन्दी साहित्य में वे प्रकृति और सौन्दर्य के अद्वितीय कवि माने जाते हैं। प्रकृति ने ही उन्हें आत्म-तुष्टि प्रदान की जो सदैव के लिए उनका आत्म-सम्बल बना और इसके फलस्वरूप वे सहज भाव से असह्य पीड़ा और दारुण दुःख के क्षणों को झेल गये, उनका अन्तर भंग नहीं होने पाया।

वंश की दृष्टि से 'पंत-वंश' अपने शौर्य और साहित्यिक प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस कुल में बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ, विद्वान्, सेनाध्यक्ष, ज्योतिषी, वैद्य तथा कवि हुए हैं। उन्नीसवीं शती के गुमानी पंत कुमाऊँ के प्रख्यात कवियों में माने जाते हैं, जिन्होंने संस्कृत, हिन्दी और पहाड़ी भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से अब भी कुछ उपलब्ध हैं। वंशावली के अनुसार कूर्माचलीय ब्राह्मण विशेषतः पंत और जोशी महाराष्ट्र से पन्द्रहवीं शती में कूर्माचल आये थे। पंत ऋग्वेदीय चितपावन ब्राह्मण हैं, इनके पूर्वज श्री पुरुषोत्तम एवं पुरुष (पुरु) पंत अपनी वीरता के लिए सुप्रसिद्ध रहे हैं। पंत के दादा श्री मदननारायण माफीदार थे। उनके पास साठ गाँव थे। वे संस्कृत के विद्वान् कवि थे। अपनी विद्वत्ता के बारे में उन्हें गर्व भी था।[३] पंत के पिता गंगादत्त जी को भी संस्कृत और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान था। कौसानी की 'टी इस्टेट' के वे उप-प्रबन्धक थे और साथ ही, मकान बनाने की लकड़ी का उनका अपना व्यापार भी था। इससे उन्होंने प्रचुर धन अर्जित किया और अल्मोड़ा में उनका साठ कमरों का निजी मकान भी था। कौसानी में वे सरकारी बँगले में रहते थे।

बाल्य—पंत अपने माता-पिता की आठवीं और अन्तिम सन्तान हैं। उनके तीन बड़े भाई हरदत्त, रघुवरदत्त और देवीदत्त तथा चार बहनें बसन्ती, माधवी, रुक्मिणी और गौरी थीं। "बालक पंत की शारीरिक अथवा भौतिक आवश्यकताओं का स्नेह-संरक्षण उनके पिता, फूफी और बूढ़े नौकर बिस्ना ने किया तो उनके मानसिक, भाविक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन का संरक्षण प्रकृति ने स्वयं

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ३।
२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२।
३. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ३७।

किया है।"[1] यही कारण है कि दृढ़ आत्मबल, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और सर्व-प्रथम काव्य-प्रेरणा भी उन्हें प्रकृति से ही मिली। जगत् को सत्य मानते हुए उनके मन में ऊर्ध्व दृष्टि के प्रति अटूट आस्था है। उनका ऐसा विश्वास है कि यदि मनुष्य हिमालय की भाँति ऊर्ध्वाकांक्षी हो तो इस जगत् को ही सौन्दर्य और शिवत्व से युक्त कर पृथ्वी पर स्वर्ग उतार सकता है। उनके समस्त कृतित्व का सार भी यही है।

बाल्यकाल में पंत पर सबसे अधिक प्रभाव उनके प्रशान्त, उदार, कर्मठ और धर्मप्राण पिता के व्यक्तित्व का पड़ा जो आज भी उनके आदर्श हैं। उन्होंने सदैव ही अपने पिता की भाँति आत्मस्थ, स्वाभिमानी, निर्भीक, निश्छल और सहृदय बनने का प्रयत्न किया है। वे अपने निष्कलुष, उदार व्यक्तित्व के कारण जीवित हिम-शिखर से लगते थे। हिम-शिखर-से तुलना शायद इसीलिए की हो कि अनजाने ही हिमाद्रि उनका शिक्षक रहा है—

सोच रहा किसके गौरव से मेरा यह अन्तर जग निर्मित
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि, तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित।[2]

पिता के अतिरिक्त उन पर उनके बड़े भाई श्री हरदत्त पंत का भी विशेष प्रभाव पड़ा। वे अत्यन्त उच्च साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। अंग्रेजी और संस्कृत का उन्हें अच्छा ज्ञान था तथा संस्कृत के वृत्तों में उनकी कुमाऊँनी कविताएँ प्रकाशित भी होती थीं। वे बहुधा अपने मुग्ध कण्ठ से 'मेघदूत' तथा 'शकुन्तला' के छन्द अपनी नववधू को गाकर सुनाया करते थे। तब न समझने पर भी यह गायन पंत को बड़ा कर्णप्रिय लगता था। उनके पिता के पास आने वाले अनेक उच्च कोटि के साधु-सन्तों का भी गम्भीर प्रभाव उन पर पड़ा। एक बार तो वे एक सुन्दर साधु के रूप, स्वभाव और भाषणों से आकर्षित हो उसके साथ जाने के लिए तैयार हो गये थे, परन्तु उनके बड़े भाई ने ऐसा नहीं होने दिया।

पंत के नाम का प्रसंग काफी रोचक है। मातृविहीन शिशु पंत की दीर्घायु की मनौती मानते हुए उनके वात्सल्य-विमूढ़ पिता ने उन्हें एक गोस्वामी हरगिरी बाबा जी को सौंप दिया, जिन्होंने इनका नामकरण गोसाईंदत्त करते हुए रक्षा हेतु उनके गले में रुद्राक्ष बाँध दिया। आज भी कुछ लोग उन्हें गोसाईंदत्त,

---

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ५।
२. स्वर्ण किरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५।

गुसैं अथवा सैं कहते हैं। बाद में उन्हें यह नाम अप्रिय लगने लगा और "गवर्नमेण्ट हाई स्कूल अल्मोड़ा में चौथी कक्षा में नाम लिखाने के लिए जब उन्हें कौसानी वर्नाक्यूलर का सर्टीफिकेट मिला और उन्होंने उसकी ओर वहाँ ध्यान दिया, तो उन्हें अपने नाम-परिवर्तन की तत्काल आवश्यकता प्रतीत हुई। उनके निर्भय, दृढ़, संकल्पयुक्त स्वभाव ने किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं समझी। उसी समय सर्टीफिकेट पर लिखे नाम को चाकू से खुरच कर उसके स्थान पर सुमित्रानन्दन लिख दिया।"[१] सुमित्रानन्दन अर्थात् लक्ष्मण उनके आदर्श पात्र रहे हैं। 'लक्ष्मण के प्रति' रचना में वे उन्हें 'मेरे मन के मानव-लक्ष्मण' कहते हैं। इस परिवर्तन का एक अन्य कारण स्पष्ट करते हुए बच्चन जी लिखते हैं—"गत वर्ष उनके (पंत के) बड़े भाई श्री हरदत्त पंत मेरे मेहमान थे। उन्होंने बताया कि पंत जी का दिया हुआ नाम था गोसाईंदत्त पंत। श्री हरदत्त पंत के कोई बिहारी मित्र थे सुमित्रानन्दन सहाय, उनके पत्र अक्सर आया करते थे, बस गोसाईंदत्त जी को यह नाम पसन्द आ गया और उन्होंने अपने को सुमित्रानन्दन पंत कहना शुरू किया।"[२] उन्होंने 'सरस्वतीनन्दन' भी बनना चाहा पर इस नाम में शायद उन्हें अहम्मन्यता की गन्ध-सी आयी और उन्होंने यह विचार छोड़ दिया।[३] इसके अतिरिक्त पंत ने सम्भवत: सन् १९१६ से १९ तक की अनेक रचनाएँ 'श्री नन्दिनी' छद्म नाम से की हैं। इस नाम को ग्रहण करने का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि—"नन्दिनी दिलीप की गाय का नाम था, जो उन्हें किसी कारणवश बहुत भला लगा। उन्होंने उपनाम के रूप में इसे अपनाया, परन्तु बाद में स्त्रैण जानकर इसे छोड़ दिया।"[४] 'श्री नन्दिनी' के अतिरिक्त सन् १९१८ तक पंत की रचनाएँ 'नन्दन जी पंत', 'एक निहत्था', 'सुधाकर प्रिय', 'किशोर', 'रावणार्यनुज', 'कृतज्ञ', 'मोती', 'नन्दन जी', 'नयन', 'सुमित्रानन्दन' आदि इन अनेक नामों से 'शक्ति', 'अल्मोड़ा अखबार', 'सुधाकर', 'मर्यादा', 'हिमालय' में छपीं।[५] जो भी हो उनका समस्त व्यक्तित्व गोसाईंदत्त में लिपटा रहा जो उनके सौम्य निःसंग स्वभाव का प्रतीक है।

---

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ६२।
२. कवियों में सौम्य संत : श्री सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन, पृ० ५३।
३. क्या भूलूँ क्या याद करूँ—बच्चन, पृ० ९८।
४. स्मृति चित्र (संकलन) 'परिचय से पूर्व'—रामचन्द्र टण्डन, पृ० १८।
५. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ९९।

शिक्षा- पाँच वर्ष की अवस्था में पंत का विद्यारम्भ संस्कार बड़ी धूमधाम से मनाया गया। संस्कार के पश्चात् उनके फूफा जी ही उन्हें अधिकतर पढ़ाया करते। जब उनका मन पढ़ने में न लगता, मिठाई और पैसे आदि का प्रलोभन भी देते।

"इसी साल, सन् १९०५ में गाँव की पाठशाला, कौसानी वर्नाक्यूलर स्कूल की 'ब' कक्षा में पंत का नाम लिखवा दिया गया।"[१] पंत को सर्वप्रथम कापी में १९०७ लिखने की याद है और याद है अपने मधुर छन्द पाठ की जिसके लिए स्कूल के इंस्पेक्टर ने एक पुस्तक पुरस्कार स्वरूप दी थी।[२] इस पाठशाला में उनके फुफेरे भाई अध्यापक थे और उन्हें गोद में उठाकर पाठशाला ले जाया करते थे। परन्तु स्कूली शिक्षा का महत्व उनके जीवन में उतना नहीं रहा जितना कौसानी की प्रकृति का। बच्चों के विकास और शिक्षा के लिए वे प्रकृति को अनिवार्य शिक्षक मानते हैं। एक बार आकाशवाणी वार्ता में उन्होंने कहा—"बचपन में मुझे पुस्तकों से कहीं अधिक कौसानी की हँसमुख चंचल हरियाली ने और स्वच्छ नील आसमान ने सिखाया है। मेरे मन में उसने अपनी स्वच्छता और सुन्दरता की अमिट छाप लगा दी है। मैं बराबर सोचा करता हूँ कि बच्चों को प्रकृति के खुले आँगन में अपना अधिक समय बिताना चाहिए।"[३] उनका शिक्षारम्भ उनके कवि व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों में हुआ परन्तु फिर भी पुस्तकों में उनका मन अधिक नहीं रमता था—

कौसानी की ग्राम पाठशाला में मेरा
शिक्षारम्भ हुआ : वे कैसे मधुर वर्ष थे।
पाठों से थी कहीं अधिक रुचि गिरिस्रोतों के
फेनिल कलरव में, वन क्षितिजों के मुकुलों में,
उचक चौकड़ी भरते भूरे गिरि हिरनों में,
गुल्म झाड़ियों बीच फुदकते शिशु खरहों में![४]

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ४४।
२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४।
३. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ४५।
४. गन्धवीथी (प्रकृति : स्मृति के वातायन से) काव्य संकलन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६।

नौ वर्ष के होते-होते पंत को अमरकोश, मेघदूत, रामरक्षास्तोत्र, चाणक्य-नीति आदि के अनेक श्लोकों का ज्ञान हो गया था। संस्कृत का ज्ञान फूफा जी ने करवाया और श्री अम्बादत्त जोशी ने उन्हें पर्शियन पढ़ाई जो कि अब वे बिल्कुल भूल गये हैं। अंग्रेजी उनके पिता जी पढ़ाते थे क्योंकि स्कूल में अंग्रेजी की शिक्षा नहीं दी जाती थी। इसी समय घर पर ही उन्हें संगीत का अभ्यास भी करवाया जाता और वे भैरवी, पीलू, काफी खमाज, केदारा कल्याण, देस, बिहाग आदि रागों को जान गये। स्कूल के लड़कों अथवा भाइयों के साथ खेल में वे बहुत कम सम्मिलित होते। उनका बचपन अधिकांशतः घर-आँगन में ही बीता। "एक जन्मजात अन्तर्दृष्टि के कारण बचपन से ही पंत को अपने स्वभाव के साथ अज्ञात भाव से सदैव उलझना पड़ा और इसी ने उनके बचपन को गम्भीर, यौवन को संयमित तथा प्रौढ़ावस्था को शान्त एवं भागवत-चेतनामय बनाया है।"[1] कवि-रूप में उन्होंने हिमाद्रि से आदर्श ग्रहण किया और हरी-भरी उपत्यकाओं से सौन्दर्य-दृष्टि। सुन्दर निसर्ग ने अनजाने ही अपने स्पर्शों से उनके हृदय को संस्कृत कर दिया जिससे उनका अन्तर्जात कवि प्रस्फुटित हो गया। लिखना उन्होने लगभग छह-सात साल की वय से प्रारम्भ कर दिया था और कविता करने की प्रेरणा उन्हें अपने बड़े भाई से मिली। इस प्रथम प्रेरणा के बाद भी उनकी काव्य-कला सदैव प्रेरणा की अनुगामिनी रही है। बचपन की कविताएँ तुकबन्दी हुआ करती थीं जिनका अर्थ मात्र संगीत था। इनमें कुछ भाई के अनुकरण में ढीले-ढाले रेखता छन्दों पर आधारित थीं और कुछ उनके मित्रों से सुनी गजलों की धुन पर। ध्वनि और लय के अनुकरण के कारण कुछ कविताएँ शिखरिणी छन्दों पर भी आधारित थीं। यह उनका प्रिय छन्द था। उनकी यह प्रारम्भिक रचनाएँ नष्ट हो जाने के कारण आज उपलब्ध नहीं हैं। प्रारम्भिक लेखन के बारे में पंत का कहना है—"अब सोचता हूँ वे रचनाएँ छन्द और लयहीन रही होंगी। ठीक से लिखने का प्रयत्न मैंने अल्मोड़ा आने पर तेरहवाँ वर्ष पूरा होने अथवा चौदहवाँ प्रारम्भ होने पर किया होगा। वैसे पन्द्रह-सोलह साल की आयु से मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ कर दिया था। पर अल्मोड़ा आने से बहुत पहले से ही छन्दों की गलियों में भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ।"[2]

---

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ५१।
२. भेंट-वार्ता।

१९०९ में कौसानी के स्कूल की कक्षा तीन उत्तीर्ण कर पंत लगभग एक वर्ष तक घर पर ही रहे और मई, १९१० में अपने भाई देवीदत्त के साथ आगे शिक्षा प्राप्ति के लिए अल्मोड़ा आ गये। यहाँ गवर्नमेण्ट हाई स्कूल की चौथी कक्षा में उनका नाम लिखवाया गया। परन्तु पहली बार घर से बाहर आने के कारण आरम्भ में उनका मन अत्यन्त खिन्न और उदास रहता, इसके अतिरिक्त "कौसानी मेरे लिए स्वप्नों की रजत-हरित झील-सी थी जिससे वियुक्त होकर मेरे प्राण बालू में मछली की तरह छटपटाते रहते थे।"[1] बाद में नागरिक जीवन का अभ्यास हो जाने पर उनका मन लग गया। "प्रकृति के एकान्त सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति धीरे-धीरे नगर के सुख-वैभव का जीवन करने लगा।"[2] एक प्रकार से पन्त के मानसिक और आत्मिक विकास का यह प्रथम चरण ही था। अभी तक उनके व्यक्तित्व का विकास प्रकृति के भाव-सौन्दर्य के बीच हो रहा था, यहाँ आकर उनके आभिजात्य व्यक्तित्व का परिमार्जन और संस्कार हो सका। "पंत के व्यक्तित्व और समस्त काव्य-जीवन को प्रतिच्छवित उसकी स्पष्ट रूपरेखा को देने वाला यह आठ साल का अल्मोड़ा-निवास उनके भीतर के सुन्दर, सुखद और संस्कृति विकास का सूचक है।"[3] अल्मोड़ा में पिता की विशाल अट्टालिका 'देवीभवन' में रहते हुए उन्हें विशेष गौरव का अनुभव होता, ग्रामीण रुचियाँ और मनोविश्वास उन्हें अब खटकने लगे। सर्वप्रथम उन्होंने अपना नाम-परिवर्तन किया, जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। दूसरा ध्यान उन्होंने अपनी वेश-भूषा पर दिया। सौन्दर्य-बोध पहले-पहल मुझमें देह के स्तर पर उतरा और उसका एक विशेष प्रकार का अनुभव मुझे हुआ। पाँचवीं कक्षा में छमाही परीक्षा के बाद एक बार मैं जाड़ों के दिनों में धूप सेंकने कौसानी के घर की छत पर दोपहर को बैठा था और निश्चिन्त मन से शान्त नील आकाश की ओर देख रहा था। थोड़ी ही देर बाद मेरे भीतर एक ऐसा सुखद अनुभव हुआ कि जैसे मेरी देह का भार खो गया हो। और आकाश नील से अधिक नील होकर, एक स्नेहपूर्ण आँख की तरह सिमटकर, छोटा और गहन द्रवित होकर जैसे एकटक मुझे देखने लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि चारों ओर सब कुछ बहुत ही स्वच्छ कोमलता में जैसे घुल-मिल गये हैं। एक बहुत ही पवित्र अनुभूति मुझे

१. साठ वर्ष : एक रेखांकन-सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७।

२. वही, पृ० ७।

३. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ६२।

अपने अंगों से, अपनी त्वचा से, अपने चेहरे और हाथों से निखरती हुई-सी प्रतीत हुई और मेरे मन में अत्यन्त प्रबल इच्छा हुई कि मुझे बहुत ही स्वच्छ, पवित्र और सुन्दर रहना चाहिए।''' ''' यह सम्भवतः १९१२ फरवरी की बात है।[1] अच्छे वस्त्र पहनना और स्वयं को सदैव सुन्दर बना कर रखना उनका चिर-प्रिय शौक है। छठीं कक्षा में उन्होंने अपने भाई की लाइब्रेरी में नेपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देख कर उसी से प्रेरित हो बाल बढ़ा लिये। साहित्य के प्रति तीव्र अभिरुचि भी इसी समय जागृत हुई। कवि-कर्म को अपनाने का निर्णय उन्होंने सम्भवतः सातवीं-आठवीं कक्षा में ले लिया था। बाद में टैगोर को देख कर कवि और केश का सम्बन्ध उनके मन में दृढ़ हो गया।

शहर में रहते हुए पंत का दृष्टिकोण व्यापक होने लगा। उन्हें व्यक्तित्व के विकास और प्रतिष्ठा की महत्ता का ज्ञान हुआ। प्रकृति के माधुर्य के मध्य अपनी ही भावनाओं में डूबे व्यक्ति का मोह-भंग हुआ और नागरीय जीवन के क्रिया-कलापों में वे सहर्ष भाग लेने लगे। यहाँ सबसे अधिक प्रभाव उन पर स्वामी सत्यदेव के भाषणों का पड़ा जो भाषा-प्रेम और देश-प्रेम से ओत-प्रोत होते थे—

देशभक्ति के साथ मोहिनी
मत्र मातृभाषा का पाकर
प्रकृति प्रेम मधुरस में डूबा
गूँज उठा प्राणों का मधुकर।[2]

दूसरा विशिष्ट प्रभाव स्वामी जी के काव्य-पाठ का हुआ, जिससे उनके मन में यह धारणा दृढ़ हो गयी कि कविता को गेय होना चाहिए। स्वामी जी के प्रयत्नों से ही शहर में 'शुद्ध साहित्य समिति' नामक एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी खुल गया जो कई वर्षों तक रहा भी। इसमें उस समय की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ, काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि ग्रन्थों का सग्रह था। पंत का साहित्यिक मन यहाँ उचित खाद्य प्राप्त कर अंकुरित होने लगा। स्वभाव से एकान्तप्रिय व अन्तर्मुख होने के कारण साहित्य के प्रति उनका अनुराग दिन-पर-दिन बढ़ता गया। वे अपने कमरे में घण्टों विभिन्न साहित्यिक

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ६६-६७।
२. वाणी (आत्मिका)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११६।

ग्रन्थों का पारायण करते। इन्हीं दिनों सन् १९१६-१७ के जाड़े की छुट्टियों में पंत ने 'हार' नामक एक लघु उपन्यास की रचना की। इसमें उनकी उस समय की मनोदशा का चित्रण हुआ है। अपने भाई से सुनी हुई रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना, शकुन्तला की प्रेम-कथा, मेघदूत की वियोग-कथा, बिहारी सतसई का एकान्त प्रणय-निवेदन व रूप-वर्णन आदि सब का प्रभाव इस उपन्यास में है। "उन दिनों अल्मोड़े में जो स्वामी सत्येदव आदि बड़े लोगों के भाषण होते थे उनमें देश-सेवा और लोक-सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था। उन सब परिस्थितियों तथा बौद्धिक वातावरण का लाभ उठा कर मैंने अपने विचारों तथा भावनाओं को व्यवस्थित वाणी देने के अभिप्राय से ही सम्भवतः 'हार' नामक उपन्यास की रचना की होगी।"[1]

उन दिनों पंत 'सरस्वती' व मैथिलीशरण की कविताओं को बड़े चाव से पढ़ते थे। अल्मोड़े में उस समय 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग', 'प्रिय-प्रवास','कविता-कलाप' आदि काव्य-ग्रन्थ तथा मिश्रबन्धु-विनोद,'छत्रसाल' आदि उपन्यास, 'गल्प-गुच्छ' आदि कहानी-संग्रह व बंकिम बाबू के अनुवादों का बड़ा प्रचार था। इस समय वह आठवीं कक्षा में थे, तभी इनका परिचय श्री गोविन्दवल्लभ पंत (नाटककार) व उनके भतीजे श्यामचरणदत्त तथा इलाचन्द्र जोशी आदि साहित्यिक व्यक्तियों से हुआ। इससे उनकी साहित्यिक रुचि व आस्था में वृद्धि हुई। श्यामचरणदत्त 'सुधाकर' (१९१६-१७) नामक एक हस्तलिखित साहित्यिक पत्र निकालते थे, पंत जी नियमित रूप से अपनी रचनाएँ इसमें देने लगे। पंत ने कविता का सर्वप्रथम प्रयोग अपने फुफेरे भाई को पत्र लिखने में किया था जो रोला छन्द में था। "अपनी बहन से अपने छन्द-बद्ध पत्रों की प्रशंसा सुन कर मैं बड़ा प्रोत्साहित होता था।"[2] सन् १९१६ के 'अल्मोड़ा अखबार' में उनकी पहली कविता छपी थी। सन् १९१७ के हस्त-लिखित 'सुधाकर' मासिक के मई अंक में उनकी एक लघु रचना 'शोकाग्नि और अश्रुजल' नाम से छपी, जिसकी पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

जो शोक अग्नि से अति ज्वाला कराल उठती
वह अश्रु बिन्दु जल के क्यों रूप में बदलती ?

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२२।
२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १८।

क्या वह नहीं बताती सम्बन्ध जल अनल में ?
क्या ? वह तुम्हें जलाता औ मैं तुम्हें डुबाता ।

छन्द तथा शब्द-योजना की दृष्टि से पंत की उस काल की रचनाओं पर गुप्त जी व हरिऔध जी का प्रभाव लक्षित होता है । 'भारत-भारती' का छन्द 'हरिगीतिका' पंत को बहुत प्रिय था । गुप्त-काव्य एक प्रकार से उनकी प्रेरणा था । 'अशोक-वन' के समर्पण में वे कहते हैं—

योग्य नहीं कुछ भेंट : आप चिर मैथिली शरण,
गीत मैथिली के गा छूता स्नेह से चरण ।
शैशव ही से रहा आपके प्रति आकर्षण
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनुकरण ।[१]

प्रारम्भिक रचनाओं पर अनेक ग्रन्थों व कवियों का प्रभाव होने पर भी उनकी कतिपय रचनाओं में मौलिक प्रतिभा के प्रमाण मिलते हैं जिनमें 'तम्बाकू का धुआँ', 'कागज के फूल', 'गिरजे का घण्टा' आदि उल्लेखनीय हैं । शब्द-योजना, संस्कार व अभिव्यक्ति की दृष्टि से अपरिपक्व होने पर भी भावना की दृष्टि से इनमें मौलिकता है । उनका कहना है—"मेरे भाव तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व तथा अविकसित रहे ही होंगे किन्तु उन्हें छन्दबद्ध करने में तब मुझे विशेष आनन्द मिलता था । छन्दों के मधुर संगीत ने तब मुझे इतना मोह लिया था कि मैंने अनेक पत्र भी इन दिनों छन्दों में ही गूँथकर लिखे थे । ......अपने पास-पड़ोस और दैनन्दिन की परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना भाषा की अस्फुट तुतलाहट में बाँध कर मैं अपने छन्द-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ ।"[२]

सन् १९१६-१८ की काफी रचनाएँ सन् १९२० में आग लग जाने के कारण जल कर नष्ट हो गयीं । इस संग्रह की लगभग आधी दर्जन रचनाएँ स्मृति के आधार पर पुनः लिख कर 'वीणा' नामक संग्रह में सम्मिलित कर ली गयीं । इसके अतिरिक्त पंत की उस समय की कतिपय रचनाएँ रानीखेत से

१. कवियों में सौम्य सन्त : सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन ।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २१७ ।

प्रकाशित 'हिमालय' मासिक पत्र में प्रयाग की 'मर्यादा' पत्रिका तथा मेरठ की 'ललिता' नामक पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं।

सन् १९१८ में पंत ने नवीं कक्षा पास कर ली थी। इस समय इनके मंझले भाई ने हाई स्कूल पास किया और दोनों को आगे शिक्षा के लिए बनारस भेजा गया। इनके भाई ने क्वीन्स कालेज में और इन्होंने जयनारायण हाई स्कूल में प्रवेश लिया। पहाड़ से बाहर जाने का यह पहला अवसर था इसलिए अल्मोड़े की रजत-हरित सौन्दर्यमयी घाटी को छोड़ते हुए उन्हें दुःख तो हुआ पर साथ ही, नये नगर काशी को देखने की उमंग भी बलवती थी।

बनारस में रहे तो केवल नौ-दस महीने ही परन्तु यह काल उनके मानसिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ। यहाँ उनके रहने की व्यवस्था उनके बहनोई श्री शुकदेव पाण्डेय के यहाँ हुई। शहर की समतल भूमि में विस्तृत पर्वतीय प्रदेश व क्षितिज का प्रसार अदृश्य हो गया, उसका स्थान नीले आकाश के एक टुकड़े ने ले लिया, जो उनकी खिड़की से दिखता था। प्राकृतिक रमणीयता के अभाव में उसके सौन्दर्य-पान का तो प्रश्न ही नहीं उठता इसलिए उन्होंने अपना ध्यान पूर्णतः अध्ययन-मनन की ओर केन्द्रित कर दिया। इससे उनके बौद्धिक विकास में सहायता मिली। उल्लेख्य तथ्य यह है कि यह अध्ययन कालेज की पढ़ाई से सम्बन्धित पुस्तकों का न होकर अन्यान्य विषयों तक विस्तृत था जिसके अन्तर्गत हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य मुख्य हैं। श्री शुकदेव पाण्डेय के अनुसार—"कई बार मैंने इनका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया कि मनुष्य के भविष्य के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वह विश्व-विद्यालय की डिग्री प्राप्त करे और तब जिस विषय में उसकी रुचि हो उसमें वह समय लगाये जो इस पढ़ाई के अतिरिक्त मिले।"[१]

इन दिनों पंत को श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताएँ बहुत भाती थीं। नायडू का शब्द-संगीत उनके मन में माधुर्य घोल देता। वे बहुधा 'गेली ओर गेली वी ग्लाइड एज् वी सिंग, वी विदर हर एलांग लाइक ए-पर्ल आन ए स्ट्रिङ्ग' 'पैलेक्विन बेयरर्स' नामक उनकी रचना की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते।[२] इसके अतिरिक्त इनकी प्रकृति सौन्दर्य व प्रेम-सम्बन्धी अनेक कविताएँ इन्हें याद थीं।

---

१. स्मृति चित्र (संकलन)—संस्मरण—शुकदेव पाण्डेय, पृ० ३३।

२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत।

रवीन्द्र-साहित्य ने भी पंत को आकर्षित किया और उन्होंने उनकी गीतांजलि, उपन्यास व कहानियों को अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ा। बँगला ज्ञान सीमित होने पर कुछ कविताओं को मूल से पढ़ने का प्रयास भी किया। अल्मोड़े में उनका अध्ययन द्विवेदीकालीन कवियों तक ही सीमित था। यहाँ उन्होंने रीतिकालीन कवियों का गम्भीर अध्ययन किया जिनकी भाषा का माधुर्य व लघु-पद-रचना ने उनकी काव्यकला-सम्बन्धी धारणा के निर्माण में सहयोग दिया। श्रीमती नायडू की शब्द-योजना व रवीन्द्र का सौन्दर्य-बोध और कल्पना को भी उन्होंने ग्रहण किया। स्वयं पंत कहते हैं कि "काव्य-सृजन के लिए सम्भवतः मुझमें नैसर्गिक संस्कार रहे हैं। इस नैसर्गिक संस्कार को जब नायडू, रवीन्द्र, द्विवेदी-कालीन व रीतिकालीन कविताओं की पृष्ठभूमि प्राप्त हुई तो उसका भाव-लोक सृजन के लिए व्यग्र हो उठा।"[1] पंत की 'प्रथम रश्मि' व 'बालापन' शीर्षक कविताएँ बनारस में ही लिखी गयीं जो बाद में क्रमशः 'वीणा' और 'पल्लव' में सम्मिलित कर ली गयीं।

इन्हीं दिनों मिस्टर हिल (स्कूल के प्रिन्सिपल) के बाइबिल पढ़ाने के ढंग से प्रभावित होकर पंत ने बड़े मनोयोग से बाइबिल पढ़ा। पढ़ने के उपरान्त वे इस ग्रन्थ से भी अत्यधिक प्रभावित हुए। 'लुक ऐट द लिलीज आफ द फील्ड हाउ दे ग्रो' कहने वाले महान् अन्तर्द्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वतः स्फूर्त, सूक्ष्म, अन्तःसौन्दर्य का रहस्य खोल दिया।...सब मिला कर बाइबिल के अध्ययन ने संसार की अचिरता और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुए मेरे अंतःकरण को अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया।[2] जिस ग्रन्थ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय में अंकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेण्ट। बाइबिल भी उदार मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अंग बन गयी।[3] '......वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नहीं, आत्मा की भावविगलित कविता की कविता है।'

सौभाग्य से पंत को बनारस में थियोसोफिकल सोसाइटी में रवीन्द्र के दर्शन प्राप्त हुए। उनके विषय में सुने गये भाषणों का प्रभाव तो उन पर था ही, साक्षात्कार होने पर वे उनके व्यक्तित्व से भी अत्यन्त प्रभावित हुए। जिस

१. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १८६।
३. वही, पृ० १८५।

कवि-कर्म को अपनाने का संकल्प उन्होंने कुछ वर्ष पूर्व किया था वह अब और दृढ़ हो गया। कवि इतना महान् एवं विश्व-सम्मान का पात्र हो सकता है—यह एक बिल्कुल नवीन बोध था। दुर्भाग्यवश बनारस प्रवास-काल में प्रसाद जी से पंत की भेंट नहीं हो पायी। बाद में कालाकाँकर-प्रवास के समय उनके अतिथि रूप में उनसे मिले तथा दूसरी बार कुछ घण्टों के लिए उनसे भेंट हुई। 'प्रसाद' जी के साथ स्वल्पकालीन साहचर्य की ये सुनहरी स्मृतियाँ मेरे मन को उनके निःसीम निश्छल स्नेह में बाँधे हुए हैं।[1]

हाई स्कूल की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में हिन्दी में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर छुट्टियों में जब वे कौसानी की काव्य-भूमि में पहुँचे तो उन्होंने 'वीणा' सीरीज के प्रगीत तथा 'ग्रंथि' नामक छोटा-सा खण्डकाव्य लिखा। इनकी शैली व भावभूमि प्रायः बनारस में संचित संस्कारों के आधार पर है। वे स्वयं कहते हैं कि " 'वीणा' की कुछ रचनाओं में सम्भवतः रवीन्द्र के भाव-लोक की अस्पष्ट छाया हो। एक-आध रचना जैसे 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात सुन्दरि नव आलोकित कर' में रवीन्द्रनाथ के 'अन्तर मम विकसित कर अन्तरतर हे' की छाप मिलती है।"[2] उन्हें अपनी काव्य-भूमि प्राप्त करने का कुछ उपक्रम यहीं सबसे पहले परिलक्षित होता है। 'ग्रंथि' एक असफल प्रेमकाव्य है। इसकी शैली पर हिन्दी रीतिकाव्य व संस्कृत काव्यों की शब्द-योजना का प्रभाव है। इस खण्डकाव्य की कथा का सम्बन्ध बहुधा उनके जीवन से किया जाता है, परन्तु विश्वम्भर मानव से भेंटवार्ता में उन्हें इसका स्पष्ट प्रतिवाद करते हुए कहा है " 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में हो सकता है दस प्रतिशत सत्य हो पर ग्रंथि की कथा तो एकदम काल्पनिक है। उस समय मैं उन्नीस वर्ष का था। प्रेम की कोई बात ठीक से समझता भी नहीं था।"[3]

बनारस से हाई स्कूल परीक्षा पास कर पंत ने सन् १९१९ की जुलाई में प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कालेज में इण्टर में प्रवेश लिया। प्रयाग उनके लिए साहित्य-उर्वर, शान्त व संस्कृत स्थान है। मुख्य रूप से यही उनका साधना-स्थल रहा है, जहाँ उनकी कविता-कामिनी को तारुण्य का सौन्दर्य और प्रौढ़ता

१. कला और संस्कृति (प्रसाद जी के संस्मरण)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७० ।
२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १८ ।
३. सुमित्रानन्दन पंत—विश्वम्भर मानव, पृ० १० ।

की परिपक्वता प्राप्त हुई। यहाँ उन्हें आत्म-परिष्कार का उचित अवसर व वातावरण प्राप्त हुआ। प्रयाग उनका प्रिय स्थान रहा है और इसे उन्होंने अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया।

यहाँ उन्होंने अपने अध्ययन के विषय संस्कृत, इतिहास और तर्कशास्त्र चुने। इस तरह उनके संस्कृत-ज्ञान में वृद्धि हुई। कालिदास की कृतियों से वे विशेष रूप से प्रभावित हुए। कालिदास की उपमा व सौन्दर्य-बोध उनके आकर्षण के विषय रहे, इन्हें उन्होने अपनी कल्पना का विषय बनाने का प्रयत्न भी किया। प्रयाग में ही पंत को सर्वप्रथम कवि-सम्मेलन में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह कवि-सम्मेलन नवम्बर में हिन्दू-बोर्डिङ्ग हाउस (जहाँ पंत रहते थे) में दीक्षान्त समारोह के उपलक्ष्य में हुआ था। कवि-सम्मेलन का सचालन अंग्रेजी के प्राध्यापक प्रो० शिवाधार पाण्डेय ने किया था और विषय था 'स्वप्न'। पंत की रचना श्रोताओं द्वारा हृदय से सराही गयी और प्रोफेसर पाण्डेय तो इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अगले दिन पुरस्कारस्वरूप उन्हें शेक्सपीयर के समस्त नाटकों का सुन्दर संस्करण भेंट किया और साथ ही, अंग्रेजी साहित्य के प्रति अनुराग रखने का आदेश भी दिया।[१] इस कवि-सम्मेलन के अगले महीने उनकी 'स्वप्न' शीर्षक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हो गयी। बाद में यह 'पल्लव' काव्य-संग्रह में सम्मिलित कर ली गयी।

प्रो० शिवाधार पाण्डेय से प्रेरणा प्राप्त कर उन्हीं की सहायता से पंत ने अंग्रेजी ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। फलस्वरूप वे अंग्रेजी के उन्नीसवीं शती के कवियों-वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स व टेनिसन आदि से विशेष रूप से प्रभावित हुए। कीट्स का शिल्प-वैचित्र्य, शेली की सशक्त कल्पना, वर्ड्सवर्थ का प्रांजल प्रकृति-प्रेम तथा टेनिसन के ध्वनि-बोध ने उनके 'कविता-सम्बन्धी' रूप-विधान के ज्ञान को अधिक पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म बनाया।[२] इन कवियों

१. "अपने बनारस के अध्ययन-काल में मैं काव्य-सौन्दर्य की आत्मा का जितना परिचय प्राप्त कर सका था उसका समर्थन मुझे प्रयाग में आने पर ३-४ महीने बाद होने वाले इस कवि-सम्मेलन के आयोजन द्वारा प्रभूत रूप में मिल गया और मेरी धारणा और विश्वास अपनी काव्य-दृष्टि को अधिक विकसित और विस्तृत करने की ओर और भी आस्था के साथ सक्रिय हो उठे।"—कला और संस्कृति—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७७।

२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३३।

की विशेषताएँ स्वतः उनके काव्य में आ गयी हैं। यह प्रभाव उनकी सन् '२६ तक की कविताओं में देखा जा सकता है जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'अनंग', 'मौन निमन्त्रण', 'वीचि विलास' तथा 'परिवर्तन' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

दूसरा कवि-सम्मेलन जन-साधारण के सम्मुख हरिऔध जी के सभापतित्व में हुआ। इसमें पंत ने अपनी 'छाया' शीर्षक कविता पढ़ी, जो अब 'पल्लव' में संगृहीत है। श्रोताओं सहित सभापति ने भी इसका प्रशंसात्मक समर्थन करते हुए अपने गले की माला इन्हें पहना दी। इतना प्रोत्साहन पंत को अपने कवि-जीवन के निर्माण के लिए पर्याप्त था और उन्होंने इसका उचित उपयोग भी किया।

कालेज से विदा

सन् १९२१ गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का समय था। अपने बड़े भाई के अनुरोध से वे उनके साथ आनन्द-भवन में गांधी जी का भाषण सुनने गये तथा उन्हीं (भाई) द्वारा प्रेरित पंत को भी असहयोग के लिए अपना हाथ उठाना पड़ा। इस प्रकार विद्यालयीय शिक्षा से विदा लेकर वे जीवन की पाठ-शाला में संसार की महान् पुस्तक के अध्ययन में रत हो गये। राजनीति में उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया। इन दिनों पंत पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व की मनःस्थिति से होकर गुजर रहे थे। उनका कवि-मन काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन व सामाजिक उत्थान आदि समस्याओं पर सोच-विचार कर कला-शिल्प में परिपक्वता लाने के प्रयास में सलग्न था। बौद्धिक संघर्ष के साथ उन्हें भौतिक संघर्षों का सामना भी करना पड़ा। इस मनःस्थिति की अभिव्यक्ति उनके काव्य में अनेक स्थान पर हुई है। उनके अनुसार "इक्कीस वर्ष की अवस्था में कालेज छोड़ने के बाद ही मैंने, साधारण अर्थ में जिसे जीवन कहते हैं, उसके द्वार अपने लिये सदा के लिए बन्द कर अपने को संसार में बड़ा ही अकेला पाया।"[१] उनके अकेलेपन के सम्बन्ध में कवि बच्चन लिखते हैं—"सड़क पर उन्हें अकेले चलते देखना कठिन है। सदा किसी-न-किसी के साथ ही रहे हैं। कभी-कभी उनको देख कर मैं सोचता हूँ कि जिस व्यक्ति को साथ की इतनी आवश्यकता थी उसने अपने अकेलेपन की कितनी भारी कीमत दी है।"[२] परन्तु उनका यह तथाकथित

१. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २९।

२. कवियों में सौम्य संत—सुमित्रानन्दन पंत बच्चन, पृ० ५७।

अकेलापन मानसिक संघर्ष, वैचारिक मंथन, पारिवारिक अस्तित्व के विघटन का अकेलापन था, अकेलापन जो जीवन को उसकी व्यापकता में पहचानने का तथा जीवन और मृत्यु को समझने में संघर्षरत था। इस अकेलेपन की भावना ने उनके मन को भीतर-बाहर दोनों ओर अत्यन्त व्यथित कर दिया। स्वयं पंत की यह स्वीकारोक्ति है कि युवावस्था में यदि उन्हें अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होतीं तो वे अवश्य विवाहित जीवन व्यतीत करते दीखते।[२] परन्तु परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने पर भी उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? शायद इसलिए कि उस समय वे इस समय की भावातिरेक मानसिक स्थिति का मूल्यांकन पूर्णरूपेण करने में सफल हो सके और 'एकाकीपन का अन्धकार' और विषाद के पार देखने में समर्थ हो सके तथा उनकी चेतना सुख-दुःख से ऊर्ध्वतर संचरण करने में सफल हो सकी। इस सम्बन्ध में उनकी जीवनीकार शान्ति जोशी ने तटस्थता अपनाते हुए लिखा है "खुलने के अर्थ में पंत का आज भी कोई मित्र है, अपना है, कहना कठिन ही है। मन से वे सदैव एकाकी ही रहे हैं।"[१] उनकी राग-भावना प्रेमलोक-मंगल और मानव-कल्याण के मनःस्वप्न और आकांक्षा में परिवर्तित हो गयी जिसकी प्रतिस्थापना उन्होंने 'ज्योत्स्ना' में भाव और शिल्प के माध्यम से की है तथा 'लोकायतन' सस्कृति पीठ द्वारा इसकी मूर्त स्थापना का भी प्रयत्न किया जो प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण सफल न हो सका।

पूर्णरूपेण साहित्य को समर्पित

तो इस समय मन में उठने वाले आत्मा, जगत्, धर्म, नैतिकता, दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर पाने और व्यथित हृदय को शान्त करने के लिए पंत ने उपनिषद्, गीता, रामायण, रामकृष्ण वचनामृत, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पातञ्जलि, योगवाशिष्ठ, रस्किन, टालस्टाय, कार्लाइल, थोरो, इमरसन आदि विचारकों का गम्भीर अध्ययन किया। गीता तथा बाइबिल से उन्हें विशेष आत्मतुष्टि का अनुभव हुआ। वस्तुतः सन् '२२ से '३१ तक का काल पंत के अन्तर्जीवन का काल है। वह वैचारिक संघर्ष, व्यापक, गहन अध्ययन और आन्तरिक अनुभूतियों का काल है। इस काल में सन् '२२ से '२६ तक वैचारिक संघर्ष की प्रमुखता रही और सन् '२६ से '३१ तक सूक्ष्म अनुभूतियों की। सन्

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ३५७।
२. वही, पृ० ५१।

'२६ से अनेक प्रकार के आन्तरिक अनुभव अपने आप ही ज्ञान के विभिन्न स्तरों की पुस्तक के पृष्ठों की भाँति पंत की आँखों के सामने खुलने लगे और उन्हें चैतन्य के भीतरी स्तरों का थोड़ा-बहुत आभास मिलने लगा।[१] इसके बाद भी वे एक अधिक सर्वाङ्गीण दर्शन की खोज में सतत सबल रहे और अन्ततः उनका परिचय अरविन्द दर्शन से हुआ। इसकी विशद चर्चा हम तत्सम्बन्धी अध्याय में करेंगे।

सन् १६२२ में पंत जी की 'उच्छ्वास' रचना प्रकाशित हुई। प्रतिक्रिया-स्वरूप किसी ने इसका समर्थन किया और किसी ने अनुपयोगी बताया। उत्साहित करने वालों में श्रीधर पाठक का नाम उल्लेखनीय है। आज यह रचना हिन्दी साहित्य की सुन्दरतम कृति के रूप में स्वीकार की जाती है। 'उच्छ्वास' व एक अन्य रचना 'आँसू' को जोड़ कर हिन्दी का मेघदूत कहा गया है। अब ये दोनों रचनाएँ 'पल्लव' में संगृहीत हैं।

'पल्लव' का प्रकाशन सन् १६२६ में हुआ, जिसने पंत को हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में स्थान दिलाया। इसकी भूमिका उन्होंने साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव पर अध्यक्ष पद से दिये गये रत्नाकर जी के भाषण के उत्तर में लिखी थी। इसे छायावादी काव्य का घोषणा-पत्र कहा गया—इसमें ब्रजभाषा और रीतिकाव्य के विरुद्ध खड़ी बोली और नयी कविता के महत्त्व का सशक्त प्रतिपादन किया है। उस पर निराला जी की विरोधी आलोचना के कारण उस वर्ष 'पल्लव' को मंगलाप्रसाद पारितोषिक न मिल सका। परन्तु सन् '२६ में लिखी हुई 'पल्लव' की यह भूमिका आज भी मूल्यवान् है। इस संग्रह की कविताओं को प्रायः सभी विचारधाराओं के समीक्षकों ने भाव, विचार तथा काव्यकला की दृष्टि से पंत जी का सर्वश्रेष्ठ काव्यसंग्रह माना है।

पंत जी को साहित्य-जगत् में एक ओर कवि-रूप में मान्यता एवं प्रसिद्धि प्राप्त हो रही थी तो दूसरी ओर विरोध भी हो रहा था। सन् १६२६ में आजकल के हिन्दी कवि और कविता शीर्षक से 'सुकवि किंकर' छद्मनाम से महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पंत के काव्य पर कटु व्यंग्य प्रहार किया। पंत ने इस विरोध के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प किया और इसका उत्तर गद्य और पद्य दोनों में दिया। पद्य गुञ्जन में संगृहीत है और गद्य 'वीणा' की

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० ३५७।

विज्ञप्ति में लिखा था परन्तु यह भी द्विवेदी जी के सशक्त विरोध के कारण उसमें छपने के बाद भी निकलवा दिया गया। अब यह गद्य-पद्य में 'विज्ञप्ति' शीर्षक से संगृहीत है। पंत इस साहित्यिक संघर्ष में सफल रहे और कुछ समय पश्चात् स्वयं द्विवेदी जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि "मैं सरस्वती से प्रार्थना करता हूँ कि वे कमलवन में विचरण करना छोड़कर पंत जी की जिह्वा पर विराजें।"[1]

इन्हीं दिनों 'जीव नियति थी दारुण सुन्दर' रूप में नियति ने पंत का सांसारिक सुख-वैभव छीन लिया और भाइयों के व्यापार में घाटा तथा ६२,०००) रुपये का कर्ज चुकाने के लिए 'दृढ़ प्रस्तर प्रासाद पिता का' (देवी भवन) बेचना पड़ा—"मेघखण्डवत् लीन गगन में।" यह विषम स्थिति 'अब घर द्वार नहीं, निर्जन मग' रूप में प्रकट हुई। दारुण नियति का यह चक्र लगभग दो वर्ष तक चलता रहा और इस बीच उनके मँझले भाई रघुवरदत्त जी, बहनें माधवी तथा रुक्मिणी और रघुवरदत्त जी तथा हरदत्त जी की बड़ी लड़कियाँ और दो चचेरे भाई तथा अन्त में पिता गंगादत्त जी को मिला कर लगभग आठ-दस व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इन परेशानियों के बावजूद उनका कवि-मन कुण्ठित नहीं हुआ, जीवन-दृष्टि अंशतः परिवर्तित हुई और भौतिक सत्ता के प्रति अनास्था उत्पन्न हुई—

जड़ में जीवन की
नींव न गहरी, वह चेतन में।[2]

'अब मैं था, मन था, दुःख का वन'—इस विपर्यस्त जीवन-संघर्ष का सामना पंत ने साहसपूर्वक किया और सदैव आर्थिक और भौतिक रूप से सम्पन्न एवं निश्चिन्त व्यक्ति अब इस भीषण आर्थिक परिवर्तन को सुलझाने में प्रयत्नशील हुआ। सन् १६२६ में उन्होंने कुछ अंग्रेजी कहानियों तथा असगर गोंडवी की सहायता से 'उमर खैय्याम' की रुबाइयों का अनुवाद किया जो 'मधुज्वाल' के नाम से प्रकाशित हुई।

जीवन-झंझा अभी पूर्णरूप से शान्त नहीं हुई थी—इन झंझावातों ने उनके मन और शरीर को अवसन्न कर दिया था, तिस पर अथक परिश्रम, उनका कोमल शरीर इतना कुछ सह नहीं पाया और एक दिन लू लग जाने से वे बीमार

१. कवियों में सौम्य सन्त—बच्चन, पृ० १७८।
२. वाणी (आत्मिका)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२४।

हो गये। अस्वस्थता निर्बलता के कारण दीर्घकालीन हो गयी। उचित इलाज के लिए वे अपने एक सम्बन्धी डॉ० नीलाम्बर जोशी के यहाँ भरतपुर चले गये और तीन मास तक वहाँ रहने के बाद बिजनौर अपनी फुफेरी बहन के यहाँ चले गये और ग्रीष्मारम्भ के समय सन् १६३० में स्वास्थ्य-लाभ के लिए अल्मोड़ा चले गये और लगभग एक वर्ष तक वहाँ रहे। इस प्रकार उनके जीवन के तीन दशक की पूर्ति अल्मोड़ा के स्वास्थ्य-लाभ के साथ आशावाद में परिवर्तित होती दृष्टिगत हुई। उनकी मनःस्थिति व आस्था की अक्षुण्णता, अकुण्ठित कवि-मन तथा तटस्थता उनकी वेदान्ती की-सी समत्व भावना और साहस का परिचय देती है।

सन् १६३१ से सन् १६४० तक का अधिकांश समय पंत ने कालाकाँकर में बिताया। यह स्थान अवध का एक राज्य, इलाहाबाद से प्रायः ४५ मील दूर प्रतापगढ़ जिले में स्थित है। लम्बी अस्वस्थता के उपरान्त उन्हें ऐसे ही शान्त एकान्त वातावरण की आवश्यकता थी और कुँवर सुरेश सिंह के आग्रह पर वहाँ के स्नेह-द्वार उनके लिए अचानक खुल गये। सुरेश-परिवार, घर-सा सहज स्नेहसिक्त व्यवहार, एकान्त, प्रकृति सौन्दर्य, गंगा-तट तथा एकान्त भीटे पर स्थित उनकी काटेज 'नक्षत्र', इन सभी के आकर्षण के फलस्वरूप उनकी युवावस्था के स्वर्णिम वर्ष वहाँ वानप्रस्थ स्थिति में व्यतीत हुए। यह उनके जीवन का वह महत्त्वपूर्ण काल था जब उन्होंने ठोस धरती पर चलना सीखा और उनकी सुकुमार कल्पनाओं, आदर्शों, जीवन की विषमताओं ने उनकी काव्य-चेतना को मानवीय संवेदना का संस्पर्श कराया। यहाँ के ग्रामीण जीवन के दारुण दुःख और असह्य वेदना का प्रत्यक्ष दर्शन कर उन्हें अनुभव हुआ कि पल्लवकालीन मर्मपूर्ण जीवन-सौन्दर्य ही काव्य-सत्य नहीं है बल्कि भू-स्वर्ग की स्थापना साहित्य के सत्य का वांछित स्वरूप है।



कालाकाँकर के दो वर्ष के अपने प्रथम प्रवास-काल में कवि ने 'गुञ्जन' के अधिकांश गीतों एवं 'ज्योत्स्ना' नामक रूपक का प्रणयन किया। अध्ययन-मनन एवं साधना की दृष्टि से अनुकूल वातावरण प्राप्त कर वे पिछले वर्षों के मानसिक संघर्ष को रूप दे सके। शायद नवीन अनुसंधान करने में भी सफल हो सके। महादेवी जी के शब्दों में 'वे कई वर्ष कालाकाँकर में रहे। उनके क्षेत्र-संन्यास का अर्थ समझने जाकर मैंने उन्हें जिस उत्साह-भरी स्थिति में पाया उसने मेरे प्रश्न को उत्तर बना दिया। टीले पर बनी अपनी उस कुटी का 'नक्षत्र'

नाम रख कर वे किसी नवीन सृजन की दिशा का अनुसंधान करने में लगे हुए थे।'[१] 'गुञ्जन' के अनेक प्रगीत भावना व विचारधारा की दृष्टि से काफी प्रौढ़ हैं। 'चाँदनी' व 'नौका-विहार' इस संग्रह की ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य की प्रौढ़तम व समृद्ध रचनाएँ हैं। नवीन जीवन-दृष्टि, आत्म-संस्कार एवं आत्मोन्नयन का उल्लास उन्मन गुञ्जन के रूप में प्रस्फुटित हुआ। यह आनन्द उन रहस्यात्मक अनुभूतियों का परिणाम था जो उन्हें पल्लव-प्रकाशन काल में हुई थीं—अब उन्हें जीवन-यथार्थ के प्रति एक नवीन सौन्दर्य-बोध हुआ। चूँकि उनकी भीतरी सत्यान्वेषी सौन्दर्य भावना सदैव एक विकसित होते रहने वाले व्यक्तित्व की भाँति समान उत्तरोत्तर विस्तृततर और विशालतर समन्वयों में प्रकट होती रही है इसलिए विकास के इस स्तर पर पहुँचने पर उन्हें बाह्य सौन्दर्य में अन्तःसौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत हुआ। "भीतरी आनन्द के स्पर्श ने उन्हें आत्म-संस्कार, आत्मोन्नयन, आत्म-समर्पण तथा आत्मसंयमन के लिए प्रेरणा दी।"[२] 'इस भाव से सम्बन्धित अनेक कविताएँ 'गुञ्जन' में यत्र-तत्र बिखरी हैं। इस महत् अन्तःप्रकाश सागर में वे डूब गये—

मैं रे प्रकाश में गया बोर
चिर मुंदे मर्म के गुहाद्वार,
किस स्वर्ण रश्मि ने आर पार,
छू दिया हृदय का अन्धकार।[३]

कवि इस 'स्वर्ण-रश्मि' का स्पर्श पा मंगलाशा की प्रार्थना करता-सा 'ज्योतिर्मय' जीवन की महत् कल्पना करता है—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन[४] !

जीवन के समतल में सुख-दुःख को संतुलित भाव से ग्रहण करना, आत्म-त्याग, प्रेम आदि इन कविताओं का मुख्य सन्देश है—

---

१. पथ के साथी—महादेवी वर्मा—पृ० १११।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २३३।
३. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २८।
४. वही—पृ० ७८।

मानव जग में बँट जाएँ, सुख दुःख से और दुःख सुख से ।[१]

\+ \+ \+

मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुःख को अपनाना ।[२]

इस प्रकार गुञ्जन वैचारिक स्तर पर प्रौढ़ होने के साथ कला-शिल्प की दृष्टि से भी पर्याप्त प्रौढ़ रचना है। 'गुञ्जन' में हम कवि का जीवन-क्षेत्र के भीतर प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्य-शैली को भी अधिक संयत और व्यवस्थित पाते हैं।[3] 'ज्योत्स्ना' उन रहस्यात्मक अनुभूतियों का संकेत है जिसने उनके सम्पूर्ण चिन्तन को विश्व-जीवन की ओर झुका दिया। इसमें कवि ने अपने विश्व-जीवन के स्वप्न को उतारने का प्रयत्न किया है। यह एक कल्पना-प्रसूत रूपक है और कवि की उस समय की सौन्दर्य-शिल्प सम्बन्धी धारणा का परिचायक भी है। उस समय उनकी जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक व लोक-जीवन सम्बन्धी धारणाएँ थीं उनका स्वरूप भी उपस्थित हुआ है। इसके अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' में 'पल्लव' का कलापक्ष है जो पंत के भावी विचार-दर्शन की भूमिका है। गुञ्जन का उल्लास आत्म-कल्याण की भावना से प्रेरित है जो ज्योतिर्मय जीवन से जग के उर्वर आँगन में बरसने की प्रार्थना करता है तो 'ज्योत्स्ना' की सौन्दर्य कल्पना विश्व-कल्याण के लिए बहिर्मुख हो उठी है—

हम मनः स्वर्ण के अधिवासी
जग जीवन के शुभ-अभिलाषी[४]

'सब मानव मानव हैं समान' इसका मूल स्वर है तथा इसे कवि ने अपने काव्य-दर्शन की कुञ्जी कहा है।

कालाकाँकर में दो वर्ष रहने के उपरान्त पंत जी अल्मोड़ा लौट आये। यहाँ उन्होंने कार्ल मार्क्स व फ्रायड का गम्भीर अध्ययन किया। मार्क्स-दर्शन सम्बन्धी ज्ञान उन्हें पूरनचन्द जोशी के प्रभाव में पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब उन्होंने मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों के प्रकाश में जीवन को समझने का

---

१. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।

२. वही—पृ० ६८।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८५१।

४. ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०।

प्रयास आरम्भ किया। गांधी जी के आदर्शवाद का व रूस के क्रान्तिवाद, सामाजिक यथार्थवाद की धारणा का प्रभाव भी पंत ने ग्रहण किया और प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन व विश्व-जीवन के प्रति उनकी आस्था दृढ़तर होती गयी। उस युग की अपनी इस नवीन विचारधारा व भावना को अपने परिवर्तित दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने 'युगान्त' में आरम्भिक अभिव्यक्ति दी है। एक प्रकार से 'युगान्त' उनके काव्य के एक युग (शुद्ध प्रकृति चित्रण) का अन्त है। 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया' कुछ अंशों में छोड़कर वह 'बाले के बाल जाल' में तो नहीं उलझे, हाँ प्रकृति से अधिक मानव को महत्त्व देने लगे—

सुन्दर हैं सुमन, विहग सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम
निर्मित सबकी मिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में निर निरुपम।[1]

मनुष्य को अपने भीतर संतुलन रखने के एकान्त आग्रह में अब व्यापकता आ गयी और उन्होंने अनुभव किया कि बाह्य दृष्टि से उन्नत होने के साथ-साथ मनुष्य को भीतर से भी नव-मानव के रूप में बदलना होगा। इस प्रकार 'युगान्त' की भावाभिव्यक्ति मानसिक रूप से कवि के मौलिक परिवर्तन व गम्भीर विश्वासों के जन्म लेने की सूचना देती है। मानव-जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ ही कला-शिल्प सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। कवि का ध्यान पहली बार प्रकृति मुख से हट कर मानव मुख की ओर गया। इसका प्रकाशन काल १६३६ का अन्त है। १६३६ में पंत जी का 'युगान्त' देखने को मिला, जिसका आवरण पृष्ठ महादेवी जी ने बनाया था। चित्र में पंत जी के काव्य पर रवि बाबू के प्रभाव का, अर्थात् छायावाद का अन्त परिलक्षित था। वैसे भी उन दिनों पंत जी की चिन्ता-धारा पद्मा के कवि को पीछे छोड़ कर साबरमती के संत की ओर वेग सहित प्रवाहित थी। पाश्चात्य विज्ञान तथा नृशास्त्र के अध्ययन का प्रभाव भी उन्हें नये क्षितिज की ओर आमन्त्रण दे रहा था। कार्ल मार्क्स के विचार भी पंत जी को प्रभावित करने लगे।[2] उन दिनों कवि पंत के मन में विचारों व भावनाओं का मन्थन इतना था कि वह हाड़-मांस के मनुष्य के बजाय विश्वासों, विचारों व भावनाओं

---

१. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५५।
२. स्मृतिचित्र (संस्मरण)—नरेन्द्र शर्मा, पृ० ६०।

के संपुञ्जन के रूप में जी रहे थे। तभी से उनका मन मानव-मूल्य व जीवन-मूल्यों के प्रति सदैव सजग रहा। उनकी यह सजगता अनेक रूपों में आज तक जारी है। 'पल्लव' के बाद की सभी रचनाओं में जीवन की पूर्णता की खोज का सतत प्रयास मिलता है—

सुन्दरता का आलोक स्रोत,
है फूट पड़ा मेरे मन में;
जिससे नवजीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आँगन में।[1]

जीवनोन्मुखता की इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि उनकी व्यक्तिगत समस्याओं, मार्क्स-दर्शन व बाइबिल-अध्ययन के फलस्वरूप निर्मित हुई।

उपर्युक्त मनःस्थिति के अनन्तर अल्मोड़ा में गांधी जी के दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके भाई देवीदत्त जी अल्मोड़ा जिला कांग्रेस के मन्त्री थे। जेल से (१६३४ में) छूटने के बाद वे दिल्ली गांधी जी से मिलने गये तो पंत भी उनके साथ गये। यह भेंट अल्पकालीन होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। कवि को इन क्षणों में गांधी जी के महानतम व्यक्तित्व का अन्तःस्पर्श प्राप्त हुआ। उन पर अपनी पृथक् रचना 'बापू के प्रति' सन् १६३६ में इस भेंट के उपरान्त लिखी। इस भेंट के पश्चात् मानव जीवन के प्रति नवीन आस्था उनके मन में दृढ़ हो गयी और साथ ही, विचार-जगत् में भी नवीन परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप वह पल्लव-गुञ्जनकालीन कोमलकान्त कलामयी अपार्थिवता के अंचल को छोड़ और कला-शिल्प को अप्रमुख मानकर भाव-पक्ष तथा जीवन-तत्त्व को प्रधानता देने लगे। हमारे विवेच्य विषय की दृष्टि से उनके जीवन में यह परिवर्तन अथवा तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रभाव के फलस्वरूप जब-जब कवि अन्तःबाह्य संघर्ष से प्लावित हुआ, उसके मन ने महात्मा जी का स्मरण किया जिसने सदैव उन्हें बल प्रदान किया। उनके काव्य में मुखरित गांधीवाद का कारण भी यही है। गांधी जी के अतीन्द्रिय, आत्मिक व सूक्ष्म प्रभाव ने पंत की चेतना व आत्मा को नवीन स्फुरण से स्पन्दित किया, जिसका स्पष्ट रेखांकन हमें उनके काव्य में दृष्टिगत होता है।

सन् १६३६ से १६४० तक का समय पंत के कालाकाँकर के दूसरे प्रवास का काल रहा। यह निवास प्रथम निवास से अधिक महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि

१. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३३।

इस अवधि में उन्होंने नवीन सामाजिक मूल्यों, युग-प्रवृत्तियों तथा लोक-जागरण सम्बन्धी नये सिद्धान्तों तथा उपलब्धियों पर पुनः चिन्तन किया। सभी भौतिक सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध थीं, सुरेश-परिवार की ओर से पर्याप्त पारिवारिक स्नेह प्राप्त था, प्रकाशवती जी 'अन्तरंग संस्मरण' में लिख देती हैं—"जहाँ दो-चार बर्तन रहते हैं वहाँ टुन-फुन जरूर होती है। बाप-बेटे में और भाई-भाई में कभी-कभी मन-मुटाव हो जाता है, लेकिन उस दस-बारह वर्ष के लम्बे समय में कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि इन दोनों मित्रों के बीच मनोमालिन्य का वातावरण उपस्थित हुआ हो।" फिर भी उनका एकाकी मन निर्जनता एवं एकाकीपन की भावना से विचलित हो जाता और गा उठता—"खोज रहा एकाकी जीवन साथी स्नेह सहारा।" अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु उन्होंने स्वयं को प्रकृति-निरीक्षण, अध्ययन-मनन और ग्रामीण जीवन की विपन्नता के विश्लेषण में लगा दिया। ग्रामीण जीवन का दुःख-दारिद्रय उनके लिए सर्वथा नवीन था। ऐसा कटु यथार्थ उन्होंने अभी तक स्वयं अपनी आँखों से नहीं देखा था। वह इसके पुनर्निर्माण पर विचार करने लगे। सौन्दर्य का कवि इस दयनीय दशा को देख विचलित हो उठा। परन्तु युग की वास्तविकता को आत्मसात् करना उनके आन्तरिक जीवन-संघर्ष और भावनात्मक मनोविकास के लिए आवश्यक था।

कालाकांकर में पंत ने मुख्यतः देश की रूढ़िबद्ध संस्कृति को समझा व उसका विश्लेषण किया। इस प्रवास-काल में उनकी मानसिक रचना-प्रक्रिया ने "युगवाणी", "ग्राम्या" में वाणी पायी है। इसमें ग्रामजीवन में प्रचलित मध्ययुगीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया का प्रकटीकरण है। "युगवाणी" कला-शिल्प की दृष्टि से "युगान्त" का स्वाभाविक विकास है।[1] यहाँ पहुँच कर कवि की दृष्टि प्रायः वस्तुनिष्ठ हो गयी और वह इसी दृष्टि से संसार की समस्त वस्तुओं को देखने और उनके मूल में स्थित विसंगतियों को दूर करने के प्रयत्न में व्यस्त दिखाई देता है। इसमें मार्क्सवाद के प्रति आग्रह स्पष्ट है—"हमारी सामाजिक मान्यताओं का जगत् क्यों और कैसे बदलता है और उसमें युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाता है—इसका सन्तोषप्रद निरूपण, इसमें सन्देह नहीं, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है।"[2] "युगवाणी" और "ग्राम्या" दोनों ही में एक समय

---

१. धर्मयुग, पृ० ४६—४ अक्टूबर, १९६४।

२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १८७।

में पंत के दो असमान विचारधाराओं (मार्क्सवाद व गांधीवाद) के आत्मसात् किये जाने का परिचय मिलता है। पंत के स्वतंत्र विचारक व्यक्तित्व ने इन दोनों विचारधाराओं को अपनी नवीन जीवन-दृष्टि की भूमिका में उतारा है। "ग्राम्या" की कविता जीवन से जगमगा उठी है। इसमें ग्राम का यथार्थ, जीवन्त, सरल व मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित हुआ है।

इन्हीं दिनों शान्ति-निकेतन जाने व कवीन्द्र रवीन्द्र से मिलने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ, परन्तु शान्ति-निकेतन का उन पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। वह उन्हें शान्त, सौम्य, सौन्दर्ययुक्त जीवन से भरपूर संस्था प्रतीत हुई, परन्तु देश में व्याप्त स्वतन्त्रता-संग्राम का कोई स्पर्श वहाँ उन्होंने न पाया।

सन् १९३८ में पंत ने कवि नरेन्द्र शर्मा के साथ "रूपाभ" नामक साहित्यिक आलोचनात्मक पत्रिका निकाली। वह प्रयाग से प्रकाशित होती थी तथा इसका उद्देश्य जनता के बीच स्वदेश को स्वतन्त्र बनाने के लिए चेतना जाग्रत करना था। इसके प्रथम अंक में पंत ने अपने विचारात्मक सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण का उल्लेख किया। इसमें छायावादी काव्य का सार-ग्रहण था और कविता के नये लक्ष्यों तथा दायित्वों की नींव डाली गयी थी। जिस प्रकार "पल्लव" की भूमिका में उनके आरम्भिक नवीन स्वच्छन्दतावादी काव्य का सैद्धान्तिक निरूपण होने के कारण उसे "छायावाद का घोषणा-पत्र" कहा गया उसी प्रकार "रूपाभ" का यह लेख "प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र" सिद्ध हुआ। आर्थिक कठिनाइयों एवं द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने के कारण एक वर्ष बाद इसका प्रकाशन बन्द करना पड़ा। इसके अतिरिक्त सुरेश सिंह द्वारा सम्पादित "कुमार" बाल-पत्रिका से भी पंत सम्बद्ध रहे।

पंत जी के जीवन के लगभग चार दशक "ग्राम्या" के प्रणयन तथा कालाकाँकर से विदा लेते हुए पूरे हुए। सन् १९४० में वे प्रयाग आ गये और कुछ दिन नरेन्द्र शर्मा के साथ रहे। उसके बाद बच्चन जी के साथ बेली रोड पर "बसुधा" में रहे। फिर गर्मियों में वे अल्मोड़ा चले गये और लगभग एक वर्ष तक वहीं रहे। यहाँ उनका सम्पर्क नटराज उदयशंकर के सांस्कृतिक कला केन्द्र से हुआ जहाँ कुछ समय उन्होंने नाटक की कक्षाएँ लीं। अपनी उस समय की विचारधारा को जिसमें उन्होंने 'सांस्कृतिक मान्यताओं के साथ भौतिक मान्यताओं का समर्थन किया है—आधुनिक-कवि भाग २ की भूमिका में संगृहीत किया।

सन् १६४२ के "भारत छोड़ो आन्दोलन" में अंग्रेजों द्वारा किये गये दमन व अत्याचार से कवि का मन अत्यन्त क्षुब्ध तथा दुःखी हो गया और उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक संघर्ष तो आवश्यक है ही, साथ-ही-साथ मनुष्य के भीतरी उत्थान के लिए समानान्तर रूप से सांस्कृतिक आन्दोलन भी उतना ही आवश्यक है। इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने इसी समय "लोकायतन" नामक व्यापक संस्कृति-पीठ की योजना बनायी जिसमें रंगमंच को सांस्कृतिक प्रेरणा का माध्यम बनाने का विचार किया गया। उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से इसके लिए दस हजार रुपये का अनावर्त्तक अनुदान भी प्राप्त हुआ परन्तु यह इस महत् योजना के लिए अल्प था अतः उसे स्थगित करना पड़ा। सन् १६४८ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एक बार फिर इस योजना को मूर्त करने का प्रयास किया परन्तु फिर वही अर्थाभाव, साहित्यिक गुटबन्दी, प्रतिस्पर्द्धा और अन्य कारणों से यह योजना केवल योजना बनकर ही रह गयी। अपने लोकायतन महाकाव्य में इस स्वप्न को कुछ अंश तक साकार करने में सफल हो सके हैं।

"लोकायतन" योजना का सफल न होना, अशान्त वातावरण उन्हें फिर से उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र ले आया और सन् '४२ से '४३ तक यानी जब तक इस केन्द्र का अस्तित्व रहा वे इससे सम्बन्धित रहे और यहाँ उन्हे भारतीय लोक नृत्यों के साथ अन्य नृत्यों को जानने का अच्छा अवसर मिला। यहाँ का नृत्य मण्डली के साथ उन्होने आगरा, कानपुर, लखनऊ, बड़ौदा, बम्बई आदि स्थानों का भ्रमण भी किया। इसी केन्द्र में श्री अरविन्द के सेक्रेटरी श्री ए० बी० पुराणी की पुत्री अनुसुइया भी नृत्य शिक्षा पाने आयी थीं और वे प्रायः अरविन्द के दार्शनिक विचारों की चर्चा करती थीं—उन्हीं से प्रेरित पंत को अरविन्द-साहित्य के प्रति अभिरुचि जाग्रत हुई। इसके अतिरिक्त वहीं अलमोड़े में ही एक प्रसिद्ध चित्रकार मि० ब्रूस्टर ने पंत जी और श्री अरविन्द के विचारों में कुछ साम्य का अनुभव कर उन्हें "लाइफ डिवाइन" का प्रथम भाग भेंट किया। अब तक उनका वह मानसिक द्वन्द्व जारी था जिसमें बार-बार यह प्रश्न उठता था कि सौन्दर्य और संस्कृति का व्यापक स्वरूप क्या है और पूर्ण विकसित समाज की स्थापना कैसे, किस रूप में और कब सम्भव होगी। वह लोक-जीवन की प्रगति के लिए सौन्दर्य आत्मोन्नयन के आकांक्षी थे—इसका हल न तो उन्हें मार्क्स की राजनीतिक-आर्थिक मान्यताओं में मिल रहा था और न

गांधीवाद में। "लाइफ डिवाइन" पढ़ने के उपरान्त उन्होंने श्री अरविन्द के अन्य ग्रन्थ "दि मदर", "लाइट आन योग", "थाट्स एण्ड ग्लिम्प्स" तथा "एसेज आन गीता" आदि का भी पारायण किया। श्री अरविन्द का सैद्धान्तिक संस्पर्श पा पंत के आत्म-मन्थन की अनेक गुत्थियाँ स्वतः समाधान पाने लगीं और उन्हें एक नवीन सौन्दर्य-दृष्टि प्राप्त हुई। पुनश्च केन्द्र में रहते हुए जहाँ एक ओर उनका दृष्टिकोण व्यापक हुआ वहीं दूसरी ओर वहाँ के अनियमित जीवन के फलस्वरूप उनके स्वास्थ्य पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और उन्हें टाइफाइड हो गया। इस बार भी उनकी परिचर्या डॉ० नीलाम्बर जोशी ने ही की, जो अब दिल्ली आ गये थे।

पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाने पर सन् १९४४ में पंत जी मद्रास गये जहाँ नटराज उदयशंकर, संस्कृति-केन्द्र बन्द हो जाने पर "कल्पना" वाक्चित्र का निर्माण कर रहे थे। इसके लगभग सभी गीत पंत ने लिखे थे। संयोगवश वहीं से वे नाट्य मण्डली के कुछ लोगों के साथ पाण्डिचेरी गये और श्री अरविन्द के दर्शन किये। जिस प्रकार गांधी जी के दर्शन से उन्हें आत्मबल प्राप्त हुआ था उसी प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन से व्यापक मानसिक क्षितिज व गहन सूक्ष्म आत्मबोध प्राप्त हुआ। श्री अरविन्द से कवि गहन रूप से प्रभावित हुए और फलस्वरूप उनके "स्वर्णकाव्य" अथवा "चेतनाकाव्य" का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका संकलन "स्वर्णकिरण" और "स्वर्णधूलि" संग्रहों में है। इनका प्रणयन मद्रास-प्रवास काल में ही हुआ जहाँ से पंत जी अनेक बार अरविन्दाश्रम गये।

सन् १९४६ में पंत जी बम्बई चले गये और लगभग दो मास नरेन्द्र शर्मा जी के साथ रहने के उपरान्त पुनः अपने चिरप्रिय गृह्यनगर प्रयाग लौट आये और "स्वर्णधूलि", "स्वर्णकिरण" और "मधुज्वाल" (१९२९) का प्रकाशन कराया। यहाँ वे कुछ समय तक बच्चन-परिवार के साथ एडेल्फी में रहे और कुछ समय श्री कृष्णानन्द पाण्डेय के साथ बेली रोड पर रहे। यहाँ "युगान्तर" और "उत्तरा" की रचनाएँ लिखी गयीं। "युगान्तर" का प्रकाशन १९४८ में तथा "उत्तरा" का '४९ में हुआ। "युगान्तर" की सैंतालिस रचनाओं में अधिकांश बापू के पश्चात् उनको श्रद्धांजलि हैं। शेष अन्य महापुरुषों—नेहरू, अरविन्द आदि के प्रति हैं और कुछ उनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति हैं। "उत्तरा" की ७५ रचनाओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अरविन्द विचारधारा को वाणी दी गयी है।

सन् १९५० से १९५७ तक पंत ने आल इण्डिया रेडियो में हिन्दी के सम्मानित परामर्शदाता के रूप में कार्य किया। यहाँ से उनके तीन गीति नाट्य रजतशिखर (१९५१), शिल्पी (१९५२) और सौवर्ण (१९५७), जिनमें ११ पद्यबद्ध रूपक संगृहीत हैं, प्रसारित और प्रकाशित हुए। इनमें युगीन समस्याओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टिपात एवं नवीन मानवता की कल्पना की गयी है। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते पंत जी को एक स्थिर जीवन-दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी जो कि उनकी आगामी कृतियों में नवीन भाव, विचार एवं कला-शिल्प लेकर सामने आयी है। उनका पूर्वकथित मानसिक द्वन्द्व और अन्तर्मन्थन अब स्थितप्रज्ञ अवस्था प्राप्त कर चुका था। सन् १९५४ में भाई देवीदत्त जी की दुर्घटनावश आकस्मिक मृत्यु ने उन्हें हार्दिक कष्ट पहुँचाया। परन्तु उनके देवदारु की भाँति दृढ़ व्यक्तित्व ने सदैव उस इस्पाती तत्त्व का परिचय दिया जिसने जीवन-संघर्ष में कभी हार नहीं मानी।

"अतिमा" का प्रकाशन सन् १९५५ में हुआ। इसमें १९५४ से लेकर फरवरी ५५ तक की ५५ रचनाएँ संगृहीत हैं। "वाणी" में इसके बाद की ४८ रचनाएँ हैं। इसका प्रकाशन १९५८ में हुआ। "कूर्माञ्चल के प्रति" और "आत्मिका" शीर्षक इनकी रचनाएँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यतः दोनों कृतियों में एक ही विचारधारा व्याप्त है। "अतिमा" के दृष्टिकोण का विकसित रूप ही "वाणी" है। १९५८ में ही "कला और बूढ़ा चाँद" नामक "रश्मिपदी" काव्य का प्रकाशन हुआ। कला-शिल्प की दृष्टि से इसमें नवीनता दृष्टिगत हुई। इसकी ९० रचनाएँ विविध विषयों पर हैं जिनमें भावाभिव्यक्ति मुख्यतः प्रतीकों और संकेतों द्वारा की गयी है। अरविन्द-दर्शन की अन्तश्चेतना के आरोहण-अवरोहण और नव-मानव की संरचना पर इस कृति में विशेष बल दिया गया है। इसी कृति पर सन् १९६१ में साहित्य अकादमी की ओर से पाँच हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया। "चिदम्बरा" का प्रकाशन भी १९५८ में हुआ, इसमें युगवाणी (३७) से अतिमा (५७) तक अर्थात् बीस वर्षों का कृतित्व संगृहीत है। इसका विशेष महत्त्व इसकी भूमिका की दृष्टि से है जिसमें कवि ने आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम और शान्ति को मानव सभ्यता, संस्कृति और धर्म के लक्ष्य रूप में स्थापित किया है। इस कृति पर उन्हें १९६८ में भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सन् १९६० में पंत जी की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य में दिल्ली में उनके सम्मान में एक आयोजन किया गया जिसमें मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी "रत्नावली", महादेवी वर्मा ने अपनी "सप्तपर्णा", बच्चन जी ने "कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत", नरेन्द्र शर्मा ने अपनी "द्रौपदी" तथा अज्ञेय जी ने "रूपाम्बरा" कृतियाँ उन्हें समर्पित कीं तथा पंत स्मृति-चित्र अभिनन्दन ग्रन्थ भी उन्हें भेंट किया गया।

सन् १९६१ में राष्ट्रपति की ओर से दी जाने वाली "पद्मभूषण" की विशिष्ट उपाधि उन्हें प्रदान की गयी। इसी समय सोवियत-भारतीय सांस्कृतिक संघ की ओर से आमन्त्रित किये जाने पर वे ओमप्रकाश (राजकमल प्रकाशन) के साथ रूस गये व अपनी चिर-अभिलषित विदेश-यात्रा के स्वप्न को पूर्ण कर सके। मास्को से फ्रैंकफर्ट, पेरिस और लन्दन भी गये। इस यात्रा के अनुभव-स्वरूप उन्होंने महसूस किया कि विश्व-शान्ति के लिए पूर्व और पश्चिम का मिलन नितान्त आवश्यक है।

एक स्थिर जीवन-दृष्टि प्राप्त कर लेने के उपरान्त कवि का जीवन एक शान्त पावन सरिता की भाँति उसकी रचनाओं के माध्यम से सतत प्रवहमान रहा। सन् १९६४ में "लोकायतन" प्रकाशित हुआ जिसमें कवि के महत् जीवन की कल्पना अवतरित हुई है, परन्तु आलोचनात्मक रूप से इस पर अनेक आक्षेप-विक्षेप हुए। फिर भी यह युग महाकाव्य अपने में विशिष्ट है जिसमें कवि ने जीवन-सत्य को उजागर कर धरती पर दिव्य, सरल और मंगलमय जीवन का आह्वान किया है। १९६५ में इस कृति पर विशेष रूप से तथा समस्त कृतित्व पर सामान्य रूप से पंत जी को "सोवियत लैण्ड-नेहरू एवार्ड" (पन्द्रह हजार रुपये) मिला और '६६ में उन्हें पुनः रूस-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी वर्ष उनको विशिष्ट साहित्यिक सेवाओं के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने दस हजार रुपये विशेष पुरस्कारस्वरूप प्रदान किये और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें "साहित्यवाचस्पति" की उपाधि से विभूषित किया। इस उपाधि के अतिरिक्त सन् १९७० में विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन की ओर से उन्हें डी० लिट्० की उपाधि दी गयी। इसी वर्ष वे साहित्य अकादमी के सम्मान्य सदस्य के रूप में निर्वाचित हुए। डी० लिट्० की उपाधि क्रमशः गोरखपुर विश्वविद्यालय (१९७१), कानपुर विश्वविद्यालय (६ मार्च, १९७६), कलकत्ता विश्वविद्यालय (१३ मार्च, १९७६) तथा राजस्थान विश्वविद्यालय (१५ मार्च, १९७६) ने भी प्रदान की।

चेतना-काव्य के शिखर "लोकायतन" महाकाव्य के बाद इसी शृंखला की पंत की विकासवादी कृतियाँ "पौ फटने से पहिले" (१६६७), "किरण-वीणा" (१६६७), "पतझर : एक भावक्रांति" (१६६६), "गीत-हंस" (१६६६), "शख-ध्वनि" (१६७०), "शशि की तरी" (१६७१) और "समाधिता" (१६७३) प्रकाशित हुईं। इसके पश्चात् सन् १६७५ में उनके चेतना-काव्य की एक मेरु-कृति[1] "सत्यकाम" प्रबन्ध काव्य के रूप में हमारे सामने आयी। इसमें कवि ने वैदिक युग के उपयुक्त आध्यात्मिक जीवन को अरण्य युग की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति दी है जिसमें मानव समाज के मनोरागाध्यात्मिक रूपान्तरण की कामना की है। कवि की अद्यतन रचनाओं में "गीत-अगीत" तथा "संक्रान्ति" हैं, जिनमें वर्तमान युग की वास्तविकता का चित्रण हुआ है। यह दोनों ही प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस प्रकार पंत-व्यक्तित्व ही पंत-काव्य है और पंत-काव्य ही पंत-व्यक्तित्व "जो नर्मी, जो नजाकत, जो कोमलता या सुकुमारता उनकी कविता की विशेषता है वही बिल्कुल वही, उनके चरित्र की विशेषता है।"[2] जीवन के सतहत्तर वर्ष पार कर चुकने पर भी यह कला-शिल्पी आज भी सृजनशील है और यह सृजन-पथ उनकी सौन्दर्य-दृष्टि और अन्तश्चेतना के प्रकाश से प्रकाशित युग-जीवन को सदैव एक उन्नत एवं ऊर्ध्वतर मार्ग के अनुसरण का आह्वान करता रहेगा। अन्तश्चैतन्य और अन्तर्बोध की दृष्टि से जीवन-तत्त्व को सर्वोत्तम मूल्य मानते हुए—इस नवीन आस्था से जिस नवीन भावना-रस तथा सौन्दर्य का प्रकाश कवि ने संचित किया उसे वह लोकमंगल के लिए समस्त विश्व में विकीर्ण कर देना चाहता है। नवीन विश्वमानव-चेतना के प्रति यही कवि का आशीर्वाद है।

मैं मुट्ठी भर-भर बाँट सकूँ जीवन के स्वर्णिम पावक कण
जन मन में मैं भर सकूँ अमर संगीत तुम्हारा सुर-मादन।[3]

---

१. परिषद् पत्रिका (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)—अप्रैल १६७५, पृ० २।
२. स्मृति चित्र (संकलन)—अमृतराय (शांत सौम्य मुद्रा), पृ० ६०।
३. सुमित्रानन्दन पंत—उत्तरा, पृ० ८२।

छायावाद

छायावाद हिन्दी साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में भक्तिकाल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग में नहीं हुआ। यह शब्द आधुनिक हिन्दी कविता का सबसे अधिक प्रसिद्ध शब्द है और साथ ही, ऐसा शब्द भी जिसे सबसे कम समझा गया है। आधुनिक कविता के अनेक वादों में यह सबसे अधिक विवादास्पद है।

हिन्दी-आलोचना क्षेत्र में इस शब्द को लेकर जैसी उलझन खड़ी की गयी, इसके अर्थ के सम्बन्ध में जैसा मतभेद रहा, शायद ही कभी किसी शब्द के सम्बन्ध में ऐसी उलझन और विचार-विभेद उत्पन्न हुआ।[1] हिन्दी के अनेक आलोचकों और विचारकों ने छायावाद के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनका आपस में मतभेद तो है ही, साथ ही, वे अपने में उलझी हुई भी हैं। कुछ आलोचक छायावाद की प्रेरणा अंग्रेजी और बँगला कविताओं से आयी मानते हैं, कुछ छायावाद को रहस्यवाद के अन्तर्गत रखते हैं, अन्य छायावाद को शुद्ध भारतीय वस्तु मानते हैं। कुछ इसे आधुनिक युग का विद्रोह मानते हैं। छायावाद के आरम्भ और उसके प्रवर्तक के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,[2] श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री राय कृष्णदास, सियारामशरण गुप्त, सुमित्रा-नन्दन पंत, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रिन्सिपल मनोरंजन, श्री प्रभात, जानकीवल्लभ शास्त्री, शिवनाथ, आरसी प्रसाद सिंह[3] आदि वरिष्ठ साहित्यकारों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं जो व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर आधारित हैं। इस मत-वैभिन्य के कारण ही पर्याप्त शोध और विश्लेषण के उपरान्त आज भी कोई निश्चित निष्कर्ष स्थापित नहीं किया जा सका है। वस्तुतः छायावाद जहाँ से भी आया हो, आज वह हिन्दी साहित्य का अक्षय भण्डार बन चुका है और प्रायः सन् १९१६ से सन् १९३६ तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—विश्वम्भर मानव, पृ० ३४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४८।

३. अवन्तिका—काव्यलोचनांक—जनवरी, १९५४—सम्पादक-लक्ष्मीनारायण सुधांशु।

समृद्ध काव्य-प्रवृत्ति के लिए यह शब्द हिन्दी साहित्य में रूढ़ भी हो चुका है। प्रस्तुत प्रबन्ध में उपर्युक्त मत-वैभिन्य का विश्लेषण व विस्तार अपेक्षित नहीं है, इसलिए यहाँ हम संक्षेप में छायावाद-युगीन परिस्थितियों, उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उस पृष्ठभूमि में अपने मूल विषय का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

"छायावाद के जन्म का इतिहास समझने के लिए हमें तत्कालीन परिस्थितियों को समझना पड़ेगा। कोई भी प्रबल साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र अंग्रेजी या बँगला प्रभाव से उद्भूत नहीं हो सकती और न किसी विदेशी प्रवृत्ति की नकल में किसी भाषा में कोई नवीन प्रवृत्ति पनप सकती है। विगत युग की साहित्यिक प्रवृत्ति खड़ी नहीं रह सकती जब तक उसकी जड़ें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की गहराई में न प्रविष्ट हों। छायावाद ईसाई सन्तों या रवीन्द्र की कविताओं या अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की नकल नहीं, वह मात्र द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया भी नहीं। वह देश के तद्युगीन सामाजिक जीवन और उसकी परिस्थितियों की युग की काव्य-चेतना पर प्रतिक्रिया है। उसकी जड़ तत्कालीन परिस्थितियों में है।"[१]

साहित्य जीवन का दर्पण है और सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि कारणों से परिस्थितियों के अनुसार जीवन की मान्यताएँ परिवर्तित होती रहती हैं; उसी प्रकार साहित्य भी जीवन के साथ-साथ बदलता जाता है। छायावाद की प्रेरक शक्तियाँ तद्युगीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के कारण परिवर्तित जीवन ही था। तत्कालीन जीवन ही छायावाद की प्रेरणाभूमि है। तत्त्वतः किसी भी साहित्यकार के सृजन के समुचित मूल्यांकन के लिए तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठिभूमि का ज्ञान अत्यावश्यक हो जाता है। साहित्यकार का सृजन देश-काल निरपेक्ष नहीं हो सकता। परिस्थितियों का प्रभाव परोक्ष रूप से साहित्यकार की चेतना पर पड़ता ही है, यही कारण है कि विभिन्न परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सृजन के मूल्य भी बदलते हुए दृष्टिगत होते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि परिस्थितियाँ साहित्यकार की चेतना का परिचालन करती हैं। युगीन घात-प्रतिघातों के मध्य ही युगान्तकारी साहित्य का सृजन होता है। साहित्यकार की चेतना नवीन दिशा का संकेत देती है।

१. कवि सुमित्रानन्दन पंत और उनका प्रतिनिधि काव्य—शिवनन्दन प्रसाद, पृ० २६।

परिवर्तनशील पृष्ठभूमि में पंत की साहित्य-साधना ने विभिन्न मोड़ लिये। छायावाद के संदर्भ में उनके कलागत एवं विषयगत भावबोध को समझने के लिए युगीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा। वैसे इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि किसी मौलिक साहित्य आन्दोलन की जड़ें बाह्य प्रभाव में न होकर स्वतः ही परिस्थितियों और आवश्यकताओं में होती हैं, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि छायावाद अपने युग की चेतना का प्रतिफलन था। इस काल की कविता ने विषय और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा नवीन आयाम प्रस्तुत किये। छायावादी काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव रहा।

सांस्कृतिक परिस्थिति

(१) १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में जाग्रत चेतना के नेतृत्वकर्ता हिन्दी-प्रदेश में स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३ ई०), बंगाल में राजा राममोहन राय (१७७२-१८३६ ई०), केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस (१८३४-८६ ई०) एवं उनके शिष्य विवेकानन्द (१८६३-१९०२ ई०), महाराष्ट्र में रानाडे, तिलक आदि महानुभावों के द्वारा हुआ। यह आश्चर्य का विषय है कि भारतीय समाज तथा संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव विरोधात्मक स्थिति में पड़ा। राजनीतिक तथा आर्थिक पराधीनता से उन्मुक्त होने का प्रयास पश्चिमी भौतिकवादी सभ्यता के विरुद्ध भारतीय आध्यात्मिक संघर्ष ही वस्तु-स्थिति में अव्यक्त रूप से भारतीय नवजागरण और सांस्कृतिक चेतना का मूल बना। यही सांस्कृतिक नवजागरण आगे चल कर राजनीतिक, आर्थिक संघर्ष का जनक सिद्ध हुआ।

(२) राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म-समाज (१८२८ ई०) सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों का अग्रदूत बना।[१] तत्कालीन

१. As a religion Brahma Samaj was based firmly on the vedanta of geneine Hindu tradition, but its outlook on life was neither Christian, nor Hindu but European, and derived its inspiration from the intellectual movements of the eighteenth century.—The Foundation of New India–K. M. Pannikkar, Pg. 27.

शिक्षित वर्ग का धार्मिक रूढ़ मान्यताओं के प्रति असंतोष बढ़ रहा था, हिन्दू धर्म के प्रति उनकी आस्था उठ चुकी थी। उनके लिए वही वस्तु मान्य, उपादेय और सार्थक थी जो यूरोपियन द्वारा स्वीकृत कर ली जाती थी। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक था कि सुधारवादी आन्दोलनों का स्वरूप ऐसा हो जो वैज्ञानिक और समय की माँग के अनुकूल हो। इस प्रवृत्ति का परिष्कार विभिन्न आन्दोलनों के माध्यम से हुआ।

(३) रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के रूप में दो महान् धार्मिक विभूतियों ने समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया। रामकृष्ण परमहंस धर्म और भक्ति के जीवन्त उदाहरण थे। अखण्ड पौरुष के प्रतीक स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य थे। विवेकानन्द ने परिस्थिति की मार्मिकता का अनुभव कर धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके द्वारा भारतीय जनता में आत्मगौरव की भावना जागृत हो सके। वस्तुतः सच्चे अर्थों में यह राष्ट्रिय भावना के संस्थापक थे। उनके लिए धर्म राष्ट्रवाद का प्रेरक था। उन्होंने तत्कालीन उभरती हुई नवपीढ़ी में भारत के अतीत के प्रति आस्था, आत्मविश्वास और आत्माभिमान की भावना का संचार किया। यों तो किसी भी सांस्कृतिक आंदोलन का आधार राजनीतिक नहीं था, लेकिन अव्यक्त रूप से स्वदेश-भावना और राष्ट्रियता की भावना का जागरण इन विविध आन्दोलनों से हुआ। विवेकानन्द द्वारा रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। भारतीय समाज पर उसका प्रभाव अनन्त रूप से पड़ा। यूँ तो विवेकानन्द के पूर्ववर्ती आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म में समाविष्ट हुई बहुत-सी व्यर्थ रूढ़ मान्यताओं का खण्डन कर उनका नवसंस्कार किया था, लेकिन विवेकानन्द का बौद्धिकता और मनोवैज्ञानिकता से पुष्ट धार्मिक चिन्तन समय की आवश्यकता के सर्वाधिक अनुकूल था। उनके द्वारा समर्पित शक्ति-पथ-साधना, आत्मबल, कर्मयोग तथा आत्माभिमान ने असामान्य और अदम्य प्रभाव डाला। भारतीय जनता में एक बार पुनः जीने की इच्छा जागृत हो उठी।

(४) रामधारी सिंह दिनकर ने विवेकानन्द को सेतु-बिन्दु स्वीकार किया है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं।[१] उन्होंने परम्परा से प्रचलित धार्मिक मान्यताओं की युगानुरूप व्यावहारिक, वैज्ञानिक

१. संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ४९७।

व्याख्या प्रस्तुत की जिसे सम्पूर्ण यूरोप और अमेरिका भी विस्फारित नेत्रों से देखने लगा था। हिन्दू धर्म की व्यापकता का आभास पश्चिम को विवेकानन्द के माध्यम से ही मिला था। सन् १८९३ में शिकागो-विश्व-धर्म-सम्मेलन में विवेकानन्द ने भारतीय हिन्दू धर्म की अपार धनराशि के कपाट खोल दिये। विदेशों में भी हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा का भाव जागृत हुआ। विवेकानन्द की मुख्य देन कर्म-भक्ति और ज्ञान का समन्वय था। उनकी धार्मिक व्याख्या में मुख्य आग्रह मानव की महत्ता का उद्घोष था। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म में समस्त धर्मों का समाहार हो जाता है। उनकी किसी भी धर्म के प्रति द्वेष भावना नहीं थी, लेकिन अन्य मान्यताओं के प्रति उन्हें रोष अवश्य था।

(५) तत्कालीन समस्त सांस्कृतिक आन्दोलनों ने प्रवृत्ति मार्ग को मान्यता दी थी। स्वामी जी ने परम्परा से स्वीकृत निवृत्ति मार्ग को नकारते हुए प्रवृत्ति मार्ग पर बल दिया। जीवन के प्रति निवृत्तिवादी दृष्टिकोण स्वीकार करने के कारण ही हिन्दू समाज पूर्णतया निष्क्रिय और निष्पन्द होता जा रहा था। तद्युगीन परिस्थितियों के जागरण हेतु निवृत्ति-भावना का आमूल उन्मूलन आवश्यक था। एक तो देश विदेशियों के हाथों पराधीनता के पाश में बँधा था, ऊपर से जीवन के प्रति अनास्थावादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज पूर्णतया निष्क्रिय और जड़ होता जा रहा था। अस्तु, ऐसी विकट परिस्थिति में एकमात्र प्रवृत्ति मार्ग ही सहायक हो सकता था। विवेकानन्द और तिलक ने गीता की नवीन व्याख्या कर यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय दर्शन निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का प्रतिपादक है। समयानुकूल धर्म का स्वरूप भी बदलना चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता थी। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने धन, ऐश्वर्य से परिपूर्ण अमेरिका के समाज को निवृत्ति का उपदेश दिया, वहाँ दैन्य, दारिद्रय से पीड़ित भारतीय समाज को प्रवृत्ति मार्ग और अखण्ड कर्म-भावना की ओर प्रेरित किया। यूरोप और अमेरिका का अत्यधिक धन-ऐश्वर्य जहाँ असंतोष का कारण था, वहाँ भारत का अत्यधिक दारिद्रय उसके लिए अभिशाप बन रहा था। धर्म की उच्च भूमि पर पहुँचने के लिए यह दोनों अतियाँ बाधक हैं, ऐसा उन्होंने माना था।

(६) स्वामी जी ऐसे धर्म को ढकोसला मानते थे जो परलोक में सुख-सुविधा के विचार से इस लोक में कष्टों को प्रश्रय देता है। उनकी यह धारणा थी कि अधिक विलासिता एवं ऐश्वर्य में उच्च विचारों की उद्भावना सम्भव नहीं। वह

भारत देश को ऐसा देश नहीं बनाना चाहते थे जहाँ निवृत्ति मार्गी संन्यासी प्रत्येक स्थिति में निर्द्वन्द्व रह कर एकमात्र अपनी मुक्ति की कामना करते हों। उन्होंने शक्ति-साधना पर बल दिया, वे निर्बलों और पीड़ितों के सहायक बने। वह भारत को निरन्तर कर्म में संलग्न, आत्मनिर्भर, शक्ति-ओज से दीप्त, पौरुषवान् व्यक्तियों का देश बनाना चाहते थे। मनुज-सेवा को ही उन्होंने वास्तविक ईश्वरोपासना कहा और वे उच्चस्तर मानवीय मूल्यों के आधार पर इसी लोक को स्वर्ग बनाने के आकांक्षी थे। सामाजिक उत्थान के लिए नारी-उत्थान को महत्त्व दिया। दासता की बेड़ियों को छिन्न-भिन्न कर भारत को स्व-शासित राज्य बनाने की प्रेरणा उन्होंने देशवासियों को दी।

(७) विवेकानन्द जी पूर्णतया पुराणपंथी नहीं थे, भारतीय अतीत के प्रति उनमें गम्भीर आस्था थी। उन्होंने समन्वयात्मक विचारधारा की स्थापना की। देश-कालगत आवश्यकतानुसार जीवन की समस्याओं के प्रति सोचने के लिए वह नवीन दिशा और प्रवृत्तियों के प्रति भी सजग और जागरूक थे।[१]

जिस सार्वभौम धर्म का विवेकानन्द ने विश्व में प्रचार किया, वह वस्तुतः औपनिषदिक ज्ञान से ही प्रभावित था।

(८) सांस्कृतिक पुनरुत्थान में थियोसोफिकल सोसाइटी (१८७५ ई०) का स्थान भी महत्वपूर्ण रहा। सन् १८८६ ई० में भारत में इसकी स्थापना हुई थी। १९०७ में श्रीमती एनीबेसेण्ट इसकी अध्यक्ष बनीं और उनके नेतृत्व में इस सोसाइटी ने अभूतपूर्व कार्य किये। श्रीमती बेसेण्ट हिन्दुत्व के विरुद्ध समस्त प्रकार के आक्रमणों की ढाल बन गयीं।[२] यहाँ तक कि हिन्दू धर्म की विकृतियों

---

१. Rooted in the past and full of pride in India's heritage Vivekanand was yet modern in his approach to lifes problems and was a kind of bridge between the past of India and present.

—Discovery of India--J. L. Nehru Pg, 400.
Asia Publishing House, 1947.

२. Mrs. Besant became the great champion of Hinduism against all attacks, even the errors and abuses of Hinduism she would explain away rather than attack.

—The India's Struggle—S. C. Bose, Pg. 38.

की व्याख्या भी वह अच्छे ढङ्ग से करती थीं। इस संस्था ने मिशनरियों के हिन्दू धर्म पर अनधिकार आक्षेपों पर प्रतिबन्ध लगा दिये। अवतार, पुनर्जन्म, देवता, योग और अनुष्ठान तथा चौरासी लाख योनियों का इस संस्था द्वारा समर्थन हुआ। केवल वेद, उपनिषद् और गीता ही इसके उपदेशों के माध्यम नहीं बने अपितु स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र आदि समस्त प्राचीन ग्रंथ इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इन सबका रूढ़्यन्ध भारतीय जनता पर बहुत ही वैज्ञानिक प्रभाव पड़ा।

(९) महाराष्ट्र में सांस्कृतिक जागरण के नेतृत्वकर्ता मुख्य रूप से रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक बने। रानाडे मुख्यतः समाज-सुधारक थे। तिलक तथा गोखले समाज-सुधारक के साथ-साथ राजनीति में भी सक्रिय थे। स्वामी विवेकानन्द तथा तिलक समसामयिक थे। दोनों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रवृत्तिवादी था, अन्तर केवल यह था कि स्वामी जी का क्षेत्र आध्यात्मिक था और तिलक राजनीति में सक्रिय थे। दोनों का ही सन्देश अखण्ड कर्मयोग का था। तिलक अपने अभिनव कर्मयोग द्वारा ऐसा भावनात्मक आत्मिक बल स्थापित करना चाहते थे, जिससे भारतीय जनता विपरीत परिस्थिति में भी अपना आत्मबल न खोकर सन्तुलन बनाये रखे। उनके द्वारा प्रसूत यह कर्मयोग-शास्त्र तत्कालीन परिस्थिति में वरदान सिद्ध हुआ।

(१०) सांस्कृतिक उत्थान में महर्षि अरविन्द (१८७५ ई०) का सहयोग कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वे स्वतंत्र चिन्ताधारा के महान् चिन्तक थे। वे अध्यात्म-वादी थे और आध्यात्मिक स्तर पर ही मानव-मुक्ति की खोज की। उनका आग्रह मानवमात्र में दिव्य शक्ति के विकास की ओर था। आध्यात्मिक उन्नति के साथ भौतिक उन्नति पर भी उन्होंने बल दिया। वस्तुतः वह पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता और भारतीय आध्यात्मिकता का समन्वयात्मक रूप देखना चाहते थे। वे मानव चेतना के रूपान्तर में विश्वास रखते थे। मानव-जीवन में निरन्तर विकास की प्रक्रिया की स्थापना करते हुए उन्होंने अतिमानस की कल्पना की थी। समस्त मानवता को उसके सभी अंश में दिव्य स्तर पर रूपांतरित करना ही उनका दार्शनिक लक्ष्य था। उनकी साधना-पद्धति में भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि सभी मार्गों का समन्वयात्मक रूप दृष्टिगत होता है। आलोच्य कवि पंत की जीवन-दृष्टि को स्थिरता अरविन्द-दर्शन द्वारा ही प्राप्त हुई। यह प्रभाव हमें उनके परवर्ती काव्य में उपलब्ध होता है।

(११) भारत-भूमि पर गांधी जी (१८६९) युगान्तरकारी रूप में अहिंसा का मूल मंत्र लेकर अवतीर्ण हुए। आत्मिक संयम को वे शारीरिक बल से श्रेष्ठ मानते थे। सांस्कृतिक प्रेरणा के साथ वे राजनीति में भी सक्रिय रहे और इस क्षेत्र में भी 'अहिंसा' का बलपूर्वक प्रयोग करते रहे। उन्होंने कर्म को जीवन के मुख्य अंग के रूप में स्वीकार किया। धर्म को क्रियात्मक रूप देने तथा अधिक-से-अधिक मानवमात्र से एकाकार होने की भावना से ही उन्होंने राजनीति के सक्रिय जीवन में प्रवेश किया था। वस्तुतः वह राजनीति के लिए धर्म को अनिवार्य मानते थे। राष्ट्रिय सेवा उनकी आध्यात्मिक साधना थी। शिक्षा, विज्ञान, कला, संस्कृति, व्यापार आदि जीवन के सभी क्षेत्रों का वह आध्यात्मीकरण चाहते थे। पंत की युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या रचनाओं में गांधी-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

'सत्यमेव जयते' और 'अहिंसा परमोधर्मः' का प्रयोग केवल तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल समझ कर नहीं किया गया था, वरन् इनको उन्होंने सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया था। उनकी 'अहिंसा' निस्सहायता या दुर्बलता के कारण उद्भूत नहीं हुई थी अपितु सामर्थ्य उत्पन्न आत्मिक बल का परिणाम थी। वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे क्योंकि सभी धर्म उसी एकमात्र सत्ता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। गार्हस्थ्य जीवन और नारी जाति के प्रति उनकी प्रगाढ़ निष्ठा और श्रद्धा थी। स्वयं उनका जीवन साधक और गार्हस्थ्य का समन्वय था। हरिजनों को ऊँचा उठाने में उनका सहयोग अविस्मरणीय है।

(१२) सांस्कृतिक दृष्टि से रवीन्द्रनाथ टैगोर की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। राजनीति में जो स्थान गांधी जी का था वही स्थान कला के क्षेत्र में टैगोर का था। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपने उच्चकोटि के काव्य तथा संगीत के द्वारा भारतीय जनता को स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए सदैव प्रेरित किया।[१] विश्व-साहित्य को तो उनकी देन अनुपम थी ही पर इस विश्व-

१. He was no politician, but he was too sensitive and devoted to the freedom of the Indian people to remain always in his ivory tower of poetry and song.

—Discovery of India—J. L. Nehru, Pg. 361.
Asia Publishing house, 1947.

बन्धुत्व और विश्व-प्रेम के साथ ही राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य के लिए भी वे पर्याप्त सजग थे। बँगला साहित्य तो उनसे प्रभावित हुआ ही, साथ ही हिन्दी साहित्यकार भी उनकी कला-दृष्टि से प्रभावित हुए। पंत पर तो टैगोर के व्यक्तित्व का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा।

(१३) सांस्कृतिक आन्दोलनों का तात्कालिक प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य पर प्रचुर मात्रा में पड़ा। बीसवीं शती के साहित्यकारों पर आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज का प्रभाव नगण्य-सा रहा। छायावादी कवि मुख्यत: विवेकानन्द से प्रभावित हुए। उनका मानवतावाद वेदान्त दृष्टि का ही एक विस्तार है जो अनेकानेक कवियों-साहित्यकारों का प्रेरणास्रोत बनता रहा है। निश्चय ही हमारे आलोच्य कवि पंत पर भी इनका प्रभाव पड़ा—'गरज रहे थे अन्तर उर्वर, दीप्त विवेकानन्द वचन धन।'[१] अध्यात्मचिन्तन, अखण्ड राष्ट्रिय भावना की जो तात्कालिक साहित्य में चेतना दिखायी देती है वह प्रच्छन्न रूप से विवेकानन्द तथा अन्य सांस्कृतिक आन्दोलनों का ही प्रभाव परिचालित करती है। छायावादी काव्य एक नवीन मानवतावादी सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित था। गांधी, अरविन्द, टैगोर आदि का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा। भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की स्थापना ही इन सुधारकों और धार्मिक व्यक्तियों ने की और इन सार्वभौम तत्त्वों को ही छायावादियों ने अपना लक्ष्य बनाया।

सामाजिक परिस्थिति— समाज-सुधार सांस्कृतिक आन्दोलनकारियों का प्रमुख लक्ष्य था, इसलिए सामाजिक परिस्थितियाँ भी तीव्रता से परिवर्तित हो रही थीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पुरानी मान्यताओं और मूल्यों का विघटन हो रहा था। पाश्चात्य संस्कृति के प्रकाश में नवीन मान्यताएँ जन्म ले रही थीं, विभिन्न समाज-सुधारक संस्थाओं का जन्म हो रहा था। पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति के सम्पर्क में तथा सामाजिक स्तर पर विभिन्न सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप परम्परा से बन्दिनी नारी की मुक्ति की अनुगूँज व्याप्त हो रही थी। पाश्चात्य नारी का उन्मुक्त व्यवहार तथा समाज में पुरुष वर्ग के सदृश सहयोग भारतीय समाज के लिए नवीन वस्तु थी। बीसवीं शती के साहित्य में नारी जाति के प्रति अपूर्व आदर, श्रद्धा और दैवी भावना का स्फुरण दर्शनीय है। आलोच्य कवि नारी-मुक्ति के स्पष्ट उद्गायक थे।

१. वाणी-आत्मिका— सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११५।

विज्ञान और यांत्रिक सभ्यता के फलस्वरूप नूतन मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। यांत्रिक सभ्यता के क्रियात्मक पक्ष के प्रति समाज की सहानुभूति थी, परन्तु उसकी असंगतियों के प्रति गम्भीर प्रतिक्रिया भी आरम्भ हुई जिसका मूल कारण सामाजिक मनोदृष्टि में परिवर्तन था। पारम्परिक दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्ति से अधिक महत्त्व समष्टि को और समष्टि से अधिक महत्त्व ईश्वर को दिया जाता था, परन्तु इस नवीन सामाजिक चेतना के फलस्वरूप इस विचारधारा में परिवर्तन आया और ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता अथवा उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मान कर मनुष्य को इन प्रवृत्तियों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई। आत्मा को अतिप्राकृतिक शक्ति न मानकर मानवीय मूल्यों के प्रति पूर्ण रूप से सचेतनता एवं जागरूकता का प्रतीक माना गया। इस व्यक्तिगत प्रधानता के कारण ही छायावादी कवि स्वतंत्र मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सका। इसके विपरीत मध्य काल में आत्मानुभूति अथवा आत्म-निवेदन की प्रधानता थी और द्विवेदी-युग में भी आदर्शवादिता के कारण स्वतंत्र मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्ति नहीं मिल पायी थी। वहाँ अनुभूति शाश्वत बन्धनों में जकड़ी थी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की इस भावना ने जीवन को आत्मदृष्टि प्रदान की। सामाजिक स्तर के इन परिवर्तनों के मध्य छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ।

आर्थिक परिस्थिति—यांत्रिक सभ्यता के फलस्वरूप पूँजीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसी परिस्थिति में समस्त जीवन 'अर्थ' द्वारा संचालित होने लगा। आरम्भ में चूँकि इसका उदय सामन्तवाद और धार्मिक संस्था की जड़ता के विरुद्ध हुआ इसलिए यह व्यक्ति स्वातंत्र्य और बन्धुत्व का पोषक बना। हाँ, यह बात और है कि जब सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार भी केवल 'अर्थ' ही बन गया और परम्परागत भावनात्मक मूल्यों का अतिक्रमण होने लगा तब पूँजीवाद की विरूपता स्पष्ट हो गयी। इस पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति उस समय के महापुरुष एवं साहित्यकार सशंक रहे, क्योंकि इसका केन्द्रीय आधार जड़ अर्थ था। वस्तुतः आर्थिक बदलाव की इस परिस्थिति में साहित्य ने एक नवीन मोड़ ग्रहण किया। इस नवीन साहित्य में सौन्दर्याभिव्यक्ति को विशेष बल मिला। सामन्त युग में नारी के मातृत्व, पत्नीत्व और बहन पक्ष को बहुत सम्मान दिया गया जो सामाजिकता का निदर्शन था, हालाँकि यह सम्मान भाववाचक संज्ञा तक ही सीमित रहा लेकिन पूँजीवाद में यह सम्मान निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति को,

जो नारी में अपनी अभिव्यक्ति करती है, को ही दिया गया; शायद इसी से छायावादी काव्य में नारी सजीव व्यक्तित्व नहीं पा सकी। इसका एक बड़ा कारण वह पूँजीवादी नैतिकता भी है जो व्यक्तित्व के 'स्वच्छन्द' विकास पर निरोध है, क्योंकि व्यक्ति की आकांक्षाओं का कोई सामाजिक निर्धारण नहीं।

राजनीतिक परिस्थिति—सन् १८५७ के स्वाधीनता आन्दोलन की असफलता के पश्चात् वैधानिक रूप से स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संघर्ष सन् १८८५ के भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् प्रारम्भ होता है। यों तो नवजागरण की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक आन्दोलनों द्वारा ही रोपी जा चुकी थी, लेकिन वह मानसिक क्रान्ति तक ही सीमित थी। राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय रूप राष्ट्रिय कांग्रेस से ही प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक चेतना के विकास में तत्कालीन अन्तराष्ट्रिय परिस्थितियाँ ही पर्याप्त सहायक सिद्ध हुईं।

सन् १९१४ के विश्व-युद्ध के फलस्वरूप देश में अपूर्व अशान्ति का साम्राज्य था। देश में क्रांतिकारी संगठन भी बनने लगे थे। यह आतंकवादी संगठन हिंसात्मक कृत्यों द्वारा आतंक फैलाकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयास में सक्रिय थे। सन् १९१६ में एनीबेसेण्ट द्वारा स्थापित 'होमरूल लीग' से देश में अपूर्व क्रांति हुई। सन् १९२१ के 'असहयोग आन्दोलन' से देश में नवचेतना, नवस्फूर्ति, नवशक्ति का स्फुरण हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में अब यह आन्दोलन जन-आन्दोलन बनता जा रहा था।

इस अपूर्व जागृति की पृष्ठभूमि में अनेक परिस्थितियाँ थीं—जलियाँवाला बाग का अमानुषिक हत्याकाण्ड, तुर्की के सम्बन्ध में मुसलमानों के प्रति सरकार का विश्वासघात तथा १९१७ ई० की लेनिन के नेतृत्व में हुई समाजवादी रूसी क्रांति ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं जिसने भारतीय राष्ट्रिय आन्दोलन को तीव्रतर बनाया। रूसी क्रान्ति का सबसे आकर्षक परिणाम यह हुआ कि साम्यवाद की विचारधारा से एशिया के देश प्रभावित होने लगे। मजदूरों का संगठन नवीन दृष्टिकोण को लेकर संगठित होने लगा। मजदूर और किसान राजनीति में अधिक सक्रिय भाग लेने लगे। सन् १९२१ का समय तीव्र संघर्ष का समय था। जन-संघर्ष अत्यधिक उग्र रूप धारण करता जा रहा था। इस तीव्रता का प्रत्यक्ष प्रभाव 'प्रिन्स आफ वेल्स' के पूर्ण बहिष्कार के रूप में दिखायी पड़ता है। सरकार कांग्रेस की अकल्पित सफलता को देख कर क्षुब्ध हो उठी। कांग्रेस के सेवादल

को अवैध घोषित कर दिया गया। बहुत बड़ी संख्या में स्वयंसेवक पकड़े जाने लगे, लेकिन इस पकड़-धकड़ ने अग्नि में घृत का काम किया। देश के नवयुवक अपने जीवन की आहुति देने के लिए अग्रसर हो उठे। भारत की इस अपूर्व राष्ट्रिय क्रान्ति की ओर विश्व के विचारशील लोग विस्फारित नेत्रों से देख रहे थे।

सन् १९३५ में 'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट' का विधान बना। इसी समय केन्द्रीय एसेम्बली का निर्वाचन होने वाला था। इसमें कांग्रेस ने भाग लेकर सात प्रान्तों में बहुमत प्राप्त कर मंत्रिमण्डल स्थापित किये। सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध में कांग्रेस की बिना स्वीकृति के ही अंग्रेजी सरकार ने धन-जन की सहायता भेजना प्रारम्भ कर दिया जिससे नाराज होकर कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। सन् १९४२ ई० में गांधी जी ने अन्तिम स्वतंत्रता आन्दोलन का सूत्रपात किया। ८ अगस्त, १९४२ को बम्बई में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई। उसमें 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सरकार ने आन्दोलन का दमन करने का निश्चय किया और ९ अगस्त, १९४२ के प्रातःकाल गांधी जी तथा अन्य कार्यकर्ताओं को बन्दी बना लिया गया। अस्वस्थ होने के कारण १९४४ में गांधी जी छोड़ दिये गये। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने पर सरकार ने भारत को स्वतंत्रता देने का निश्चय किया। सन् १९४६ में संघ शासन की नींव पड़ी। सरकार की भेद-नीति कारगर हो चुकी थी। १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान विभाजन के रूप में देश ने अपने बलिदान का वरदान पाया—देश स्वतंत्र घोषित किया गया। प्रजातन्त्र केवल राजनीति का ही विषय न होकर समाज और संस्कृति का भी प्रतीक बना। इन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रतिफल छायावादी काव्य में दृष्टिगत होता है।

साहित्यिक परिस्थिति—हिन्दी साहित्य में नव-जागरण और युगान्तर का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है। यद्यपि साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास इस समय न हो सका, केवल विषयगत नवीनता और भावक्रांति ही इस युग की विशेष उपलब्धि थी। शैलीगत परिवर्तन, नवीन विधानों का शोध तथा नव अभिव्यंजना प्रणालियों की कल्पना का तत्कालीन उभरती हुई नवजागरण की पृष्ठभूमि में न तो अवकाश ही था और न सम्भावना ही। भारतेन्दुयुगीन कवियों का ध्यान तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समस्याओं पर ही

अधिकाधिक केन्द्रित था, इसीलिए तत्कालीन साहित्यकार सुधारक के रूप में सामने आये। किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए कविता की जाती थी जिसमें तत्कालीन समस्याओं की अभिव्यक्ति मात्र होती थी।

काव्य-सृजन परम्परानुगत रीति पर हो रहा था लेकिन परम्परागत रीतिकालीन प्रणाली पर अग्रसर होते हुए भी विषय की दृष्टि से काव्य रीति परम्परा के बन्धनयुक्त वातावरण से निकल आया था, उसमें समकालीन समस्याएँ मुखरित होने लगी थीं, कविता अधिकाधिक जन-सम्पर्क में आने लगी थी। बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी भाषा को सुसंस्कृत और परिष्कृत करने का असाधारण कार्य हुआ। गद्य-पद्य दोनों साहित्य-धारा में एक ही भाषा-रूप को स्वीकृत कर लिया गया। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का उत्साह उल्लेखनीय है। उन्हीं के प्रयत्नों से खड़ी बोली को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस युग ने परिष्कृत भाषा-भूमि आने वाले युग के लिए तैयार की।

इस काल में साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता जा रहा था। अब कविता कुछ शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रह गयी थी, उसमें जन-मानस को स्पर्श करने की अपूर्व शक्ति भी आती जा रही थी।

छायावादी काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि के रूप में बँगला का समकालीन साहित्य भी विचारणीय है, क्योंकि कुछ आलोचक छायावाद के उदय का श्रेय रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देते हैं। इसका एकदम निषेध तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि श्री रवीन्द्रनाथ के कारण छायावाद को जल्दी प्रतिष्ठा मिली और यह एक बड़ी बात थी, किन्तु वे हमारे साहित्यिकों की प्रेरणा थे—यह एकदम सत्य नहीं। वे यूरोपीय विचारधारा के भारत में प्रवर्त्तक थे। यूरोपीय विचारधारा का उन पर इतना गहरा प्रभाव था कि वे भारतीय धर्म और दर्शन की व्याख्या भी प्रायः उसी केन्द्र से करते थे। हीगल के दर्शन और शेली की अनुभूति ने उन्हें सर्वतः छा लिया था, उन्होंने उपनिषदों और प्राचीन अन्य ग्रन्थों को जिस दृष्टिकोण से देखा था उसमें भी इसकी गन्ध स्पष्ट है। छायावादी कवि भी पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित होकर ही छायावादी काव्य-सृजन कर रहे थे, किन्तु वे अपनी परिवृत्ति में से ही उसे ग्रहण करते रहे। अतः उनके काव्य में भारतीय प्रवृत्तियाँ और तत्कालीन परिवृत्ति सहज ही देखी जा सकती है।[1]

१. पंत का काव्य और युग-यशदेव 'शल्य', पृ० ५२।

काव्य-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने भारत के सांस्कृतिक जागरण का प्रतिनिधित्व किया विश्व-कवि के रूप में प्रतिष्ठित होकर विश्व-मानवता की चेतना का प्रसार किया। उन्होंने सत्य, शिव और सुन्दर के मूल्यों को पहचानने का प्रयत्न किया। तथा पाश्चात्य रोमैण्टिक कवियों के सौन्दर्य-बोध, मध्यकालीन सन्तों के रहस्यवाद तथा भारतीय दार्शनिक उन्मेष (उपनिषदों का चैतन्य) का समन्वय कर अपनी भावप्रवण कल्पना द्वारा एक ऐसी नवीन काव्य-प्रणाली को जन्म दिया जिसका प्रधान स्वर सामञ्जस्यपूर्ण विश्व-मानवतावाद तथा अन्तर्मुखी रहस्यवाद था। इस नवीन काव्य-प्रणाली की ओर विश्व के अनेक साहित्यिक आकृष्ट हुए। छायावाद पर भी निर्विवाद रूप से इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। इस प्रकार साहित्य के शिखर पर उदित होकर रवीन्द्रनाथ ने भारतीय कविता की परिभाषा बदल दी।

छायावादी काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि में यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी काव्य का स्थान भी क्योंकि अनेक छायावादी कवि उनसे सीधे प्रभावित हुए वैसे टैगोर और बँगला साहित्य तो माध्यम स्वरूप था ही। नवीन सौन्दर्य-दृष्टि व्यक्तिवाद, अभिव्यक्ति के नये रूप आदि अग्रेज स्वच्छन्दतावादियों की विशिष्ट देन हैं। छायावाद की निराशावादी प्रवृत्ति में रोमैण्टिक कवियों का विशेष योग-दान रहा है। छायावादी काव्य की पलायन-वृत्ति, पराजय भाव में हमें इसकी स्पष्ट झलक मिल सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह सारी निराशा केवल अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवियों की नकल ही थी, उसमें छायावादियों का अपना अथवा प्रामाणिक कुछ भी नहीं था। यहाँ हम केवल यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि 'स्वच्छन्दता' और 'वैयक्तिकता' की भावना के कारण छायावादी काव्य में अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति स्वतः ही अंश रूप में गृहीत हुई।

कोई भी साहित्य जीवन और परिस्थिति से असम्पृक्त नहीं रह सकता। यही कारण है कि हम छायावाद में भी उस युग की छवि प्रतिबिम्बित पाते हैं। उस युग के हमारे आलोच्य कवि पंत अपने युग के समस्त आयामों को समेट कर चले। उनके साहित्य के साक्षात्कार के लिए युगीन परिवेश का अवलोकन अनिवार्य था, क्योंकि युगीन परिप्रेक्ष्य में ही किसी भी संवेदनशील सृजनकर्ता के सृजन का मूल्यांकन किया जा सकता है। वस्तुतः इसी आधार को लक्ष्य कर उपर्युक्त विवेचन में छायावाद की पृष्ठभूमि पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—किसी भी साहित्यधारा का प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में किया गया अध्ययन अधिक वैज्ञानिक, पूर्ण और समीचीन हुआ करता है। अतएव कतिपय भ्रान्तियों और अस्पष्टता का कम अवकाश रहता है। छायावादी काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक स्थिति भी ऐसी थी जिसने कवियों को परिवर्तन हेतु सोचने के लिए बाध्य किया।

छायावादी काव्य ने परम्परा के प्रति धीरे-धीरे विद्रोह करना आरम्भ किया। अपने पूर्वकालीन द्विवेदी-युग की काव्यधारा से वह सन्तुष्ट नहीं था। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता, आदर्शवाद, परम्परावाद, नीतिवाद एवं उपदेशात्मकता को त्याग कर इस युग के काव्य ने वस्तु को कल्पना के स्पर्श से सँजो कर मार्मिकता प्रदान की है। 'कविता जब अन्तरात्मा की गहन, गूढ़ वेदना से उद्भूत होने लगी तो वस्तुजगत् अनुभावक के अन्तर्जगत् में रँग गया और एक ऐसी शब्दावली में कवि अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त करने लगा जिसे दूसरे अटपटा कहने लगे। इन अनुभूतियों की गहन गूढ़ता को रूढ़िवादी या परम्परावादी समीक्षक यथेष्ट रूप में ग्रहण न कर सके और उसे प्रशस्ति न दे सके।··· इस संक्रमण काल में स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के क्रम से यह भाव-भंगिमा अपरिहार्य हो गयी।'[1]

अतः छायावादी काव्य ने अपने पूर्व काव्य की प्रवृत्तियों को अधिक परिष्कृत कर निज के स्वरूप को सौन्दर्ययुक्त बनाया। उसमें अन्तरंग और बहिरंग अर्थात् कथ्य और शिल्प दोनों में नूतनता दृष्टिगत हुई। नवीन सौन्दर्य चेतना, नूतन अभिव्यञ्जना-पद्धति और जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों की प्रतिष्ठा इस काव्य-धारा की अन्यतम विशेषताएँ हैं। इस प्रकार इन कवियों के द्वारा कथ्य क्षेत्र में जो नवीन प्रयोग हुए और परम्परा तथा रूढ़ियों की अवहेलना हुई, उन्होंने एक ओर द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया का रूप धारण किया और दूसरी ओर विद्रोह तथा प्रगति की नवीन राह दिखायी।'[2]

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति—छायावाद ने 'पर' को केन्द्र न बना कर 'स्व' को केन्द्र बनाया। 'छायावादी कवि समष्टि से निरपेक्ष होकर 'व्यष्टि' में लीन

१. हिन्दी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र, पृ० ३६६।

२. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डॉ० केशरीनारायण शुक्ल, पृ० १८४।

रहता है अथवा वस्तुजगत् को अपनी निजी भावनाओं में रंग कर देखता है।'[1] अर्थात् छायावादी कवि अन्तर्मुखी और व्यक्तिनिष्ठ हो गया। उसने संसार को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा, स्वानुभूत वैयक्तिक हर्ष-विषाद के चित्र ही अंकित किये। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वैयक्तिकता के स्वरों में भी समष्टिगत अनुभूति कहीं-न-कहीं मुखर होती रही। 'प्रसाद, निराला और पंत के काव्य में अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता में एकलयता रही है, वे सामाजिक भावभूमि से कभी भी उतना पृथक् नहीं रहे जितना महादेवी या बच्चन। इनके काव्य में वेदना तथा करुणा के अति व्यष्टिनिष्ठ तथा कोरे भावुकतापूर्ण चित्र देखे जा सकते हैं। अतः छायावादी कवि के व्यक्तिमुखी स्वर में जो अन्तरवलोकन की प्रवृत्ति मिलती है जिसमें आत्मनिष्ठा, आत्मानुराग, आत्मानुभव आदि की प्रमुखता है जो इन कवियों के बहु-दृष्टित सत्य की परिचायिका है।'[2] जहाँ तक वैयक्तिकता के आरोप का प्रश्न है तो कोई भी कविता ऐसी नहीं जो सर्वमान्य हो या सबको रुचिकर लगे, दूसरे अन्तर्मुखता एक प्रवृत्ति मात्र है न कि छायावादी काव्य का एकमात्र गुण। इस प्रकार व्यक्तित्व के माध्यम से कवि ने समष्टि के जीवन की आलोचना प्रस्तुत की है—"इस काव्य में स्वतंत्रता की चेतना प्रबल रहती है, जो एक ओर तो कवि को रूढ़िगत विचारधारा और काव्यशैली के विरुद्ध विद्रोह करने को विवश करती है दूसरी ओर उसमें क्रांतिकारी विचारों का समावेश करके राष्ट्रिय स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावनाओं का हृदय की मार्मिक और तीव्र अनुभूतियों की गहराई से मनोवैज्ञानिक ढंग से सम्बन्ध स्थापित करती है।'[3]

श्रृंगारिकता—श्रृंगार को भी छायावादी काव्य में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। परन्तु यह श्रृंगार रीतिकालीन स्थूल शारीरिक सौन्दर्य नहीं था बल्कि संयमित, संतुलित और शालीन था। इसमें स्वस्थ भावात्मक अतीन्द्रिय सौन्दर्याभिव्यक्ति को स्थान मिला। 'छायावाद का यह अतीन्द्रिय श्रृंगार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा प्रकृति पर नारी भाव के आरोप द्वारा, दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और

१. हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० गोविन्दराम शर्मा, पृ० ३४८।

२. छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० ४२।

३. छायावाद युग—शंभूनाथ सिंह, पृ० ६०।

आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।' छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोरम है।'[1] छायावादी कवि ने नारी के 'पावन तन' को देखा 'लाजभरे सौन्दर्य' को मौन बताया। कामायनी में श्रद्धा का अमांसल सूक्ष्म सौन्दर्य-वर्णन अविस्मरणीय है। पंत तो सौन्दर्य के कवि हैं पर यह निर्विवाद है कि उनका सुन्दरम् शिवम् को साथ लेकर चला है। उनका शृंगार दिव्य, पुनीत और आत्मिक है। 'यहाँ शिव का मनोवैज्ञानिक रूप तथा 'सत्य' का भाववादी रूप ही सौन्दर्यगर्भा हो जाता है।'[2] स्वस्थ शृङ्गार-वर्णन की दृष्टि से निराला की 'सरोज-स्मृति' में पुत्री सरोज का शृंगार वर्णन एकमात्र उदाहरण है। निरपेक्ष सौन्दर्य का यह उदाहरण हिन्दी-साहित्य की अपनी निधि है। पुत्री के यौवन का रूप-वर्णन करने वाला कवि अकेला निराला है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

'धीरे धीरे फिर बढ़ा चरण
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार कुंज तारुण्य सुघुर
आई, लावण्य भार थर थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर'

मालकोश ऋषभ् पंचम वर्ण का भैरवी ठाट का राग है (कुछ लोग इसे असावरी भी मानते हैं) जो रात्रि के तीसरे पहर में गाया जाता है। यह उच्च भावों का गम्भीर प्रकृति का राग है जिसके स्वर मृदु होते हैं। सरोज के तारुण्य आगमन को वीणा पर गाये मालकोश से उपमा देकर निराला ने उसकी प्रकृत व्यंजना के साथ उसकी पवित्रता की रक्षा की है। प्रकृति का गाम्भीर्य और स्वर की मृदुलता यौवन के प्राथमिक लक्षण हैं। यहाँ संगीत की उपमा के काव्य का शृंगार कर कवि ने भावों के औदात्य की भी रक्षा कर ली है। इसके बाद सरोज की तरुणावस्था का जो चित्र है उसमें नैश-स्वप्न की मन्दगति, ऊषा का जागरण,

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७।
२. छायावाद। स्वरूप और व्याख्या—राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० ४६।
३. अनामिका—निराला, पृ० १२६-३०।

किसलय-दलों का खिलना, दिव्य बन्धन में बँधी देहयष्टि के उल्लेख—सब यौवन लक्षणों के प्रतीकार्थ हैं। उसके कण्ठ की तुलना उसकी माँ की मधुरिमा से करके पूर्ण स्वस्थ यौवन का भाव-चित्र प्रस्तुत किया है। शृंगार की उत्कृष्टता और औदात्य का यह अन्यतम उदाहरण है।

'इस प्रकार छायावादी कवियों में सौन्दर्य-भावना अद्वितीय है। रीतिकाल में सौन्दर्य ज्वालामय था जिसमें मरने-जीने का स्वाँग रचने की आवश्यकता अधिक जान पड़ती थी, परन्तु इस युग का सौन्दर्य शान्त तथा शीतल है, उसमें उन्माद के साथ-साथ प्राणमयी धारा प्रवाहित होती है। कर्म करने के विश्वास को दृढ़ रखने की शान्तिदायिनी प्रेरणा प्राप्त होती है।'[१]

सौन्दर्यानुभूति—"साहित्यिक दृष्टि से छायावादी-काव्य की मुख्य लब्धि हिन्दी पाठकों में सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है। शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की वृत्ति एकाएक सौन्दर्योन्मुख हो उठी; वे विश्व की अशेष वास्तविकताओं को सौन्दर्य की भाषा में अनूदित करने लगे। और क्योंकि काव्य-सृष्टि की प्रेरक शक्तियों में सौन्दर्य मुख्य है, इसलिए कहना चाहिए कि छायावाद ने पहली बार आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृत काव्य-दृष्टि की प्रतिष्ठा की।"[२] छायावाद काव्य में सौन्दर्य अपनी पूर्ण कला के साथ उदित हुआ। हम कह सकते हैं कि छायावादी ने मानव-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, दिव्य-सौन्दर्य, अन्तर्जगत् का सौन्दर्य, सूक्ष्म-सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य और स्थूल-सौन्दर्य—इस समूचे सौन्दर्य-जगत् को एक साथ मिला कर महासौन्दर्य की दृष्टि दी और उसका व्यापक प्रयोग किया। छायावादी कवि को सम्पूर्ण जगत् का प्रत्येक व्यापार और प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में सौन्दर्यानुभूति का भान हुआ। इस प्रकार "छायावाद" में नये मूल्य ने अपने सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति "सौन्दर्य-बोध" में पायी। इसलिए सौन्दर्य-बोध उस युग के काव्य की सबसे अधिक मौलिक तथा प्रमुख देन थी।[३]

---

१. स्वच्छन्दतावाद एवं छायावाद का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० शिवकिरण सिंह, पृ० १३३।

२. छायावाद का पतन—डॉ० देवराज, पृ० १८।

३. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०६।

कवियों के संवेदनशील मन ने अनुभूति की अभिव्यक्ति में जितने भी कल्पना-रूपों की सृष्टि की है प्रायः सभी सौन्दर्य-रूप हैं क्योंकि काव्यधारा की नींव ही सौन्दर्य और अद्भुत द्वारा डाली गयी। डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"अंग्रेजी 'रोमाण्टिक रिवाइवल' की भाँति एक-सी परिस्थिति में जन्म ग्रहण करने के कारण आधुनिक छायावाद की एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नींव सौन्दर्य और अद्भुत के मिश्रण पर स्थित है। रीतिकाल का एकान्त सौन्दर्य निर्जीव था। रूढ़ियों ने उसे और भी चेतनाहीन तथा भावशून्य बना दिया।.... ...अब कवियों के लिए प्रकृति जड़ और मृतक वस्तु नहीं रह गयी, इसके अन्दर भावुकता ने एक संवेदनशील हृदय टटोल लिया जिसका प्रत्येक स्पन्दन मानव-हृदय की धड़कन का प्रत्युत्तर देने लगा।"[1] इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों में अपरिवर्तनशील सौन्दर्य-सत्ता की कलात्मक अभिव्यक्ति छायावादी कविता की मूल प्रवृत्ति रही है।

प्रकृति का मानवीकरण—"छायावादी कवियों ने प्रकृति में छिपे हुए इतने सौन्दर्य-स्तरों की जो खोज की, वह आधुनिक मानव के भौतिक और मानसिक विकास का सूचक है। इस सौन्दर्य-बोध का विकास प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों का परिणाम है। प्रकृति ने मनुष्य में सौन्दर्य-बोध जगाया और मनुष्य ने उद्बुद्ध होकर प्रकृति में नवीन सौन्दर्य की खोज की और इस तरह दोनों परस्पर वर्द्धमान हुए।"[2] इस काल के कवियों के लिए प्रकृति वरदान रूप में सिद्ध हुई। पहले प्रकृति का केवल स्थूल रूप सामने आया। केवल बाह्याचार ने काव्य में अभिव्यक्ति पायी। प्रकृति का यह तटस्थ रूप अधिक उपादेय प्रमाणित न हुआ। छायावाद ने प्रकृति के विभिन्न रूपों को मानव-जीवन में अवतरित किया। मानव और प्रकृति एक-दूसरे से घुलमिल गये, एकमेव हो गये। प्रकृति के मानवीकरण को छायावाद का मूलतत्त्व या प्राण माना गया है। प्रकृति के प्रति असीम अनुराग छायावादी कवियों की प्रारम्भ से ही एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही, जिन्होंने न केवल प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य-चित्र ही खींचे हैं वरन् उसके माध्यम से जीवन और जगत् के अनेक गूढ़ तत्त्वों का भी अवलोकन किया। प्रकृति के मानवीकरण की यह प्रवृत्ति हिन्दी में मुख्य रूप से अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य से गृहीत हुई। रोमाण्टिक कवि वर्ड्सवर्थ

१. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३४।
२. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ० नामवर सिंह, पृ० २२।

ने, जिसे 'पोएट आफ नेचर' भी कहा जाता है, भौतिकता के विकल्प के रूप में एक ऋजु प्राकृतिक जीवन की कल्पना की तथा अपनी प्रकृति-पुत्री "लूसी" को केन्द्र बना कर अनेक कविताओं में अपने जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया। आलोच्य कवि पंत को भी यदि हम "प्रकृति के कवि" कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्रकृति के अभाव में शायद उनका कवि-जीवन गौण रह जाता। वे स्वयं लिखते हैं—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माञ्चल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"[1] नारी के रूप में प्रकृति का मानवीकरण प्रायः सभी छायावादी कवियों ने किया है—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ,
वह अपनी वय बाली में—[2]

पर कहीं-कहीं उन्होंने प्रकृति के साथ तादात्म्य भी स्थापित किया है। समीक्षकों ने इसे प्रकृति में चेतनता का आरोप और स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है। मेघमय आसमान से उतरती हुई सन्ध्या सुन्दरी अलसता की-सी लता और कोमलता की कली के रूप में वातावरण और दृश्य की सम्पूर्ण सूक्ष्मता और मधुरता लिये हुए है। अतः छायावाद में मानवीकरण के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि "प्रकृति को एक सहानुभूतिशील हृदय रखने वाली साकार चेतन-मानवी के रूप में वह देखता था। यही कारण है कि छायावाद में प्रकृति निर्जीव और जड़ नहीं है। उसमें मानवीय भावनाएँ हैं, चेतना है। प्रकृति का ऐसा चित्रण ही छायावाद के पूर्व हिन्दी कविता के किसी भी युग में नहीं मिल सकता।"[3]

वेदना एवं करुणा का आधिक्य—वेदना और करुणा की अभिव्यक्ति छायावादी काव्य की उल्लेखनीय प्रवृत्ति के रूप में दृष्टिगत होती है। पीड़ा, वेदना तथा अवसाद-चित्रण की यह प्रवृत्ति इस युग में व्यापक रूप से प्रतिफलित

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३६।
२. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३।
३. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन—दीनानाथ शरण, पृ० २६।

हुई। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। प्रथमतः तो यह वेदना निजत्व से सम्बन्धित थी। वैयक्तिक जीवन में मिलने वाली अनेक प्रकार की असफलताओं से उत्पन्न करुणा या फिर स्थिति विशेष की तात्कालिक प्रतिक्रिया का परिणाम भी कह सकते हैं। राजनैतिक दासता, त्रस्त सामाजिक राष्ट्रीय जीवन, आर्थिक पराभव, दीनता-हीनतापूर्ण वातावरण, जीवन का एकाकीपन, सर्वत्र संघर्ष एवं विरोध आदि की स्थिति ने कवि को इस सीमा तक व्यथित किया कि यह वेदना और करुणा स्वतः ही उसकी वाणी से निःसृत होने लगी। यहाँ तक कि काव्य का जन्म ही वेदना माना गया—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ।।[१]

निराला की "सरोज-स्मृति", प्रसाद का "आँसू" तथा पंत की "ग्रन्थि" हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन काव्य-कृतियों को अमर बनाने का श्रेय उस वेदना-भाव को ही है जो देशकाल की सीमा में नहीं बँधा है तथा जो विशाल विश्व की सार्वकालिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। यह वेदना केवल अवसाद से ही आक्रान्त नहीं है, बल्कि इसमें अनुभूति की तीव्रता व सच्चाई है। दुःख और वेदना मनुष्य की चेतना-दृष्टि का प्रसार करते हैं। महादेवी जी की मान्यता है कि एक-एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक उर्वर और मधुर बनाये बिना नहीं रह सकता। उनके काव्य का जन्म वेदना से हुआ और आवास मिला उसे करुणा संसार में—

"शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा,
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा,
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।"[२]

इस छायावादी करुणा का एक महत् कारण दार्शनिक चिन्तन भी है, क्योंकि मनुष्य के अहं का नाश दुःख द्वारा ही होता है और इसमें मनुष्य को एक-दूसरे के निकट लाने की क्षमता भी है। महादेवी का पीड़ा में बौद्ध दर्शन के दुःखवाद

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६५।
२. संधिनी—महादेवी वर्मा, पृ० १०६।

और करुणा का प्रभाव है। "आँसू" तक आते-आते प्रसाद ने स्वरूप-दर्शन कर लिया था। "आंसू" में उनका निजत्व सबसे अधिक है। यह उनके जीवन के सञ्चित रस से उद्भूत हुआ है।[१] भोगी हुई "घनीभूत पीड़ा" ही इस अमर कृति का आधार बनी—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आयी।[२]

निराला का जीवन तो पीड़ा और संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। इस समस्त क्षोभ और पीड़ा का सञ्चित रूप "सरोज-स्मृति" है जिसकी केन्द्रीय पंक्तियाँ हैं—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ, आज जो नहीं कही![3]

छायावादी काव्य की इस वैयक्तिक वेदना में विश्व-वेदना को आत्मसात् करने की शक्ति है, निराशा और पलायन का भी एक निश्चित उत्स है। परिणामांत यह प्रकृति—सद्वृत्ति और मंगलकारी परिवर्तन की ओर सक्रिय रही थी।

अज्ञात सत्ता के प्रति प्रेम—"नयी छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।...... आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।"[४] छायावाद को कोरी भौतिकता नहीं भायी। विश्व की जिन विकट समस्याओं को छायावादी कवि ने निकट से देखा, उनके मूल में भौतिकता के दंश को भी उसने पहचाना। इस प्रकार छायावाद ने व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर विश्व तक की समस्याओं के समाधान को आध्यात्मिकता तथा सांस्कृतिक वैभव के पुनरुत्थान में देखा। छायावाद की इस आध्यात्मिकता

१. कादम्बिनी (मासिक)—सितम्बर, १९७५, पृ० ४६।
२. आँसू—जयशंकर प्रसाद, पृ० १०।
३. अनामिका—निराला, पृ० १३७।
४. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३५१।

को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद का पर्याय बताया तथा इसे भारतीय काव्य-परम्परा के प्रतिकूल कहा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने छायावाद को मूलतः रहस्यवादी काव्य माना परन्तु शुक्ल जी के समान उन्होंने काव्य में रहस्यवाद को भारतीय परम्परा के विरुद्ध नहीं माना और न उसे अंग्रेजी और बँगला का अनुकरण ही बताया। इनके अनुसार छायावाद समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार भक्तिकाल का साहित्य अपने युग का प्रतिनिधि है उसी प्रकार छायावादी काव्य आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है।[1] वाजपेयी जी के मत से हमारी सहमति तो है परन्तु छायावाद अंग्रेजी और बँगला का अनुकरण भले ही न हो इनका प्रभाव तो असन्दिग्ध रूप से छायावाद पर पड़ा ही। उसमें चिन्तन की जो विविधता है, वह राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में है। अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन, गांधीवाद, अरविन्द दर्शन आदि सभी विचारधाराएँ छायावाद में उपलब्ध है।

महादेवी जी बौद्ध दर्शन से प्रभावित थीं। इसका प्रतिफलन उनके काव्य में समाज-कल्याणोन्मुखी रहस्यवाद के रूप में हुआ। "निराला के काव्य में अद्वैतवाद की स्पष्ट झलक है। उनकी काव्य-वीणा ने आध्यात्मिकता आवेष्टित समाजवाद को झंकृत किया। छायावाद को निराला ने समस्त देह, प्राण, मन तथा जागतिक द्वन्द्वों से ऊपर की आत्म-ज्योति का निराकार स्पर्श दिया।"[2] प्रसाद ने अनेक विचारधाराओं से प्रभाव ग्रहण किया। शैवमत का सामरस्य उनके काव्य का केन्द्र रहा है परन्तु उसे भी उन्होंने युगानुरूप ढाल कर प्रसादमय बना लिया। पंत ने भी प्रसाद की भाँति अनेक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। विवेकानन्द के अद्वैतवाद और अरविन्द के महामानववाद का प्रभाव विशेष रूप से रहा है। उन्होंने नव-मानवतावाद की प्रतिस्थापना की और वे मानव के उज्ज्वल भविष्य के प्रति पूर्ण आस्थावान् हैं। इस प्रकार "रहस्यवादी अथवा परोक्ष सत्ता के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल तथा सौन्दर्य की भावना इस चतुष्पदी में समान रूप से देखी जा सकती है। परन्तु यह आध्यात्मिक सत्य नूतन संस्कृति के स्वरूपों को विज्ञानवादी युग की भूमिका से एकदम अलग नहीं करता है।"[3]

१. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३५१।
२. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० ६४।
३. छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० ४७।

नारी के प्रति नवीन दृष्टि—छायावाद में अभिव्यक्त श्रृङ्गार और सौन्दर्य का सम्बन्ध मुख्यतया नारी से रहा। प्रकृति को भी इन कवियों ने अधिकांशतः नारी रूप में चित्रित किया है। उसे सौन्दर्य और शक्ति की देवी मान कर युगों से आच्छादित संकीर्ण पर्दों को उखाड़ फेंका। रीतिकालीन "लहलहाति तन तरुनई" और द्विवेदीकालीन "देवी" को छोड़ अब कवियों ने नारी को नवीन दृष्टिकोण से देखा। वह इस पार्थिव जगत् की स्थूल नारी न रह कर अब भाव-जगत् का सुकुमार "सौन्दर्य" हो गयी। "नारी मानव-जीवन की अन्तःसलिला में सदैव से ही एक प्रकम्प रही है। अतः संवेदनशील मन में, काव्य-सृजन के क्षणों की प्राथमिक स्थितियों में "रति" को ही स्वीकार किया गया है।"[१] रति को तो स्वीकार किया परन्तु रति की प्रतिकृति लज्जा रूपी नारी ही इस काव्य का मूल बनी। कवि ने कुत्सित लिंगभेद को समाप्त कर उसे "देवी ! माँ ! सहचरी ! प्राण"[२] रूप में उपस्थित किया। वास्तव में छायावाद के विद्रोही स्वर में नारी भी एक सांस्कृतिक विद्रोह के रूप में प्रस्तुत हुई। नारी को केन्द्र बना कर भी लौकिक प्रेम का इतना उदात्त चित्रण हुआ है कि वह अध्यात्म की सीमा को स्पर्श करता है। इस प्रकार छायावाद ने ही नारी-भावना का चरमोत्थान किया और उसे इतना ऊँचा और गौरव-सम्पन्न स्थान दिलाया। यहाँ पंत जी का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

"छायावादी नारी में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नहीं उसमें विश्व-मानवी का व्यापक सहानुभूतिपूर्ण स्वस्थ स्नेह-संवेदन भी है।....... (छायावाद ने) नारी को दूतियों की चाटुकारिता तथा परकीयत्व के कलंक से मुक्त कर तथा मध्यवर्गीय कुञ्जों की सड़ांध भरे केलि-कर्दम से ऊपर उठाकर उसके अर्द्ध-नग्न रूप को अपनी पवित्र भावनाओं के अकलुष सौन्दर्य से मण्डित कर उसे पुरुष के समक्ष बिठाकर, स्वतन्त्र सामाजिक व्यक्तित्व की शील, गरिमा प्रदान की है।"[३]

विश्व मानवतावाद—विश्व मानवतावाद छायावाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। उच्चतर मानवीय मूल्यों की सुन्दर और विशद प्रतिस्थापना इस काव्य में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। छायावाद ने युग-संघर्ष को हमेशा अपने दृष्टि-पथ में रखा। करुणा, मैत्री और विश्व-बन्धुत्व के साथ ही युद्ध और

१. छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० ४८।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११६।
३. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३५।

भोगवाद का विरोध तथा पाशविकता से मुक्ति का आह्वान इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता है। आज समस्त मानव-जाति दु:खों से सन्तप्त है। हर जगह किसी-न-किसी प्रकार का दु:ख व्याप्त है। उन दु:खों को दूर करने के लिए छायावाद के पास कई शस्त्र हैं जैसे—आध्यात्मिक उन्नयन, सौन्दर्यात्मक दृष्टि, भौतिक प्रगति, वेदना-संकुल भाव-सिद्धि, करुणा-जल-वृष्टि आदि। ये मार्ग पृथक् पृथक् व समन्वयात्मक दोनों रूपों में उपलब्ध हैं। प्रसाद, निराला, पंत का समस्त काव्य विश्व-चिन्तन और विश्व-संस्कृति के संदर्भ में मानवीय दृष्टिकोण का सशक्त परिचायक है। मानव-मात्र के बीच भेद-भावना को हटा कर एक अकलुषित समाज के पुनरस्थापन की कल्पना की गयी है—

मानव का मानव पर प्रत्यय, परिचय मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण सब एक, एक सब में प्रकाश।[१]

"आधुनिक युग की अर्जित राशि (विश्व मानववाद और विज्ञानवाद) को यदि आत्मिक धरातल पर स्वीकृति का स्वरूप कहीं मिला है तो छायावादी काव्य में।"[२] नि:सन्देह छायावादी काव्य में मानवीय दृष्टिकोण और मानवीय मूल्यों की स्थिति सराहनीय है। परन्तु कुछ आलोचकों ने छायावाद को पलायन, कल्पना और सौन्दर्य में डूबा हुआ समाज से निरपेक्ष काव्य तथा आभिजात्य मनोवृत्ति का काव्य कहकर उस पर आरोप लगाये हैं। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि यदि एक ओर कवि "ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे" कहकर जगत् से पलायन करता है तो दूसरी ओर प्रकृति सौन्दर्य में रमने वाला रोमानी कवि सब बातों को भूलकर कहता है—

सुन्दर है सुमन, विहग सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम
निर्मित सबकी तिल सुषमा से
तुम निखिल विश्व में चिर निरुपम।[३]

इस प्रकार कवि मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा करता हुआ संघर्ष की शक्ति देता है। छायावाद में भी आस्था का सन्देश है, अनास्था का नहीं।

अभिव्यञ्जना शैली में क्रान्ति—छायावाद में शब्द-चयन, वाक्य-

१. आधुनिक कवि पंत, पृ० ७०।
२. छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० ८२।
३. आधुनिक कवि पंत, पृ० ६९।

विन्यास, प्रतीक-योजना और छन्दों की दृष्टि से अभिनव प्रयोग हुए। भाव के साथ शिल्प में भी क्रान्ति हुई। इन कवियों ने अपने हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को लाक्षणिक, प्रतीकात्मक शैली द्वारा व्यक्त किया। भाषा में अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का अधिक प्रयोग किया। भाव और अभिव्यंजना का पूर्ण सामञ्जस्य छायावादी काव्य में दृष्टिगत होता है। इस सम्बन्ध में पंत जी का मत द्रष्टव्य है—

"सफल काव्य उसे कहते हैं जो भाव और कला-शिल्प में तादात्म्य स्थापित कर सके। जिस काव्य में केवल विचार तथा भाव-बोध की ही प्रधानता रहती है उसे कला-शिल्पगत सौन्दर्य का रसात्मक स्पर्श नहीं मिल पाता, वह काव्य भी पाठक के हृदय को प्रभावित करने में समर्थ नहीं होता। शिल्प और कलागत सौन्दर्य काव्य-पक्ष या काव्य-विहग के उन पंखों के समान हैं जो उसके स्वर-मुखर व्यक्तित्व को दूर-दूर तक प्रसरित करने में समर्थ होते हैं। भाव तथा स्वर-शब्द की अन्योन्याश्रित संगति ही सफल काव्य या उच्चकोटि के काव्य का लक्षण है।"[१]

इन सौन्दर्योपासक छायावादी कवियों ने भाषा को सुन्दर, मधुर, सशक्त और समर्थ बनाते हुए कलात्मक या शिल्पगत वैभव में वृद्धि की। भाषा-वैभव के आधार पर छायावाद को खड़ी बोली के विकास की चरम परिणति माना गया है। भाषा के अतिरिक्त छन्द, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, लिंग और शब्द-निर्माण सम्बन्धी नवीन प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुए। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

निष्कर्ष—छायावाद के प्रवृत्तिगत अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक सचेष्ट काव्य विधा है जिसने शाश्वत और युगीन—दोनों समस्याओं को आत्मसात् किया। वह सर्वदेशीय और सर्वयुगीन है क्योंकि इसमें मानव-जीवन की चिरन्तन और मौलिक समस्याओं का आकलन है। इसका आधार उच्चस्तरीय मानवीय मूल्य है जिसकी पृष्ठभूमि में सुन्दर दार्शनिक, सांस्कृतिक पीठिका है। उसने अपने युग की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की। उसमें जहाँ कल्पना की उड़ान है वहाँ व्यक्तिगत साधना का पवित्र सन्देश भी है। उसकी कल्पना व्यर्थ नहीं हुई। वह नवीनता का सन्देश देती है। इस प्रकार छायावाद की उक्त वर्णित प्रवृत्तियाँ उसके भावगत और शिल्पगत वैभव को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी विशेषताओं का स्पष्ट स्वरूप उपस्थित करती हैं।

१. पंत जी से बातचीत के अन्तर्गत उनका कथन।

छायावादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य

कला, शिल्प और भाव का तादात्म्य ही सफल काव्य का द्योतक है। वस्तुतः कला और शिल्पगत सौन्दर्य भावाभिव्यक्ति के अधीन रहते हैं। केवल भाव अथवा शिल्प काव्य को रसात्मकता प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए भावगत सौन्दर्य और कला-शिल्प की अन्योन्याश्रित संगति आवश्यक है। छायावाद हिन्दी कविता की चरम उपलब्धि है। इस काल का काव्य भाव, भाषा, कला, शिल्प, सौन्दर्य सभी दृष्टि से सफल काव्य है। छायावादी कविता में कला-शिल्पगत सौन्दर्य के अन्तर्गत पहले हम उसके भावपक्ष तदनन्तर उसके कलापक्ष का विवेचन पृथक्-पृथक् करेंगे।

भावपक्ष—छायावाद नवीन अन्तःसौन्दर्य का ऐसा कला-बोध है जिसमें ऊर्ध्वमूलक चेतना का भाव-प्रकाश सन्निहित है। उसका कला-बोध इसलिए महान् है क्योंकि उसका भाव-बोध अमूल्य है। "गांधी युग में जन्म लेने पर एवं द्विवेदी युग का उत्तराधिकारी होने पर भी छायावाद की प्रेरणा के स्रोत इस बहिर्मुखी राष्ट्रीय जागरण की शक्तियों से बहुत भीतर मानव के अन्तरतम रस-मूलों में, उनसे बहुत ऊपर उपनिषदों की सहज स्फुरित प्रज्ञाज्योति के शिखरों पर, और उनसे बहुत व्यापक विश्व-चेतना तथा विश्व-जीवन के धरातल पर जन्म ले रहे नवीन आशा-उल्लास सौन्दर्य तथा भावी प्रगति-विकास के स्वप्न-सत्य संवेदनों से उतरे हैं।"[१]

कल्पना और अध्यात्म—यह प्रेरणा-स्रोत तात्त्विक रूप से कल्पना तत्त्व और उदात्त तत्त्व दो रूपों में अभिव्यक्त हुए। कल्पना काव्य का प्राणतत्त्व है। भारतीय काव्य-कल्पना पश्चिम की सर्जनात्मक कल्पना और वेदान्त दर्शन दोनों से प्रभावित है। इसी कारण काव्य में आध्यात्मिक गुणों का समावेश हुआ है। ये दोनों ही तत्त्व काव्य-सौन्दर्य के आधार हैं—

सुन्दर, शिव, सत्य, कला के कल्पित माप-मान,
बन गए स्थूल, जग-जीवन से हो एक प्राण।[२]

---

१. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २६।

२. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३३।

उदात्त कल्पना सूक्ष्म और तात्त्विक दृष्टि का परिणाम है। यही सूक्ष्म दृष्टि आध्यात्मिक कल्पना को जन्म देती है। छायावादी कवियों का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक रहा है। शायद इसी कारण उनके सौन्दर्य-चित्रणों में ऐन्द्रियता से ऊपर उठने की चेष्टा विद्यमान रहती है। उनकी मान्यता है कि ऐन्द्रिय सीमाओं में बँधा सौन्दर्य क्षणभंगुर होता है परन्तु ऐन्द्रिय सीमाओं के अतिक्रमण में अवस्थित सौन्दर्य शाश्वत होता है। अतः उन्होंने शाश्वत सौन्दर्य की ओर ही लोगों को प्रेरित किया है। इन कवियों के मन में आध्यात्मिक जिज्ञासा है। वह सृष्टि के बाह्य सौन्दर्य पर मोहित उसके निर्माता ब्रह्म के चिन्तन में लीन हो जाता है—

विश्वदेव सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन मे अम्लान।[१]

जिज्ञासा का यही भाव पंत की उल्लिखित पंक्तियों मे दृष्टिगत होता है—

माँ, वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छबि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में ?[२]

कल्पनाशील कवि ही प्रकृति के बाह्य उपादानों में अज्ञात सत्ता का आभास पा आत्मविभोर हो सकता है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रहती है। इसीलिए वह कवि की भाँति उल्लसित भी नहीं हो पाता। प्राकृतिक सौन्दर्य का अज्ञात सत्ता से सौन्दर्य-स्थापन कवि की दार्शनिक दृष्टि का ही परिणाम है। सरिता की लहरों को देख कवि को स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में भाव-सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

अरी सलिल की लोल लहर।
यह कैसा स्वर्गिक हुलास ?
सरिता की चचल दृग कोर।
यह जग का अविदित उल्लास।

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० ३३।
२. वीणा—पंत, पृ० ४८।

ओ अकूल की उज्ज्वल हास !
अरी अतल की पुलकित श्वास !
महानद की मधुर उमंग !
चिर शाश्वत की अस्थिर लास !।[1]

सरिता की ध्वनि सांसारिक कोलाहल नहीं स्वर्गीय संगीत है इसलिए वह जग को अविदित है। यह स्वर्गिक संगीत कवि को ही सुनाई दे सकता है तथा वही सरिता की अस्थिरता में चिरंतन स्थिरता का लास अनुभव कर सकता है।

जिस प्रकार वीचि-विलास सिन्धु में बनते हैं और सिन्धु में ही बिगड़ते[2] हैं, उसी प्रकार जीव जन्म और मरण दोनों में ब्रह्म से एकाकार होता है। अतः निर्माण और विनाश दोनों का संचालक वही है। सृष्टि के विनाश और निर्माण में कवि उसी का स्वरूप देखता है—

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार,
एक ही मर्म मधुर झंकार।[3]

आध्यात्मिक कल्पना का महत्त्व स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"मन के भीतर लोकोत्तर उत्कर्ष की झाँकियाँ तैयार करना भी कल्पना का एक काम है।"[4]

उपर्युक्त कल्पना के अतिरिक्त छायावादी काव्य में भौतिक कल्पना के रूप भी उपलब्ध हैं अर्थात्—"ऐसी कल्पना जिनका आधार भौतिक उपादान है।

१. पल्लव—पंत, पृ० १०६।
२. सिन्धु को क्या परिचय दें देव। बिगड़ते बनते वीचि-विलास—रश्मि ? महादेवी वर्मा।
३. परिवर्तन—पल्लव—पंत, पृ० १५०।
४. चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६६ (भाग १)।

ऐतिहासिक ध्वंसावशेष कवि-कल्पना का स्पर्श पा विशेष चारुता एवं सौन्दर्य से सुसज्जित हो उठते हैं। सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ-साथ जिसमें जितनी ही गहरी भावुकता होगी, जितनी तत्पर कल्पना-शक्ति होगी उसके मन में उतने ही ब्यौरे आयेंगे और पूर्ण चित्र खड़ा होगा।"[1] कल्पना के इस रूप से काव्य में एक विशेष सौन्दर्य का नियोजन हुआ है। जैसे दिल्ली नगर को देख कर कवि के मानस में उसका सम्पूर्ण इतिहास साकार हो उठता है, जिसका काव्यमय वर्णन इस प्रकार है—

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र,
चिर-कुमार भीष्म की पताका, ब्रह्मचर्य-दीप्त,
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में,
उज्ज्वल अधीर और चिर नवीन ?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीत गीता—सिंहनाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य-चक्र ?—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर ?[2] आदि।

इसी प्रकार खण्डहर को देख कवि विभिन्न कल्पनाएँ करता है। आभाहीन हो जाने के कारण वह उसे पुरातन का मलिन साज कहता है इसके अतिरिक्त वह मनुष्य का आवाहन भी करता है कि नींद से जगकर सचेत हो जाओ, क्योंकि एक दिन यही दशा तुम्हारी भी हो जायेगी। कवि-कल्पना का प्रसार द्रष्टव्य है—

---

१. चिन्तामणि, भाग १—आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५८।

२. अनामिका—निराला, पृ० ५८।

खण्डहर ! खड़े हो तुम आज भी ?
अद्भुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज !
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए ?
पवन-संचरण के साथ ही
परिमल पराग-सम अतीत की विभूति-रज —
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में ।
क्या है उद्देश्य तव
बन्धन-विहीन भव !
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के ?[1]

छायावादी कविता में कवि-कल्पना का प्रसार सृष्टि-सौन्दर्य, भौतिक सौन्दर्य के साथ ही मानवीय संवेदनाओं के सौन्दर्यात्मक निरूपण में भी हुआ है। जिस प्रकार कवि को बादल, पुष्प, सरिता की लोल लहर, परिवर्तन, विनाश, निर्माण, ध्वंसावशेष आदि में ब्राह्मिक सौन्दर्य दृष्टिगत होता है उसी प्रकार मानवीय संवेदनाओं एवं अनुभूतियों में उसे विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं जो ब्रह्मानुभूति ही है । सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग सबका वह आनन्द लेता है।

पंत जी की धारणा है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य में निहित मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध[2] का प्रभाव छायावादी कविता पर पड़ा है। वह कहते हैं, "भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पश्चिम के यन्त्र-युग के सौन्दर्य से मण्डित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था । इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्य-बोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था । इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए ।"[3] यह नवीन सौन्दर्यबोध छायावाद की सर्वोपरि देन है। इसी कारण

१. अनामिका—निराला, पृ० २६ ।
२. पंत जी ने आधुनिक सौन्दर्यबोध के दो प्रकार माने हैं—यन्त्रयुग का मध्यवर्गीय सौन्दर्य-बोध और यन्त्रयुग का जनवादी सौन्दर्यबोध ।
३. रश्मिबन्ध—पंत, पृ० ११ ।

जहाँ अन्य काव्य-धाराओं के प्रेमकाव्य में राग-भावना की प्रधानता है वहाँ छायावादी प्रेम-काव्य में सौन्दर्य-भावना की।

प्रणय-भाव—प्रेम जीवन का मार्मिक भाव है। अमृत-तत्त्व का साक्षात् स्वरूप होने के कारण प्रेम सदैव आनन्द का स्रोत रहा है—

प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक्—
भरते अन्तर पुलकराशि से बार-बार
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी[1]

यहाँ प्रेम की प्रथमानुभूति के आनन्द का अत्यन्त सूक्ष्म छायावादी वर्णन है। यह अनुभूति होने पर चारों ओर आनन्द के निर्झर झरने लगते हैं। जब किसी नदी में चक्राकार गति होती है तो मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है। उसके मध्य जो सौन्दर्यमयी उर्वशी उठती है उसी प्रकार वह प्रथम प्रेम की अनुभूति भी सौन्दर्यमयी होती है। वर्णन इतना सूक्ष्म और कलात्मक है कि उसका विश्लेषण करना काव्य-सौन्दर्य की हत्या करना होगा। यह तथ्य भी अपने में एक महान् प्रश्न है।

ऊपर हमने मिलनानुभूति की बात कही। अब प्रेम के वियोग के आनन्द को भी देखें। अधि संवेद्य एवं स्थायी होने के कारण छायावादी काव्य में तुलनात्मक रूप से वेदना का गान अधिक हुआ है—

अश्रु हैं अनमोल मोती दृष्टि के,
नयन के नादान शिशु! इस विश्व में,
आँख है सौन्दर्य जितना देखती,
प्रतनु! तुम उससे मनोरम हो कहीं।[2]

आँसू अनमोल मोती हैं जिनमें संसार का सुन्दरतम रहस्य छिपा हुआ है। इस रहस्य को आँखें देखने में असमर्थ हैं। इन्हें केवल अनुभूति से समझा जा सकता है। अतएव आँसू अलौकिक वरदान हैं। आँसू और वेदना जब उसी परब्रह्म के वरदान हैं तब कवि को सारी सृष्टि वेदना-पूर्ण दिखायी देती है। वेदना के विशद रूप में समस्त ब्रह्माण्ड समाहित है और कवि का काव्य भी वेदना परिपूरित है—

१. अनामिका—निराला, पृ० २।
२. ग्रन्थि—पंत, पृ० १८।

आह यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन
शब्द शब्द हैं सुधि की दंशन,
चरण चरण है आह।
कथा है कण कण करुण अथाह
बूँद में है बाड़व का दाह।[१]

वेदना की अग्नि में तपकर ही कवि को 'सत्य'' का आभास होता है, क्योंकि पहले (संयोग पक्ष में) उसका प्रेम रूपाकर्षण पर आधारित था इसलिए वह विफल रहा। अतीव वेदना की कसौटी पर कस चुकने के उपरान्त सत्य सामने आया और उसने अनुभव किया कि रूप-जल की वह प्यास प्रेम नहीं बल्कि सामयिक उन्माद भर था—

विष प्याला जो पी ली थी
वह मदिरा बनी नयन में
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में।[२]

वियोगावस्था में सच्चे प्रेम की अनुभूति का साक्षात्कार हुआ। वेदना जब अपने उत्कर्ष पर पहुँचेगी तो उसे उसकी अभिलषित वस्तु प्राप्त हो जायगी। कवि की वेदना-जन्य ज्वाला के प्रकाश को पाकर वेदनाग्रस्त संसार उसके निकट आता है। अतः इस ज्वाला के अभाव में न तो संसार को प्रकाश मिलेगा और न कवि संसार के निकट पहुँच पायेगा। अतएव कवि की यही अभिलाषा है कि उसकी ज्वाला सतत जल कर विश्व में आलोक फैलाती रहे और आँसू सब को हरा-भरा बनाता रहे—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।[३]

हमने लक्ष्य किया कि जिस ज्वाला और आँसू का प्रारम्भ व्यक्तिगत प्रेम-

१. पल्लव—पंत, पृ० १२।
२. आँसू—प्रसाद, पृ० २४।
३. वही, पृ० ३५।

जनित वियोग को लेकर हुआ था उसी ज्वाला और आँसू का अन्त विश्व को प्रकाश और छाया देने में हो रहा है। यह उदात्त चिन्तन का रूप है। व्यक्ति सुख-चैन को लोकमंगल के लिए अर्पण कर देने की भावना लोक-हृदय की परख किये बिना तथा उसके प्रति संवेदनशील हुए बिना नहीं उत्पन्न हो सकती। यहाँ लोक-हृदय का परिष्कार भी कवि का अभीष्ट रहा है। इसी कारण काव्य में आध्यात्मिकता का समावेश हुआ है। यह आध्यात्मिक भावना किस प्रकार व्यक्तिगत अभिलाषा को लोक-कल्याण में विलीन कर देती है, यह हम छायावादी काव्य में सर्वत्र देखते हैं।

छायावादी काव्य में वेदना के संवेदन को शाश्वत संवेदन के रूप में स्वीकार किया गया है जिसमें समस्त जगत् को एकसूत्र में बाँधने की क्षमता है। छायावादी काव्य मानववादी काव्य है। इसमें मानव-जीवन के शाश्वत संवेदनों का निरूपण हुआ है। इन संवेदनों का भावन आध्यात्मिक, नैतिक एवं साधनात्मक धरातल पर अवश्य हुआ है। परन्तु इसे हम रहस्यवाद की संज्ञा नहीं दे सकते। वैसे तो व्यापक अर्थ में प्रत्येक कविता किसी-न-किसी रहस्य का उद्घाटन करती है क्योंकि वह किसी भी वस्तु या विषय के मर्म का भावना की समग्रता में उद्घाटन करती है और उसे एक नवीन या प्रच्छन्न सौन्दर्य, प्रच्छन्न बोध तथा नवीन मूल्य का माध्यम बना देती है, पर मध्ययुग में जिस प्रेम-साधना या भाव-योग आदि के लिए रहस्यवाद शब्द प्रयुक्त होता आया है उससे काव्य में वस्तु या भाव के इस मर्मोद्घाटन या रहस्योद्घाटन की चूल किसी प्रकार भी नहीं बैठती है।"[1]

छायावादी काव्य में प्रेम-भाव अपने समग्र रूप में सामने आया है। वह कहीं समस्त सृष्टि पर छायी रागात्मक भावना का प्रतिनिधित्व करता है तो कहीं मनुष्य-मनुष्य के बीच की राग-भावना का। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस काव्य में हमें प्रेम का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। मध्यकालीन कोरी मर्यादावादी दृष्टि की पुनरावृत्ति नहीं होने पायी है। छायावादी कवि ने नारी का विश्व-मानवी, विदुषी, सुसंस्कृता, चिर-सहयोगिनी, कर्मठा, सबला, करुणामयी आदि रूप प्रदर्शित कर नर-नारी के सशंकित सम्बन्धों को समाप्त कर दिया है। वह उसे पुरुष के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर विश्व-प्रांगण में उतर आने का आह्वान करता है।

---

१. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० २१।

पंत जी के काव्य में भी जगत् में व्याप्त शाश्वत प्रेम का वर्णन मिलता है। उसकी शीतल ज्वाला सर्वत्र प्रज्ज्वलित है। उनकी प्रेम-भावना के सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह का मत है कि "पंत के प्रेम की विशेषता उनकी शैशव-सुलभ सरलता में निहित है। इसमें न मधु की मिठास है, न ज्वार का-सा उफान। इसमें छोटे-से-छोटे पहाड़ी झरने की सरलता है। 'उच्छ्वास', 'आँसू' एवं 'ग्रंथि' की सरल बालिका को जिस भोलेपन के साथ पंत जी ने स्मरण किया है और उसके विछोह में जिस तरह सारा हृदय खोल कर रख दिया है वह बेजोड़ है।"[1] प्रसाद ने प्रेम को "चेतना का उज्ज्वल वरदान"[2] कहा है। निराला प्रेम को असूत्र बताते हैं। उनका प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है—

प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो,
उर उर के हीरों के हार,
गूँथे हुए प्राणियों को भी
गूँथे न कभी सदा ही सार।[3]

छायावादी कवि सूक्ष्मान्वेषी थे, उसी दृष्टि से उन्होंने प्रेम को भी देखा और उसके पारम्परिक अर्थ को बदल दिया। उनकी यह प्रेम-भावना रहस्यवादी प्रेम से भी मेल नहीं खाती, क्योंकि दोनों का विषय एक होते हुए भी परस्पर तात्विक अन्तर है। रहस्यवादियों ने व्यक्तिगत वेदना का मर्मोद्घाटन किया जबकि छायावादी कवि ने लोकमंगल के विभिन्न रूपों का उद्घाटन किया।

भावना की प्रधानता—वास्तव में छायावाद के भाव-पक्ष को उसकी अत्यधिक भावुकता ने उसे प्रभावोत्पादकता प्रदान की है। भावतत्त्व ही अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्रधान माना जाता है। भावतत्त्व ही काव्य में सब कुछ है, कल्पना और बुद्धि तत्त्व उसके सहायक तथा उत्कर्षवर्द्धक मात्र हैं। जिस तरह मानव-मन के भाव जटिल और दुरूह हुआ करते हैं, उसी तरह काव्य के भी। काव्य के भाव बड़े विचित्र और अनोखे होते हैं। काव्य में जो विविधता और विलक्षणता दिखायी देती है, उसका मूल कारण यही मानव मन की विचित्रता, चंचलता एवं अनेकरूपता है। भाव कवि के हृदय में उठते हैं और वह कल्पना

१. छायावाद—डॉ० नामवर सिंह, पृ० ५७।
२. कामायनी—प्रसाद, पृ० ७४।
३. अनामिका—निराला, पृ० ३२।

और बुद्धि के सहारे उन्हें वाणी देता है। मन में तरंगित वे भाव कई प्रकार के होते हैं और हो सकते हैं।[1] अर्थात् हम कह सकते हैं कि काव्य के लिए भाव अत्यावश्यक है उसकी अभिव्यक्ति होने पर ही काव्य-सृजन होगा। किसी बात से हमारे मर्म को चोट पहुँची हो, हमारा मन अति दुःख से पीड़ित हो, आँखों में अश्रु हों यानी वेदना का पूर्ण भाव उपलब्ध है परन्तु केवल भावोद्रेक ही तो काव्य नहीं, जब प्रसाद के समान कवि उस भाव को 'आँसू' की पंक्तियों में ढालता है तभी वह काव्य बनता है। कल्पना-तत्त्व से उसे बल मिलता है और चिन्तन या विचार-तत्त्व से गाम्भीर्य। छायावादी काव्य में इन तीनों तत्त्वों का सुन्दर सामंजस्य दृष्टिगत होता है। चिन्तन अथवा दर्शन पक्ष से कवि की भावुकता अथवा काव्य-सौन्दर्य को कोई क्षति नहीं पहुँची है। अब हम भावुकता और सौन्दर्य-सम्बन्धी कुछ उदाहरण देखेंगे। प्रकृति तो छायावादी कवि के लिए खुली पुस्तक के समान है। कवि की भावुकता ने ही उससे प्रकृति का मानवीकरण कराया है और उसे अपना सहचर बना लिया है। हमारे आलोच्य कवि पंत जिन्हें हम 'प्रकृति-कवि' भी कह सकते हैं प्रकृति के लिए विश्व का समस्त आकर्षण त्याग देने को प्रस्तुत हैं—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन,
भूल अभी से इस जग को ?[2]

एक स्थान पर कवि तरुवर की छाया को देख समान संवेदना का अनुभव कर भावुक हो उठता है—

अहा! अभागिन हो तुम मुझ-सी
सजनि! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया।[3]

प्रकृति का स्थूल रूप तो दृष्टिगत है परन्तु उसका सूक्ष्म रूप या भावात्मक रूप अन्तःकरण की भाँति अदृश्य है। इसी सूक्ष्म रूप को ग्रहण करने के लिए कवि प्रकृति से कहता है—

---

१. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन—श्री दीनानाथ शरण, पृ० २३।
२. पल्लव (मोह कविभात)—पंत, पृ० ३७।
३. वीणा · पंत, पृ० १३।

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया-तन, छायालोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि ।
उर की आँखों का आलोक ![1]

यह "छाया-तन" और "छाया-आलोक" छायावाद में प्रकृति का वरदान बना ।

निराला ने मानवीय भावनाओं के सन्दर्भ में प्रकृति का अनूठा उपयोग किया है । उन्होंने प्राकृतिक उपादानों द्वारा उद्दाम शृंगार के वासनात्मक चित्र उपस्थित किये हैं जो वर्णन की दृष्टि से तो स्थूल हैं परन्तु काव्य-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त रम्य बन पड़े हैं । 'जुही की कली' नामक उनकी प्रसिद्ध कविता में शृंगार के मिलन-पक्ष का अत्यन्त कलात्मक वर्णन द्रष्टव्य है—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी,
विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।
आयी याद बिछुड़न से, मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज लता-पुञ्जों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ ।
सोती थी

१. पल्लव (छाया)—पंत, पृ० ५८-५९ ।

जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल ।[1]

महादेवी जी का समस्त काव्य वेदना-भाव से स्पन्दित है । इस शाश्वत भाव को सतत प्रवहमान रखते हुए उन्होंने भी प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ![2]

सौन्दर्य-दृष्टि—यह सर्वमान्य है कि सौन्दर्य काव्य एवं अन्य ललित कलाओं का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसका बहुत ही ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक संवेगों के साथ है । इस सौन्दर्य-तत्त्व के प्रति छायावादी कवि पर्याप्त सचेत दीख पड़ते हैं ।[3] 'सौन्दर्य का भावात्मक संवेगों के साथ ऋजु सम्बन्ध' से डॉ० कुमार विमल का क्या तात्पर्य है, हम नहीं कह सकते परन्तु इतना तो असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि भाव जिस पर काव्य अथवा साहित्य आधारित होता है कला के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पर्क में आने वाले के हृदय में भी वही भाव प्रतिध्वनित होकर प्रेषणीय हो सके । दूसरे, उत्कृष्ट काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की अनिवार्यता मानी गयी है । काव्यगत रस की निष्पत्ति हेतु भी सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा है । काव्य में बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भावात्मक सौन्दर्य उत्कृष्ट माना गया है । छायावादी काव्य में इसी भावात्मक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । छायावाद के विरोधी आलोचक डॉ० देवराज उपाध्याय भी इस तथ्य से सहमत हैं । उनके अनुसार "साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य की मुख्य उपलब्धि हिन्दी-पाठकों में सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है । शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की प्रवृत्ति एकाएक सौन्दर्यमुखी हो उठी ।"[4]

---

१. 'जुही की कली' कविता—निराला ।
२. संधिनी —महादेवी वर्मा, पृ० १०८ ।
३. छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० कुमार विमल, पृ० ६२ ।
४. छायावाद का पतन—डॉ० देवराज, पृ० १८ ।

जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल ।[1]

महादेवी जी का समस्त काव्य वेदना-भाव से स्पन्दित है। इस शाश्वत भाव को सतत प्रवहमान रखते हुए उन्होंने भी प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ![2]

सौन्दर्य-दृष्टि—यह सर्वमान्य है कि सौन्दर्य काव्य एवं अन्य ललित कलाओं का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसका बहुत ही ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक संवेगों के साथ है। इस सौन्दर्य-तत्त्व के प्रति छायावादी कवि पर्याप्त सचेत दीख पड़ते हैं।[3] 'सौन्दर्य का भावात्मक संवेगों के साथ ऋजु सम्बन्ध' से डॉ० कुमार विमल का क्या तात्पर्य है, हम नहीं कह सकते परन्तु इतना तो असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि भाव जिस पर काव्य अथवा साहित्य आधारित होता है कला के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पर्क में आने वाले के हृदय में भी वही भाव प्रतिध्वनित होकर प्रेषणीय हो सके। दूसरे, उत्कृष्ट काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की अनिवार्यता मानी गयी है। काव्यगत रस की निष्पत्ति हेतु भी सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा है। काव्य में बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भावात्मक सौन्दर्य उत्कृष्ट माना गया है। छायावादी काव्य में इसी भावात्मक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। छायावाद के विरोधी आलोचक डॉ० देवराज उपाध्याय भी इस तथ्य से सहमत हैं। उनके अनुसार "साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य की मुख्य उपलब्धि हिन्दी-पाठकों में सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है। शेली, कीट्स, वर्डसवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की प्रवृत्ति एकाएक सौन्दर्यमुखी हो उठी।"[4]

---

१. 'जुही की कली' कविता—निराला।
२. संधिनी —महादेवी वर्मा, पृ० १०८।
३. छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० कुमार विमल, पृ० ६२।
४. छायावाद का पतन—डॉ० देवराज, पृ० १८।

एक अन्य स्थान पर डॉ० कुमार विमल का कथन है कि "यथार्थ की अनुपलब्धि के कारण छायावादियों की सौन्दर्य चेतना हमारी प्रशंसा की अधिकारिणी न बन सकी। यथार्थ के रिक्त स्थल की पूर्ति उन्होंने कल्पना के द्वारा की। " इसलिए उनका सौन्दर्याङ्कन और आस्वादन अभ्यासमय रहा। उनकी सौन्दर्य-रेखाएँ उतनी उभर न सकीं जितनी हमारी वृत्तियों को रमाने और इन्द्रियों के सन्निकर्ष के लिए आवश्यक है।"[1] डॉ० विमल के इस वक्तव्य से भी हम सहमत नहीं हैं, क्योंकि छायावादी काव्य केवल कल्पना की उड़ान भर तो नहीं है, उसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से है। सौन्दर्य की उत्कृष्ट रेखाओं का उभार है। यदि ऐसा न होता तो इस काल का काव्य अपनी समस्त उपलब्धियों सहित आज हमारे समक्ष न होता। छायावाद की सौन्दर्य-चेतना की प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसमें दो अतियों—स्थूल सौन्दर्य और सूक्ष्म सौन्दर्य का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित हुआ है। मांसलता के साथ नवीन सूक्ष्म भावात्मकता भी है। शरीर की स्थूलता के साथ मन की भावनात्मकता का ऐसा सौन्दर्य अन्यत्र नहीं है।

सौन्दर्य-भावना के प्रति छायावादी कवि विशेष रूप से चेतन थे। उत्कृष्ट सौन्दर्य-सृजन के लिए निराला ने 'तटस्थ-भावन' अथवा 'निस्संग आत्मनिष्ठता' को महत्त्व दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भावना के भीतर से किये गये सौन्दर्य-पर्यवेक्षण तथा सौन्दर्य के चाक्षुष-पक्ष 'रूप' को भी काव्य में प्रभविष्णुता की दृष्टि से अनिवार्य माना है। एक अन्य तथ्य कि कविता का सौन्दर्य उसकी पूर्णता में निहित रहता है, इसे भी उन्होंने स्वीकार किया है। अपनी कविता का उदाहरण देकर उन्होंने इस बात की पुष्टि भी की है। 'जुही की कली' कविता का सौन्दर्य 'खण्ड' में नहीं बल्कि उसकी 'सम्पूर्णता' में है।[2]

सौन्दर्य भावना सम्बन्धी प्रसाद के विचार बौद्धिक हैं। चरम सौन्दर्य को मानसिक मानते हुए उन्होंने इसे ईश्वरीय विभूति के रूप में स्वीकार किया है 'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।'[3] इस प्रकार सौन्दर्य के प्रति प्रसाद जी का एक सुचिन्तित दृष्टिकोण है। हालाँकि (छायावाद में)

१. साहित्य (मासिक पत्रिका)—सम्पादक—शिवपूजन सहाय—नलिन विलोचन शर्मा, पृ० ६६।

२. प्रबन्ध प्रतिभा—निराला, पृ० २८४।

३. कामायनी—प्रसाद, पृ० ३०२।

जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल ।[१]

महादेवी जी का समस्त काव्य वेदना-भाव से स्पन्दित है। इस शाश्वत भाव को सतत प्रवहमान रखते हुए उन्होने भी प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ![२]

सौन्दर्य-दृष्टि—यह सर्वमान्य है कि सौन्दर्य काव्य एवं अन्य ललित कलाओं का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसका बहुत ही ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक संवेगों के साथ है। इस सौन्दर्य-तत्त्व के प्रति छायावादी कवि पर्याप्त सचेत दीख पड़ते हैं।[३] 'सौन्दर्य का भावात्मक संवेगों के साथ ऋजु सम्बन्ध' से डॉ० कुमार विमल का क्या तात्पर्य है, हम नहीं कह सकते परन्तु इतना तो असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि भाव जिस पर काव्य अथवा साहित्य आधारित होता है कला के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पर्क में आने वाले के हृदय में भी वही भाव प्रतिध्वनित होकर प्रेषणीय हो सके। दूसरे, उत्कृष्ट काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की अनिवार्यता मानी गयी है। काव्यगत रस की निष्पत्ति हेतु भी सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा है। काव्य में बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भावात्मक सौन्दर्य उत्कृष्ट माना गया है। छायावादी काव्य में इसी भावात्मक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। छायावाद के विरोधी आलोचक डॉ० देवराज उपाध्याय भी इस तथ्य से सहमत हैं। उनके अनुसार "साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य की मुख्य उपलब्धि हिन्दी-पाठकों में सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है। शेली, कीट्स, वर्डसवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की प्रवृत्ति एकाएक सौन्दर्यमुखी हो उठी।"[४]

---

१. 'जुही की कली' कविता—निराला।
२. संधिनी—महादेवी वर्मा, पृ० १०८।
३. छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० कुमार विमल, पृ० ६२।
४. छायावाद का पतन—डॉ० देवराज, पृ० १८।

एक अन्य स्थान पर डॉ० कुमार विमल का कथन है कि "यथार्थ की अनुपलब्धि के कारण छायावादियों की सौन्दर्य चेतना हमारी प्रशंसा की अधिकारिणी न बन सकी। यथार्थ के रिक्त स्थल की पूर्ति उन्होंने कल्पना के द्वारा की। .. इसलिए उनका सौन्दर्याङ्कन और आस्वादन अभ्यासमय रहा। उनकी सौन्दर्य-रेखाएँ उतनी उभर न सकीं जितनी हमारी वृत्तियों को रमाने और इन्द्रियों के सन्निकर्ष के लिए आवश्यक है।"[१] डॉ० विमल के इस वक्तव्य से भी हम सहमत नहीं हैं, क्योंकि छायावादी काव्य केवल कल्पना की उड़ान भर तो नहीं है, उसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से है। सौन्दर्य की उत्कृष्ट रेखाओं का उभार है। यदि ऐसा न होता तो इस काल का काव्य अपनी समस्त उपलब्धियों सहित आज हमारे समक्ष न होता। छायावाद की सौन्दर्य-चेतना की प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसमें दो अतियों—स्थूल सौन्दर्य और सूक्ष्म सौन्दर्य का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित हुआ है। मांसलता के साथ नवीन सूक्ष्म भावात्मकता भी है। शरीर की स्थूलता के साथ मन की भावनात्मकता का ऐसा सौन्दर्य अन्यत्र नहीं है।

सौन्दर्य-भावना के प्रति छायावादी कवि विशेष रूप से चेतन थे। उत्कृष्ट सौन्दर्य-सृजन के लिए निराला ने 'तटस्थ-भावन' अथवा 'निस्संग आत्मनिष्ठता' को महत्त्व दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भावना के भीतर से किये गये सौन्दर्य-पर्यवेक्षण तथा सौन्दर्य के चाक्षुष-पक्ष 'रूप' को भी काव्य में प्रभविष्णुता की दृष्टि से अनिवार्य माना है। एक अन्य तथ्य कि कविता का सौन्दर्य उसकी पूर्णता में निहित रहता है, इसे भी उन्होंने स्वीकार किया है। अपनी कविता का उदाहरण देकर उन्होंने इस बात की पुष्टि भी की है। 'जुही की कली' कविता का सौन्दर्य 'खण्ड' में नहीं बल्कि उसकी 'सम्पूर्णता' में है।[२]

सौन्दर्य भावना सम्बन्धी प्रसाद के विचार बौद्धिक हैं। चरम सौन्दर्य को मानसिक मानते हुए उन्होंने इसे ईश्वरीय विभूति के रूप में स्वीकार किया है 'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।'[3] इस प्रकार सौन्दर्य के प्रति प्रसाद जी का एक सुचिन्तित दृष्टिकोण है। हालांकि (छायावाद में)

१. साहित्य (मासिक पत्रिका)—सम्पादक—शिवपूजन सहाय—नलिन विलोचन—शर्मा, पृ० ६६।

२. प्रबन्ध प्रतिभा—निराला, पृ० २८४।

३. कामायनी—प्रसाद, पृ० ३०२।

सौन्दर्यानुभूति की यह प्रवृत्ति पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप है परन्तु प्रसाद जी ने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों की सौन्दर्यानुभूति की पद्धति के भेद को स्पष्ट कर दिया है—"ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त को विशेषता देकर उसकी सीमा में ही पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करती है।"[1] सौन्दर्य के एक मानसिक लोक का निर्माण इन्होने किया है, जिसकी प्रधानता 'कामायनी' में हम सर्वत्र देखते हैं। 'कामायनी' में सौन्दर्य के जिस रूप की प्रतिष्ठा हुई है वह निश्चय ही आत्मस्थ है। विश्व का बाह्य सौन्दर्य अन्त:-सौन्दर्य की ही प्रतिच्छाया है। इस अन्त:सौन्दर्य की भूमिका इच्छा, ज्ञान और क्रिया से सम्पन्न मनःस्थिति है। उन्हीं के शब्दों में—

समरस थे जड़ या चेतन
  सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
  आनन्द अखण्ड घना था।[2]

सौन्दर्य-भावना को अध्यात्मावेष्टित कर प्रसाद जी ने काव्य में प्रचुर उदात्त तत्त्व का समावेश किया। भव्य सौन्दर्य के औदात्य के कारण ही उनकी रचनाएँ स्तुत्य हो सकीं। प्रसाद जी की सौन्दर्य-भावना की चर्चा में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है उनकी सांस्कृतिक दृष्टि जिसे उन्होंने सौन्दर्य-बोध के लिए अत्यावश्यक समझा। संस्कृति से उनका लगाव उनकी रचनाओं द्वारा स्पष्ट है। उनके अनुसार 'संस्कृति सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[3]

"छायावाद का सौन्दर्यवादी प्रभाव तो पश्चिम का है, क्योंकि नये यन्त्र-युग के जीवन-सौन्दर्य तथा आशा-उल्लास को सर्वप्रथम पश्चिम का ही साहित्य वाणी देने में सफल हुआ था।... छायावाद में नये मूल्य ने अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौन्दर्य-बोध में पायी, इसलिए सौन्दर्य-बोध

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद, पृ० २८।
२. कामायनी—प्रसाद, पृ० ३०२।
३. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद, पृ० २८।

उस युग के काव्य की सबसे मौलिक तथा प्रमुख देन रही।"[1] पंत जी का यह कथन तो केवल छायावाद में 'सौन्दर्य' के महत्त्व को प्रकट करता है, वैसे उन्होंने काव्य अथवा कला-तत्त्वों में सौन्दर्य के सतत महत्त्व को प्रधानता दी है। उनके अनुसार "कलाकार अथवा कवि सौन्दर्य-स्रष्टा होता है जो जीवन की कुरूपता को भी सुन्दरता में परिवर्तित कर संसार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है।"[2]

पंत का काव्य विकसनशील रहा है और इस दिशा में उनका सौन्दर्य-भाव भी उत्तरोत्तर परिपक्व होता गया है। प्रारम्भ में (वीणा-काल) सौन्दर्या-भिव्यक्ति निसर्ग के माध्यम से हुई फिर (पल्लव-काल) भावना का सौन्दर्य दृष्टिगत हुआ। तत्पश्चात् (युगवाणी-काल) लोक-मंगल (शिव) से सम्बद्ध सौन्दर्य और अन्त में काव्य प्रौढ़ि की अवस्था में वह सौन्दर्य जीवन-सत्य के ऊर्ध्वतर मूल्यों के रूप में प्रकट हुआ जिसे हम मानसिक या आध्यात्मिक सौन्दर्य भी कह सकते हैं।[3] इस प्रकार सौन्दर्य का जो रूप पंत जी को अभीष्ट है वह कल्याण तथा भावना से निर्मित मानसिक सौन्दर्य है। उनके अनुसार—"अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य के क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान् एवं सजीव लगते हैं।"[4] कला में प्रवृत्ति-मूलक 'सौन्दर्य चेतना' को स्वीकार करते हुए उन्होंने तात्त्विक दृष्टि से ('चिदम्बरा' की भूमिका में) सौन्दर्य के चार रूपों का उल्लेख किया है—नैसर्गिक सौन्दर्य, सामाजिक सौन्दर्य, मानसिक और आध्यात्मिक

---

१. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३२।

२. कलाकार के पास हृदय का यौवन चाहिए, जिसे धरती पर उँड़ेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है।

—गद्यपथ—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०४।

३. कल्पना शक्ति से परिचालित होकर मैंने जो रचनाएँ लिखी हैं उन्हें मैं भावना का विलास ही मानता हूँ। जैसा 'परिवर्तन' को छोड़कर, मेरी अधिकांश 'पल्लव-काल' की रचनाएँ हैं। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण के तत्त्व हैं, पर तब मैं सौन्दर्य को मूल रूप में नहीं ग्रहण कर सका था। सौन्दर्य मूल कला की दृष्टि से भाव, विचार अथवा जीवन-मूल्य की अंतिम परिणति है। —कला और संस्कृति—पंत, पृ० १२५।

४. चिदम्बरा की भूमिका—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३०।

सौन्दर्य ।[१] त जी की सौन्दर्य-चेतना के विकास में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । सौन्दर्य के विकसित स्तरों पर भी प्रकृति ने उनका साथ नहीं छोड़ा है । 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्र उपलब्ध होते हैं । उन्हीं के शब्दों में—"प्रकृति निरीक्षण में मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में अधिक सहायता मिली है । प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है । प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी दूसरी विशेषता है—प्रकृति का नारी-रूप में चित्रण अथवा प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव कर स्वयं को ही नारी-रूप में चित्रित करना—

मैं सबसे छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ,
तेरा अंचल पकड़ पकड़ कर
फिरूँ सदा माँ तेरे साथ
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ ।[२]

ये पंक्तियाँ प्रकृति के प्रति उनके अगाध मोह की साक्षी हैं । वह कभी उससे विलग होना नहीं चाहते ।

'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी सौन्दर्य-कल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है ।"[३]

सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर-सुन्दर जगजीवन ![४]

जैसी पंक्तियों में युगीन वास्तविकता से ऊपर उठकर स्थायी वास्तविकता का अर्थात् जीवन-विकास के सत्य को पहचानने का संकेत है ।

सौन्दर्य-बोध का उन्नत सोपान जहाँ इन्होंने इसे 'अन्तर्मन का संगठन' माना[५] है—अधिदर्शन दृष्टि से मूल्यांकित किया है । इस प्रकार के सौन्दर्य की

१. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३७ ।
२. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८ ।
३. शिल्प और दर्शन—(पर्यालोचन)—पंत, पृ० ४१ ।
४. गुञ्जन—पंत, पृ० १६ ।
५. उत्तरा—पृ० १६—पंत—"संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के संगठन हैं ।"

दृष्टि से 'उत्तरा' इनकी उत्तम कृति है—'उत्तरा' को सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ।[१] इसके बाद की अन्य रचनाओं में भी इसी ऊर्ध्वोन्मुखी आध्यात्मिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। 'वाणी' की 'बुद्ध के प्रति' रचना में इस मानसिक सौन्दर्य का सुन्दर निदर्शन मिलता है—

> भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत,
> ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत।
> आत्मा को प्राणों से विलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति
> ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति।[२]

इस प्रकार यहाँ "नवीन आध्यात्मिक शिखरों का सौन्दर्य"[३] चित्रित हुआ है। सौन्दर्य-वृत्ति पंतकाव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है, उनका समस्त कृतित्व सौन्दर्यविेष्टित है। यह सौन्दर्य-तत्त्व उनके काव्य में इतने व्यापक रूप में वर्तमान है कि 'पंत का सौन्दर्य-दर्शन' विषय पर अलग से शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है।

सौन्दर्य के प्रति महादेवी का दृष्टिकोण अत्यन्त सूक्ष्म, अमांसल और साथ ही रहस्यात्मक भी है। अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा सौन्दर्य के प्रति अमांसलता का आग्रह सबसे अधिक महादेवी जी में है। वह कहती हैं कि "युगों से कवियों को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था, वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था।...... अतः मनुष्य की निम्न वासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को इसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली छायावाद युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।"[४] उनकी सौन्दर्य-चेतना का रहस्यात्मक पक्ष बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् के सौन्दर्य के सामंजस्य से सम्बन्धित है—"मानव के पास बाह्य-जगत् के समान एक सचेतन अन्तर्जगत् भी है। अतः उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक

---

१. चिदम्बरा (चरण-चिह्न)—पंत, पृ० १३।
२. वाणी—पंत, पृ० ५८।
३. शिल्प और दर्शन (चरण-चिह्न)—पंत, पृ० १२४।
४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—महादेवी वर्मा—संकलनकर्ता—गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ० ६६-६८।

रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामंजस्य पर प्रसन्न नहीं होता, वरन् विचार, भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामंजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत् का सामंजस्य बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्यजगत् का सामंजस्य अन्तर्जगत् में अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।"[1] यह भावात्मक दृष्टिकोण उस व्यापक सौन्दर्य की अनुभूति को स्पष्ट करता है जो काव्य और कला में जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है। सृष्टि का समस्त सौन्दर्य बाह्य रूपरेखा पर आधारित नहीं है वरन् आन्तरिक है। इसके अतिरिक्त महादेवी जी ने छायावादी सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को उस "सर्वात्मवाद" से उत्पन्न माना है जहाँ जड़ और चेतन की अभिन्नता बतायी गयी है। इस प्रकार उन्होंने छायावादी सौन्दर्य चेतना की सूक्ष्मता का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उसे अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है—सौन्दर्य की अनुभूति जितनी सहज है, उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन हो जाती है। सामान्यतः वह ऐसी सुखद अनुभूति है, जो वस्तुओं, रंगों, रेखाओं आदि की विशेष सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में अनायास उत्पन्न हो जाती है। इस तरह छायावाद के इन प्रमुख कवियों ने छायावादी प्रवृत्ति के अनुकूल सौन्दर्य-भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जिससे उनके भावपक्ष को अपूर्व कलात्मकता प्राप्त हुई।

निष्कर्ष—छायावाद एक नवीन लक्ष्य की पूर्ति के लिए साहित्य-क्षेत्र में उतरा था। वह किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों का उपजीवी काव्य नहीं था। उसने कई स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की और कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व अपनाये जो उसकी लक्ष्य-सिद्धि में सहायक हो सके। छायावाद को लक्ष्य-सिद्धि की अधिक चिन्तना थी, सिद्धान्त-निरूपण की कम। छायावादी कवि उस उदात्त भाव-लोक का प्राणी था जिसके काव्य का उद्देश्य लोकोत्तर-आनन्द न होकर लोक-आनन्द था, जिसके काव्य की अन्तश्चेतना में युग-विशेष के हृदय मन्थन तथा जीवन-संघर्ष का प्रतिबिम्ब था। उस अन्तश्चेतना ने मानव-जीवन को वह आलोक-पथ प्रदान किया जो उसे सामान्य जीवन से ऊपर उठने का संकेत करती है।

विश्व-मानवतावाद छायावाद का प्रमुख लक्ष्य रहा है। विश्व-समाज की कल्पना का साकार रूप विज्ञान के आविष्कारों ने तो सम्भाव्य बना दिया परन्तु उसका क्रियात्मक स्वरूप अभी शेष है। छायावादी कवि ने समस्त

---

१. सप्तपर्णा—महादेवी वर्मा—पृ० १६।

प्राकृतिक परिवर्तनों को अपने काव्य में स्थान दिया और प्रकृति का उपादेय रूप समस्त मानव-जाति के लिए प्रस्तुत किया। मानव-व्यक्तित्व की ऐसी महान् प्रतिष्ठा हिन्दी-काव्य साहित्य में एक युगान्तकारी घटना थी।

ऐसे उदात्त भावों का प्रेषीकरण केवल भावों को भाषा में ढाल देने पर ही नहीं हो जाता वरन् उसके लिए विशिष्ट कला की अपेक्षा रहती है। ऐसी कला जिसका उन विशिष्ट भावों के साथ सन्तुलन हो सके। इसलिए छायावाद में नवीन भावों के साथ कला-सम्बन्धी नवीन प्रयोग भी हुए। अब हम छायावाद के कला-पक्ष पर विचार करेंगे।

छायावाद

छायावाद का कला वैशिष्ट्य—भाव-पक्ष के निरूपण में काव्य के रूप-पक्ष का उल्लेख उतना आवश्यक नहीं जितना रूप-पक्ष के विवेचन में उसके सके भाव-सौन्दर्य का उल्लेख आवश्यक होता है। क्योंकि काव्य का शिल्प-विधान (रूप-योजना) भावपक्ष के अनुरूप ही अपना स्वरूप ग्रहण करता है। छन्द, अलंकार, भाषा तथा बन्ध काव्य के ये सब उपकरण कवि-भावना से सम्बद्ध होते हैं। भाव तथा विचार के परिवर्तन होने से काव्य का सम्पूर्ण शिल्प परिवर्तित होने लगता है। काव्य का कला-पक्ष इसी सौन्दर्य के माध्यम से उसके आंगिक रचना (शिल्प-विधान) का अध्ययन करता है इसलिए कला-पक्ष के दो विभाग हो जाते हैं—एक भाव-सौन्दर्य और दूसरा रूप-सौन्दर्य। भाव-सौन्दर्य को ध्यान में रखकर ही काव्य-शिल्प पर विचार किया जाता है। यही कारण है कि काव्य का कला-पक्ष इतने व्यापक अर्थ को अपने में समाहित रखता है।

छायावादी काव्य का कला-वैशिष्ट्य उस युग के कवियों की काव्य की बाह्य रूप-सज्जा के प्रति विशेष जागरूकता का परिणाम है। खड़ी बोली हिन्दी काव्य को विकास के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय द्विवेदी-युग और छायावाद-युग को क्रमशः है। द्विवेदी-युग ने व्याकरण का परिष्कार कर खड़ी बोली को सुस्थिर रूपाधार प्रदान किया तथा छायावाद ने उसकी आंतरिक शक्तियों का विकास कर अलंकरण आदि की श्रीसमृद्धि की। छायावाद के कला-सौष्ठव के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी प्रशंसा में कहा—"खड़ी बोली की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो

रहते थे, पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति ही नहीं दिखायी देती थी। अभिव्यंजनावाद के कारण यूरोप के काव्य-क्षेत्र की उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति, जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आयी, उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत-कुछ सजीवता तथा स्वच्छन्दता आयी। लक्षणाओं के अतिरिक्त प्रसार के काव्य की भाषा की व्यंजना अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमाओं को रखने में केवल सोद्देश्य साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी।—भाषण : हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर, संवत् १९९२ वि०।[1]

हम कह सकते हैं कि छायावाद का शिल्पगत वैशिष्ट्य उसके समृद्ध एवं सशक्त शब्द-विन्यास, लाक्षणिकता, व्यंजकता, अप्रस्तुत-योजना एवं वक्रता आदि शैल्पिक उपकरणों के सुनियोजित विन्यास म निहित है। मानस-पट पर उभरे रम्याद्भुत कल्पना-चित्रों एवं भावों को इन उपकरणों के सहारे छायावादी कवियों ने काव्य-बिम्बों में रूपायित किया है। छायावादी कला-विधान एवं परम्परागत कला-विधान में जो प्रधान अन्तर है उसका कारण है दोनों के जीवन-दर्शन एवं सौन्दर्य-दृष्टि में भेद। आरम्भ से लेकर द्विवेदी-युग तक काव्यालंकार का प्रयोग परिस्थिति-वर्णन एवं रूप-चित्रण के लिए होता था, परन्तु छायावाद में कला का उद्देश्य परिस्थिति-पर्यवेक्षण एवं भाव-निरूपण हो गया। सुख-दुःख की सामान्य अनुभूतियों के वर्णन के स्थान पर उनकी विशिष्ट अनुभूतियों का उद्घाटन हुआ तथा संसार के सभी जड़-चेतन में अन्तर्निहित चेतना के सौन्दर्य का मार्मिक निरूपण होने लगा। इन विशिष्ट अनुभूतियों को पंत जी ने गंभीरतम अन्तर्मूल्य की संज्ञा दी है।[2] यही अन्तर्मूल्य अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण छायावादी काव्य-कला का आदर्श बना।

लाक्षणिक प्रयोग—छायावादी काव्य में चूँकि सौन्दर्य और संवेदना के गंभीरतम अंतर्मूल्य का निरूपण हुआ है इसलिए उसमें शब्द-शक्तियों का गंभीरतम रूप ही गृहीत हो सका है। काव्य-कला के विवेचन में शब्द-शक्तियों का विवेचन सर्वप्रमुख है। काव्य में अलंकार-विधान, शब्द-निर्माण, बिम्ब-योजना तथा शब्दों द्वारा नवीन अर्थवत्ता का संचार—ये सब शब्द-शक्ति के

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० २१३।

२. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ९५।

चमत्कार हैं। छन्दों में गति और परिवर्तन शब्दों की अर्थवत्ता एवं उच्चारण ध्वनि के अनुसार होता है अतः छन्द-विधान भी इस शक्ति से अप्रभावित नहीं। लाक्षणिक प्रयोग का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है :

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?[1]

हृदय में न तो कोई वाद्ययन्त्र है जो बजेगा और न ही वेदना गरज सकती है, क्योंकि गरजने का सम्बन्ध बादल या समुद्र से हो सकता है। चूँकि हृदय में विकल रागिनी बज रही है इसलिए उसका सम्बन्ध वेदना से अवश्य है। इस प्रकार इस पद्य में अर्थ बाधित है परन्तु लक्ष्यार्थ ग्रहण करके यह अर्थ निकलता है कि वेदना असीम अर्थात् इतनी व्यापक हो गयी है कि हृदय में न समा सकने के कारण गर्जना करती हुई बाहर सुनायी पड़ रही है। समुद्र में जब तूफान अथवा ज्वारभाटा आता है तो उसका जल सीमाबंध तोड़कर गर्जन करता हुआ ऊपर-नीचे उठता-गिरता है, उसी प्रकार हृदय की वेदना भी असीमित होकर गर्जन कर रही है। तात्पर्य यह है कि हृदय की सहनशक्ति से भी परे असीम वेदना की अनुभूति हो रही है। वेदना की उत्कटता प्रकट करने के लिए ही लक्षणा-शक्ति का प्रयोग हुआ है।

छायावादी कवियों ने चूँकि अत्यन्त सूक्ष्म, उदात्त आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति की है उन अनेक आंतरिक भावों को केवल एक ही शब्द-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सका बल्कि अनेक शक्तियों की आवश्यकता हुई—तब लक्षणा के साथ व्यंजना, ध्वनि, प्रतीक, अलंकार, छन्द आदि सबका एक साथ प्रयोग हुआ। लक्षणा का एक अन्य उदाहरण देखिए—

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान।[2]

---

१. आंसू—जयशंकर प्रसाद, पृ० ८।

२. 'आँसू, पृ० ७२। पल्लव पृ० २०—पंत।

इस काव्यांश में बालिका मित्र के प्रति कवि का कथन है। उस मित्र के स्पर्श की संवेदना की अभिव्यक्ति है जो प्राणस्वरूप था अर्थात् वह स्पर्श प्राणवान् चैतन्य की अनुभूति जगाने वाला था या उसमें विमूर्च्छित मन को चेतना प्रदान की शक्ति थी। छूने में प्राण तो नहीं हो सकता, हाँ प्राण के गुण हो सकते हैं इसलिए यहाँ अर्थ की बाधा है। उसी प्रकार बालिका की संगति गंगा-स्नान नहीं हो सकती बल्कि उस संगति में गंगा-स्नान की पावनता का भान हो सकता है। 'गंगा-स्नान' प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है जो पुण्य का प्रतीक है। अर्थात् बालिका की संगति पुण्य-फल देने वाली है। तीसरी और चौथी पंक्ति में उसको 'कल्याणि' सम्बोधित कर उसकी वाणी में त्रिवेणी की लहरों के गान सुनायी देने की बात कही गयी है। मनुष्य-वाणी और लहरों के गान में कोई साम्य नहीं इसलिए यहाँ अभिधेयार्थ बाधित है। लक्ष्यार्थ से यह बाधा दूर हो जाती है। लक्ष्यार्थ है कि बालिका की संगति जितनी पावन है उतनी उसकी वाणी भी मधुर और पवित्र है इसलिए उसमें साधारण नदियों की लहरों के गान को बजाय 'त्रिवेणी की लहरों का गान' कहा है। इस प्रकार इन पंक्तियों मे सौन्दर्य-भावना के साथ सांस्कृतिक संस्कार को उद्दीप्त करने का भाव भी है। काव्यांश की ध्वनि प्रेम को उदात्त, उच्च एवं निष्कलुष रूप में निरूपित करने की है जिसमें अनीति या पाप-भावना की छाया तक न हो। चूँकि छायावादी काव्य अधिकांश गीतिकाव्य है इसलिए मात्रिक छन्द एवं अन्त्यानुप्रास की योजना भी इस वाक्यांश में हुई है।

प्रतीक-योजना—प्रतीक का सीधा सम्बन्ध लक्षणा और व्यंजना से है अतः प्रतीक-योजना और शब्द-शक्तियों का भी गहरा सम्बन्ध है। उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि लाक्षणिक प्रयोग में प्रतीक भी सहायक होते हैं। इन्हें लाक्षणिक प्रतीक कहते हैं और प्रतीक द्वारा ही लक्ष्यार्थ का बोध होता है। शुद्ध प्रतीक भावनाओं की अभिव्यक्ति में स्वयं समर्थ होते हैं। प्रतीक के एक छन्द में कवि अपनी समस्त भावनाओं एवं संवेदनाओं को भर देने का प्रयत्न करता है इसलिए प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करने में व्यंजना से सबसे अधिक सहायता मिलती है। काव्य में प्रतीक-योजना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए अनेक प्रतीक तो काव्य में रूढ़ हो गये जैसे पतझड़ उजड़ेपन के प्रतीक रूप में और लाल रंग प्रेम के प्रतीक के रूप में आदि परन्तु छायावाद में रूढ़ प्रतीकों का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। इन कवियों ने अपनी सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नवीन प्रतीकों की रचना की—

मेरी आँखों का सब पानी, तब बन जाएगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब, देखूँगी अपना चित्र मुग्ध[१]।

यहाँ श्रद्धा अपने दुःखी मन को शान्त करने का प्रयत्न कर रही है। 'आँखों का पानी' दुःख और 'अमृत स्निग्ध' सुख का प्रतीक है। श्रद्धा जब विकारहीन नेत्रों (मानव के) में अपना चित्र देखेगी तब उसका दुःख सुख में परिवर्तित हो जायगा। मनु के नेत्र विकारग्रस्त हो गये थे जिन्हें देखकर श्रद्धा को दुःख मिलता था परन्तु जब वह अपने पुत्र के निर्विकार नयनों में अपना प्रतिबिम्ब देखेगी तो उसे शान्ति मिलेगी। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने 'आँसू' को दुःख के प्रतीक, 'नैया' को मन के प्रतीक, 'सूने तट' को असफल प्रेम के प्रतीक, 'लहर' को आपदाओं के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। पंत, निराला, महादेवी ने भी अनेक कल्पना-प्रसूत प्रतीकों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। पंत जी ने 'कोयल के स्वर' को क्रान्ति के प्रतीक रूप में, 'प्रकाश' को ज्ञान और चेतना के प्रतीक रूप में, 'जीर्ण-शीर्ण-पत्र' को विगत, जर्जर रूढ़ियों के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है। निराला ने 'अमानिशा' को गहन दुःख के प्रतीक-रूप में, 'किरण' को प्रेम के प्रकाश के प्रतीक रूप में, 'वन्सत' को यौवन के प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है। महादेवी जी के चर्चित प्रतीक 'दीपक', 'मन्दिर', 'साँझ' आदि हैं जो क्रमशः साधना, हृदय, दुःख के प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त हुए हैं।

अलंकार-विधान—छायावादी कवियों ने अलंकार को रीति-कवियों की भाँति साध्य न मानकर उन्हें काव्य-सौन्दर्य के उत्कर्ष के साधन रूप में स्वीकार किया जो पृथक् स्थितियों एवं पृथक् भावनाओं को एक स्थान पर सुरुचिपूर्ण ढंग से संयोजित कर देने में सक्षम हों। कवि पंत का विचार है कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।"[२]

छायावाद में कलात्मक उत्कर्ष के लिए अलंकारों का इतना प्रयोग हुआ कि पंत जी ने उसे 'अलंकृत संगीत' की संज्ञा से अभिहित किया। रीतिकालीन अलंकरण और छायावादी अलंकरण में मुख्य भेद यह था कि रीतिकाल में

१. कामायनी (ईर्ष्या)—जयशंकर प्रसाद, पृ० १६० ।
२. पल्लव की भूमिका—पंत, पृ० ३२ ।

अलंकारों द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन हेतु भावनाओं की हत्या तक हुई परन्तु छायावाद में भावपक्ष और कलापक्ष में सामंजस्य की प्रवृत्ति के कारण इसके अलंकार आकर्षक और सफल सिद्ध हुए तथा साथ ही नवीन अलंकार-योजना भी हुई, जिनसे इसकी जीवनी शक्ति उर्वर हुई एवं इसका आत्मपक्ष गौरवान्वित हुआ। प्रमुख अलंकारों में उपमा, रूपक, यमक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, दीपक, संदेह, अतिशयोक्ति आदि सभी अलंकार छायावादी काव्य में उपलब्ध हैं। उपमान-योजना के अन्तर्गत नवीन उपमाओं की सृष्टि हुई। काव्य में उपमान योजना को अप्रस्तुत-योजना भी कहते हैं। इसका विवेचन हम अप्रस्तुत-विधान के शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे। उपर्युक्त अलंकारों का विस्तृत विवेचन कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि वह मात्र परिपाटी-पालन होगा, उससे छायावादी काव्य का वैशिष्ट्य उद्घाटित नहीं होगा। अलंकरण की श्रीसमृद्धि द्वारा काव्य-सौन्दर्य की श्रीसमृद्धि हुई, यह तो सर्वविदित है। इस संदर्भ में जिन विशिष्ट उपकरणों का उल्लेख आवश्यक है वे हैं--मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना एवं विशेषण विपर्यय।

मानवीकरण— यह अंग्रेजी का अलंकार है जिसे परसोनीफिकेशन (Personification) कहते हैं। छायावादी कवियों ने भावों की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए इसे अपने काव्य में स्थान दिया। इसके अन्तर्गत उन्होंने अमानवीय तत्त्वों में मानव-गुणों की प्रतिष्ठा कर दिया, भावों, विचारों एवं अदृश्य तत्त्वों को भी मानवीय रूप प्रदान किया। लज्जा भाव के आगमन की सूचना कवि मानवीय हाव-भावों द्वारा देता है :

संध्या की लाली में हँसती,
उसका ही आश्रय लेती-सी,
छाया प्रतिभा गुनगुना उठी,
श्रद्धा का उत्तर देती-सी[1]।

हँसना, आश्रय लेना, गुनगुनाना, उत्तर देना आदि मानवीय क्रियाएँ हैं—कवि ने इन सब अनुभावों को लज्जा-भाव में नियोजित उसे मानव कृत कर दिया जिससे काव्य में नाटकीयता भी उत्पन्न हो गयी है। एकाकी श्रद्धा के मन में अनेक अनुत्तरित प्रश्न थे—लज्जा का आना और प्रश्नों का उत्तर देना काव्य-प्रसंग में नाटकीय परिवर्तन की सूचना है, साथ में काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि

---

१. कामायनी (लज्जा) प्रसाद, पृ० १०८।

भी हुई। छाया प्रतिमा का आगमन न होता तो लज्जा जैसी गूढ़ वृत्ति का विश्लेषण भी न हो पाता। निराला, पंत, महादेवी ने भी अपने काव्य में मानवीकरण का प्रचुर प्रयोग किया है। रात्रि, प्रकृति आदि का नारी-रूप में चित्रण इस काव्य में स्थान-स्थान पर मिलता है।

विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet)—काव्य में सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इसका प्रयोग भी छायावादी कवियों ने पर्याप्त रूप में किया है। विशेषण को उसके उपयुक्त स्थान से हटाकर अन्यत्र प्रतिष्ठित कर देने पर विशेषण-विपर्यय होता है। इसका बोध लक्षणा-शक्ति द्वारा होता है। यथा—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर अनजान
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन।[१]

ज्योत्स्ना स्तब्ध नहीं होती वरन् मनुष्य होता है। इस प्रकार 'स्तब्ध' विशेषण को उपयुक्त स्थान पर प्रयोग न कर ज्योत्स्ना को स्तब्ध बताया, इससे रहस्यमय वातावरण की सृष्टि हुई है। संसार को शिशु, विश्व की पलकें, स्वप्न का विचरना, नक्षत्रों का निमंत्रण भेजना मानवीकरण है। इसी प्रकार निराला, प्रसाद और महादेवी के काव्य में भी विशेषण-विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं :

'अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना'[२]

× × ×

'चल चरणों का व्याकुल पनघट'[३]

अभिलाषाएँ न तो करवट लेती हैं और न ही सुप्त व्यथा जागृत होती हैं वरन् ये दोनों व्यक्ति के अन्तःकरण में जन्म लेती हैं। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में पनघट के व्याकुल होने से नहीं वरन् पनघट पर चरण रखने वालों की

१. रश्मिबंध—पंत, पृ० ४६।
२. आँसू—प्रसाद, पृ० १६।
३. परिमल—निराला, पृ० २०।

उत्कट व्याकुलता से कवि का तात्पर्य है। यह सभी अर्थ हमें लक्षणा-शक्ति के सहारे प्राप्त हुए हैं।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना (Onomatopoeia)—इसे ध्वनि-चित्रण अथवा नादार्थव्यंजना भी कहते हैं। इसमें नाद-सौन्दर्य द्वारा अर्थ की व्यंजना होती है। शब्द-चयन इस प्रकार का होता है कि उससे निकलने वाली ध्वनि से ही काव्यार्थ का मार्मिक बोध हो जाय और वातावरण एवं वस्तु-स्थिति साकार रूप में प्रकट हो जाय। पंत जी की 'नौका-विहार' कविता से ध्वन्यर्थ-व्यंजना का सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है :

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर
हम चले नाव लेकर सत्वर !

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर !
मृदु मंद-मंद, मंथर-मंथर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर।[1]

इस काव्यांश में शब्द-चित्रों द्वारा कवि ने जिस वातावरण की सृष्टि की है वह वास्तव में ऐसी सौन्दर्य-सृष्टि है जो अपनी मिसाल आप है। पंक्तियों के अन्तिम शब्द प्रहर, सत्वर, विचर, लंगर, सुन्दर, पर आदि से नौका-विहार की गति का बोध होता है। 'मृदु मंद-मंद, मंथर-मंथर' से यह गति और भी स्पष्ट हो जाती है तथा उस आनन्द की अभिव्यक्ति भी होती है जो कवि को नौका-विहार द्वारा प्राप्त हुआ।

अप्रस्तुत-विधान—छायावादी कविता का अप्रस्तुत-विधान, पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं के अप्रस्तुत-विधान से कहीं अधिक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है। इस काल के कवियों ने अप्रस्तुत-विधान को मूल रूप से चारुत्व विधायक सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया और यही इस युग के अप्रस्तुत-विधान की विशिष्टता है।

अप्रस्तुत-विधान छाया-कविता का मूल सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण है। इसका आधार सर्जनात्मक कल्पना और नवीन सौन्दर्य-बोध है। यही कारण है कि छायावादी कविता के अप्रस्तुत-विधान को नया और मौलिक रूप प्राप्त हुआ जो

१. रश्मिबंध—पंत, पृ० ६८।

स्पष्टतः मध्ययुगीन भारतेन्दु एवं द्विवेदीयुगीन अप्रस्तुत-योजना से भिन्न है। छायावादी कवियों ने जो कल्पना की उसमें वस्तु और शिल्प की पृथकता नहीं थी वरन् वह समस्त सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित थी, उसमें केवल अलंकारों और प्रतीकों की योजना करने वाले सामान्य अप्रस्तुत नहीं थे वरन् तीव्र भावावेग में उत्पन्न अद्भुत और असामान्य अप्रस्तुत थे। इन कवियों को वस्तु के अप्रस्तुत उपादानों के वर्णन मात्र से सन्तोष नहीं होता था वरन् उन्होंने वस्तु के सम्पर्क से जाग्रत सभी भावनाओं तथा उनके आधार पर मनःकल्पित सभी दृश्यों की व्यंजना की। दूसरे, उनकी दृष्टि सत्यान्वेषी थी इसलिए उनके अप्रस्तुतों में कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान, प्रतीक-विधान, बिम्ब-योजना, मानवीकरण तथा प्रभाव-साम्य पर आधृत उपमान-योजना के दर्शन होते हैं। इन कवियों ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत को एक साथ चमत्कृत करते हुए अप्रस्तुत-विधान के निराले लोक की सृष्टि की।

अप्रस्तुत-विधान-सम्बन्धी सभी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य में दृष्टिगत होती हैं, परन्तु मौलिकता के कारण अप्रस्तुतों के चयन में सभी की अपनी विशिष्ट दृष्टि रही है। वैसे छायावादी कविता में यदा-कदा शास्त्रीय आलंकारिक रूपों में भी अप्रस्तुत-विधान हुआ है परन्तु अप्रस्तुतों का जो रूप प्रतीक-विधान, बिम्ब-विधान और पाश्चात्य आलंकारिक प्रणालियों में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन कवियों ने जीर्ण-शीर्ण सब रूढ़ अप्रस्तुतों का संस्कार कर उन्हें रूपाकार देते हुए अपनी-अपनी सौन्दर्यात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपकातिशयोक्ति आदि आलंकारिक प्रणालियों में अनेक नवीन, मौलिक, रुचिर अप्रस्तुत मिलते हैं। मुख्य रूप से छायावादी कवियों में यह अप्रस्तुत-विधान पाँच प्रकारों में उपलब्ध होता है—मूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुत विधान, अमूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत-विधान, मूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत-विधान, अमूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुत-विधान और मूर्तामूर्तरूप-अप्रस्तुत-विधान। यह काव्य अप्रस्तुतों से भरा पड़ा है, कुछ रुचिर उदाहरण देखिए—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[१]

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० ४६।

इस काव्यांश में सूक्ष्म रूप-सौन्दर्य का वर्णन है तथा मूर्त के लिए मूर्त की अप्रस्तुत-योजना की गयी है। श्रद्धा के नील वसन से झाँकते अधखुले अंग की तुलना मेघों के वन में खिले गुलाबी रंग के बिजली के फूल से की है। 'अधखुला अंग' में कितनी सूक्ष्म व्यंजना है। शरीर की शोभा न तो पूरे खुले होने में और न पूरे ढंके होने में वरन् अधखुले अंग समस्त सौन्दर्य की श्रीवृद्धि में सहायक होते हैं। श्रद्धा के नीले परिधान के लिए कवि ने 'मेघ-वन' की कल्पना की है और उसमें से झाँकते कोमल लालिमायुक्त अंगों के सौन्दर्य को मेघ-वन में खिले गुलाबी रंग के फूल-रूप में कल्पना की है। इस प्रकार यह प्रस्तुत योजना अत्यन्त गम्भीर और सर्जनात्मक कल्पना से स्पन्दित है। कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा श्रद्धा के बाह्य शारीरिक रूप-सौन्दर्य का बोध कराना चाहा है। नहीं तो मेघों के वन और बिजली के फूल अस्तित्वहीन पदार्थ हैं, इन्हें हम कल्पना-लोक के उपकरण ही कह सकते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कामायनी में कई स्थलों पर मिलते हैं, जैसे इड़ा के लिए 'मधुर-मराली'[१], नक्षत्र के लिए 'बुद्बुद'[२], रश्मि मण्डित हिमखण्ड के लिए 'मणिदीप प्रकाश'[३], कहना जिससे टकरा कर समीर अति मधुर मृदंग बजा रहा हो आदि काल्पनिक मूर्त अप्रस्तुत हैं।

कवि निराला कृत निम्नलिखित पंक्तियों में भी इसी प्रकार अप्रस्तुत का सुन्दर निदर्शन हुआ है :

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारा दल।
वे नहीं चरण राम के बने श्यामा के शुभ;
सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ।[४]

राम की आँखों से निकले दो अश्रु बूंदों (मूर्त प्रस्तुत) के लिए 'तारा-दल', 'हीरक युग' तथा 'दो कौस्तुभ' आदि अत्यन्त सुन्दर मूर्त अप्रस्तुतों की योजना हुई है।

---

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० १८४।
२. वही, पृ० २८२।
३. वही, पृ० २६४।
४. अनामिका (राम की शक्तिपूजा)—निराला, पृ० १५६-५७।

छायावादी कवियों में सूक्ष्म कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि के कारण अमूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत-योजना भी अत्यन्त कौशल-पूर्ण हुई है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

'पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर'[1]

यहाँ कवि ने वायु के रुक जाने और उसके द्वारा पत्तों से निकलने वाली मर्मर-ध्वनि के भी न निकलने के व्यापार को इस प्रकार व्यंजित किया है कि मानो समस्त वन की मर्मर ध्वनि पत्रों के अधरों पर उसी प्रकार सो गयी है जैसे वीणा के बजाने वाले के चले जाने पर उसके स्वर भी उसी के तारों में सो जाते हैं। 'सो गया' क्रिया ने अप्रस्तुत के सौन्दर्य में वृद्धि की है। अमूर्त 'मर्मर-ध्वनि' के लिए 'स्वर' जैसा सूक्ष्म अप्रस्तुत प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार छायावादी अप्रस्तुत-विधान सुन्दर, सूक्ष्म, साभिप्राय, रम्याद्भुत तथा मूर्त-अमूर्त उपमान संयोजन की प्रवृत्तिगत विशेषता के कारण अपनी पूर्व-वर्ती काव्य-प्रणालियों के अप्रस्तुत-विधान से विशिष्ट सिद्ध हुआ।

वक्रता—यह छायावाद की शिल्प-सम्बन्धी सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रायः सभी शिल्प-उपकरणों में समान रूप से अनुस्यूत है। वक्रोक्ति के सच्चे स्वरूप की प्रतिष्ठा इस कविता में हुई। क्योंकि इससे पूर्व अलंकार-काल में वक्रोक्ति केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार तक ही सीमित हो गयी थी। चूँकि इस काल में स्वानुभूति की विवृत्ति का उद्रेक हुआ और इसकी व्यंजना इस सीमित सरणि में असम्भव थी—तब सच्ची वक्रोक्ति का स्वरूप निर्मित हुआ। जयशंकर प्रसाद के शब्दों में—"कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर यात्रा की ओर चल पड़ी थी।"[2]

वक्रता के व्यापक स्वरूप की सबसे अधिक प्रतिष्ठा पंत जी ने अपनी काव्यकला-सम्बन्धी समीक्षाओं द्वारा की। 'पल्लव' की भूमिका प्रकारान्तर से वक्रत्व का ही घोषणा-पत्र है। आधुनिक काल में शब्दों के आभ्यन्तरिक

---

१. गुंजन—पंत, पृ० ४ (एक तारा)।
२. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद, पृ० १२७।

व्यक्तित्व को पंत जी से अधिक अन्य किसी कवि ने नहीं समझा। वे कहते हैं—"प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबंध हैं, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं, इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग, विराग जान लेना; कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देगा, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता है, कैसे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक-दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल—इनकी पारिवारिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है?"[१] शब्दों के व्यक्तित्व की यह अद्भुत मीमांसा पंत जी ने अपनी समीक्षा द्वारा प्रस्तुत की। इसके अतिरिक्त उन्होंने लिंग-वक्रता, पर्याय-वक्रता और परस्परस्पर्धीत्व समभाव आदि पर सूक्ष्म चिन्तन किया है। छायावादी कवियों में ऐसा चिन्तन एकमात्र कवि पंत ने किया है। इस प्रकार उन्होंने वक्रत्व के समग्र स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। निराला ने स्वतन्त्र रूप से इस सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त नहीं किया है। परन्तु जहाँ कहीं काव्यकला की मीमांसा उन्होंने की है वहाँ वक्रता के स्वरूप और प्रकार का उद्घाटन किया है। महादेवी जी 'चिन्तन के क्षण' निबन्ध में काव्य की भाषा को गद्य से भिन्न एवं विशिष्ट बताते हुए शब्द-चयन के क्रम के सम्बन्ध कहती हैं कि—"गद्य में विशेष शब्द-संयोजन की अपेक्षा नहीं रहती, अतः अनावश्यक शब्द भी अनाहूत तमाशबीनों के समान स्थान घेर लेते हैं, जिससे उसके अर्थ-प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। गद्य में भाव भी प्रायः चिन्तन के माध्यम से व्यक्त होने के कारण व्याख्यात्मक ही रहते हैं, अतः उन्हें काव्य के समान प्रवाहात्मक लय की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत काव्य में, भावानुकूल विशेष शब्द-संयोजन अनिवार्य होने के कारण एक प्रवाहात्मक लय स्वतः उत्पन्न हो जाती है।"[२] इस प्रकार छायावाद में समीक्षा और रचना दोनों में वक्रत्व के उचित स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई।

भाषा—छायावादी कवियों ने विशुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार कर ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी बोली को गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। खड़ी बोली को यह स्थान सहज ही नहीं

---

१. पल्लव (प्रवेश)—पंत, पृ० २८-२९।

२. संधिनी—महादेवी वर्मा, पृ० २१।

प्राप्त हो गया वरन् इन कवियों ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली के आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। पंत जी की पल्लव की भूमिका इस सम्बन्ध में 'छायावाद का घोषणापत्र' सिद्ध हुई। उसकी तर्कपूर्ण उक्तियों का हिन्दी कला-समीक्षा क्षेत्र में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'खड़ी बोली जागरण की चेतना थी। द्विवेदी-युग जिस जागरण का प्रारम्भ था हमारा युग उसके विकास का समारम्भ था। छायावाद के शिल्प-कक्ष में खड़ी बोली ने धीरे-धीरे सौन्दर्य-बोध, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार काव्योचित भाषा का सिंहासन ग्रहण किया।'[1]

छायावाद के कवियों ने नूतन शब्द-निर्माण, शब्दों के नवीन संयोजन कर उसमें नवजीवन का संचार किया और अर्थवत्ता और माधुर्य उत्पन्न कर भाषा द्वारा उसके शिल्पगत सौन्दर्य की श्रीवृद्धि की। इसके लिए उन्होंने भाषा को चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता, बिम्बोत्पादकता, लाक्षणिकता, सांकेतिकता, व्यंजनात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता के गुणों से युक्त कर उसे अधिक संवेदनशील, व्यापक और जीवन्त स्वरूप प्रदान किया। शब्द-चयन में प्रत्येक छायावादी कवि की अपनी विशिष्ट दृष्टि रही है जिसका उद्देश्य मुख्य रूप से खड़ी बोली में ब्रजभाषा का पद-लालित्य और सौकुमार्य उत्पन्न कर उसे ब्रजभाषा के समकक्ष एकाधिपत्य दिलाना रहा है। भाषा में पद-लालित्य, सौकुमार्य लाने का सबसे अधिक श्रेय पंत जी को है। भाषा-सम्बन्धी जिस विशेषता पर इन कवियों ने सबसे अधिक बल दिया है वह है भाषा का भावानुगामिनी होना। पंत जी इस सम्बन्ध में कहते हैं—"भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हो, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों, कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह अज्ञात स्वर्णरश्मि के स्पर्श से जगकर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतंत्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो, अन्तर का उल्लास, जैसे अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झंकारों में नृत्य करने लगा हो, भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिंगनपाश में बँध जाने के लिए हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हों—यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस

१. शिल्प और दर्शन परिदर्शन—पंत, पृ० ६५।

सन्धि है। हृदय के कुञ्ज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद प्रियतम से मिली हो और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।"[१] यह पंत जी की अभिव्यंजना सिद्धान्त सम्बन्धी विशेषता है जो भावयोग से पूर्णतः सम्पृक्त है। इसी सन्दर्भ में महादेवी जी का कथन है "मनुष्य अपने भाव या विचार दूसरे मनुष्य के अन्तःकरण में प्रतिफलित करना चाहता है और इस संक्रमण की सफलता भावानुकूल शब्दावली, अभिव्यक्ति की शैली तथा शब्दों की प्रभविष्णु शक्ति पर निर्भर रहती है।"[२] निराला जी भी भाषा को भावों की अनुगामिनी तो मानते हैं साथ ही, उसकी क्लिष्टता को भी भाव-सापेक्ष मानते हुए कहते हैं "अस्तु! बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गयी है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिये। भाषा भावों की अनुगामिनी है।"[३] इस प्रकार इन कवियों ने गम्भीर भावों की व्यंजना हेतु क्लिष्टता को भी स्वीकारा है। वैसे भी काव्य-भाषा और जनभाषा में स्पष्ट पार्थक्य तो होता ही है इसलिए विषय के औदात्य के अनुरूप उदात्त काव्य-भाषा का प्रयोग वांछनीय है।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं 'पल्लव' के प्रवेश ने छायावाद के अभि-व्यंजना-शिल्प में युगान्तर प्रस्तुत किया। काव्यभाषा-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पंत जी ने प्रस्तुत किया है। राग को उन्होंने काव्यभाषा का प्राणतत्त्व माना है—"भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध-उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर सान्त को अनन्त से मिलाती है।"[४] राग के अतिरिक्त उन्होने चित्रभाषा को महत्त्व दिया है। स्वयं उनका काव्य चित्रमत्ता का अद्वितीय उदाहरण है।

भाषा में श्रुति-माधुर्य, लालित्य एवं मसृणता की सृष्टि के लिए इन कवियों ने विभिन्न प्रकार की शब्द-योजना की। भाषा का सौन्दर्य बहुत-कुछ अलंकरण और सुन्दर शब्दों के संयोजन पर निर्भर रहता है, सुन्दर शब्द उसके आकर्षण

---

१. पल्लव (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३१।
२. संधिनी (चिन्तन के क्षण)—महादेवी वर्मा, पृ० १६।
३. प्रबन्धपद्म (साहित्य और भाषा)—निराला, पृ० २५।
४. पल्लव (प्रवेश) पंत, पृ० २६।

की वृद्धि में सबसे अधिक योगदान करते हैं। इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए इन कवियों ने जो शब्द-योजना को उसमें एक ओर तो पूर्व विद्यमान संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का नवीन सन्दर्भ में नूतन विन्यास एवं संयोजन किया तथा दूसरी ओर नवीन शब्दों का निर्माण किया जिसके अन्तर्गत प्रचलित शब्दों को रुचि के अनुकूल परिवर्तित किया, अंग्रेजी शब्दों की अर्थ-छाया ग्रहण करते हुए नवीन शब्द निर्मित किये तथा आवश्यकतानुसार आमूल नव-शब्द भी निर्मित किये। इस शब्द-योजना ने छायावाद की काव्य-भाषा में अद्भुत कोमलता, सरसता, लालित्य, माधुर्य की सृष्टि करते हुए उसे वैभव और समृद्धि प्रदान की।

संक्षेप में छायावादी कवि शब्द-शिल्पी थे। उन्होंने भाषा को भावाभिव्यंजन का अभिन्न अंग माना तथा भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण व्याकरणनिष्ठ न होकर स्वच्छन्द और रोमानी था।

छन्द-विधान—गद्य की अपेक्षा छन्द अधिक काल तक समाज में प्रचलित रहता है अतः उसके रचयिता को भी अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक सुयश मिलता है। निर्मित छन्द अपरिवर्तनशील होता है, उसकी भाषा, लय, अन्त्यानुप्रास और यति आदिकाल की धारा से अप्रभावित रहते हैं। जो भाव छन्दोबद्ध होता है उसे अपेक्षाकृत अधिक अमरत्व मिलता है। यहीं पर छन्द 'आच्छादक' विशेषता सार्थक होती है। मानव संस्कृति के विकास का इतिहास छन्द की ही सहायता से प्राप्त हो सका है।[१] अतः जिस प्रकार सौन्दर्य-सृष्टि कला का मूलतत्त्व है उसी प्रकार छन्द काव्य का वह मूलतत्त्व है जो गद्य में उसका व्यावर्त्तन करता है। काव्य और छन्द का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मुक्त छन्द में रचित कविता छन्दविहीन नहीं होती, क्योंकि मुक्त छन्द और छन्द-मुक्त में स्पष्ट भेद है। मुक्त-छन्द का अर्थ है छन्दशास्त्रीय नियमों से मुक्ति जबकि छन्द-मुक्त का अर्थ होता है छन्द से ही मुक्त।

छायावादी काव्य में छन्द के शास्त्रीय नियमों का तो तिरस्कार हुआ परन्तु इन कवियों ने काव्य और छन्द के घनिष्ठ सम्बन्ध को भी स्वीकार किया। इस घनिष्ठता पर बल देते हुए कवि पंत कहते हैं—"कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन,

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ३४।

कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती—उसी प्रकार छन्द भी नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के करोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित साँसें नियंत्रित हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (मैंनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार के सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[1]

उन्होंने स्वरों को काव्य-संगीत के मूल तन्तु मानते हुए व्यंजन-मैत्री पर आधारित वर्णिक छन्दों को हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल बताया तथा खड़ी बोली हिन्दी के लिए मात्रिक छन्दों को अनुकूल सिद्ध किया। "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है।"[2] इसलिए छायावादी काव्य की छन्द-योजना अधिकांश मात्रिक छन्द के आधार पर निर्मित हुई है। यह छन्द कभी सम होते हैं कभी विषम तथा इनकी तुक-योजना भी शास्त्रीय नियमों से थोड़ा हटकर भावानुरूप चलती है। मात्रिक छन्द गीतिकाव्य के अनिवार्य अंग हैं तथा विविध काव्य-रूपों में छायावाद की रचना होते हुए भी उसका प्रमुख काव्य-रूप प्रगीत है। गीतकाव्य की भावना इतनी संवेदनशील होती है कि उसमें एक साथ अनेक भाव गुम्फित होते हैं। इन गुम्फित भावों को संगीत-निर्वाह करते हुए मात्रिक छन्दों द्वारा अधिक आसानी से व्यंजित किया जा सकता है। इन कवियों ने इस छन्द का अधिकाधिक प्रयोग कर इसे व्यापक और गम्भीर बनाया। इतना ही नहीं छन्द के सभी तत्त्वों यति, गति, गुरु-लघु क्रम, लय आदि को विषय और भाव के अनुरूप ढालते हुए मनोनुकूल परिवर्तन किये। इस दृष्टि से निराला की 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' मानक कृतियाँ हैं।

१. पल्लव (प्रवेश)—पंत, पृ० ३०-३१।
२. वही, पृ० ३२।

छन्द और भाव की लय से यति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। छायावादी कवियों ने यति के शास्त्रीय नियमों को न मानकर भाव के अनुसार यति का निर्माण किया है। इसीलिए इस कविता में हम देखते हैं कि कभी तो प्रत्येक शब्द के बाद यति आ जाती है और कभी पूरे चरण में कोई अन्तर्यति नहीं होती। यह योजना छन्दशास्त्र के नियमों के प्रतिकूल है क्योंकि संस्कृत छन्दशास्त्र के नियमानुसार छोटे छन्द बिना अन्तर्यति के भी प्रयुक्त हो सकते हैं परन्तु बड़े छन्दों में अन्तर्यति आवश्यक है। कुछ उदाहरण देखिये :

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम।[1]

इसके प्रथम चरण में प्रत्येक शब्द पर यति है। जब कि छन्द काफी छोटा है। दूसरा उदाहरण है :

फिर रेखा भीमा मूर्ति आज रण देखो जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,[2]

इस छन्द में प्रथम पंक्ति का भाव-सौन्दर्य दूसरे चरण में पूर्ण होता है, इसीलिए कवि ने प्रथम चरण में यति चिह्न नहीं लगाया। अर्थ भी दूसरी पंक्ति में आकर पूर्ण होता है। भीमा मूर्ति की भीषणता का पूर्ण ज्ञान तब होता है जब सम्पूर्ण नभ को उसके द्वारा आच्छादित देखते हैं। इस प्रकार पिंगल शास्त्र के रूढ़ नियमों का पालन न कर भावानुरूप छन्द-योजना की है।

छन्द-योजना का दूसरा मुख्य उपकरण तुक या अन्त्यानुप्रास है। छन्दोयति या चरणान्त में निश्चित क्रम से स्वर व्यंजनमूलक ध्वनिसमूह के साम्य-संयोग को अन्त्यानुप्रास कहते हैं। अन्त्यानुप्रास मात्रिक छन्दों में आवश्यक होता है। इसका प्रयोग भी मात्रिक छन्दों के विकास के साथ ही प्रारम्भ हुआ है। संस्कृत के ह्रस्व-दीर्घ जन्य उच्चरित मात्रा-विधान एवं समास-सघनता में वृत्ति की लय-माधुरी को अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता नहीं पड़ी।[3] तुकान्त कविता गीतिकाव्य की अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना गीतिकाव्य का बोध नहीं हो पाता। काव्य में लय और संगीत का जन्म तुम के कारण होता है। छायावादी काव्य में गीति-तत्त्व और मात्रिक छन्दों के प्रयोग के कारण

१, कामायनी (चिन्ता)—जयशंकर प्रसाद, पृ० १४।
२. अनामिका - सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० १५६।
३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० २१३।

अन्त्यानुप्रास को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। यह अन्त्यानुप्रास कई रूपों में प्राप्त होता है—जैसे चारों चरणों में समान तुकान्त, प्रथम और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों में समान तुकान्त जिसे गुम्फित अन्त्यानुप्रास कहते हैं या फिर प्रथम दो चरणों में समान तुकान्त और बाद के चरणों में परस्पर गुम्फित अन्त्यानुप्रास आदि। तुक का प्रयोग मुक्त छन्द में भी हुआ है परन्तु वहाँ इसका प्रयोग 'अंतर-नुप्रास' रूप में हुआ है, क्योंकि यह चरणान्त में प्रयुक्त न होकर बीच में प्रयुक्त होते हैं। जैसे :—

दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मंजु-मुख
गुञ्ज-मृदु अलि पुञ्ज
मुखर-उर मौन वा स्तुति-गीत में हरे।[1]

गुम्फित अन्त्यानुप्रास का एक उदाहरण देखिये :

कूक उठी सहसा तरु वासिनि,
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुमको अन्तर्यामिनि,
बतलाया उसका आना ?[2]

इस छन्द के प्रथम और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरण में समान तुकान्त है।

छायावादी कवियों ने भाव और लय में साम्य दिखाने के लिए छन्द-परिवर्तन किये। लयात्मक गीति के लिए ही मात्रिक छन्दों को अपनाया परन्तु छन्द पंक्तियों के रूढ़ क्रमायोजन में परिवर्तन करके। इसका फल यह हुआ कि समान और असमान चरणों के साथ पंक्तियों की नवीन क्रमायोजना का जन्म हुआ। इस प्रकार इन कवियों ने अन्त्यानुप्रास और चरणों के क्रम-निर्माण में पूर्ण स्वच्छन्दता से काम लिया। इससे सम्बन्धित कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं :

	मात्रा	अन्त्यानुप्रास
नील परिधान बीच सुकुमार	१६	क
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,	१६	ख
खिला हो ज्यों बिजली का फूल	१६	ग
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग[3]	१६	ख

१. अनामिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० १।
२. रश्मिबन्ध (प्रथम रश्मि)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३४।
३. कामायनी (श्रद्धा)—जयशंकर प्रसाद, पृ० ५४।

उक्त छन्द सम-मात्रा का है जिसमें अन्त्यक्रम क, ख, ग, ख है। सम-मात्रा के छन्द का वह रूप भी मिलता है जिसके प्रथम और अंतिम चरण एक मात्रा के और शेष चरण भिन्न मात्रा के होते हैं। ऐसी छन्द-योजना प्रसाद जी ने 'कामायनी' के 'इड़ा' सर्ग में करके नूतन एवं रम्य सृष्टि की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

	मात्रा	अन्त्यानुक्रम
प्राची में फैला मधुर राग	१६	क
जिसके मण्डल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग	३२	क
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग	३२	क
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आन्दोलन अमंद	३२	ख
करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद	३२	ख
उस रम्य पलक पर नवल चित्र-सी प्रकट हुई सुन्दर बाला	३२	ग
वह नयन-महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नवमाला	३२	ग
सुषमा का मण्डल सुस्मित-सा बिखराता संसृति पर सुराग	३२	क
सोया जीवन का तम विराग।[१]	१६	क

यह अपने ढंग का नवीन छन्द है जिसका अन्त्यक्रम क, क, क, ख, ख, ग, ग, क, क है।

लय को इतना अधिक महत्त्व देने का यह परिणाम है कि छायावादी कवियों ने टेक (छन्दक) पद्धति के गीत भी लिखे हैं। ऐसे गीतों में टेक (छन्दक) ही गीत के समस्त भाव और लय का प्राण-केन्द्र होता है। छन्दक और सम्पदों (चरणों) की लय मैत्री के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि दोनों के छन्द भिन्न होते हैं, अन्यथा सम्पद की धारा के बाद ध्वनि-विधान की नवीनता सम्भव नहीं हो सकती।[२] निराला एवं महादेवी वर्मा का ऐसे गीतकारों में विशेष स्थान है। लय मैत्री बनाये रखने के लिए छन्दक और सम्पद का चरण साम्य देखिये :

रागभीनी/तू सजनि निश/वास भी ते / रे रंगीले।	७+७+७	मात्राएँ
लोचनों में/क्या मदिर नव ?	७+७	,,
देख जिसको/नीड़ की सुधि/फूट निकली, बन मधुर[३] रव	७+७+७+७	,,

१. कामायनी (इड़ा)—जयशंकर प्रसाद, पृ० १७६।

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ३६६।

३. संधिनी—महादेवी वर्मा, पृ० १०१।

उक्त उदाहरण में छन्दक सप्तकाधार है और आकार में बड़ा होने पर भी सम्पद के चरण भी सप्तकाधार ही हैं। इस एकता के कारण लय-साम्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त सम्पद के चरणों का छन्दक के चरण से भिन्न होना भी आवश्यक है। अन्यथा ध्वनि में नूतनता नहीं आती। परन्तु इस नियम में परिवर्तन कर नूतनता का समावेश हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण में छन्दक की योजना भिन्न प्रकार से हुई है तथा संगीत सममात्रिक है और छन्दक और सम्पद के चरण भी बराबर हैं :

चिर विषाद वि/लीन मन की	७+७ मात्राए
इस व्यथा के/तिमिर वन की;	७+७ ,,
मैं उषा-सी/ज्योति रेखा,	७+७ ,,
कुसुम विकसित/प्रात रे मन,	७+७ ,,
जहाँ मरु ज्वा/ला धधकती,	७+७ ,,
चातकी कन/को तरसती,	७+७ ,,
उन्हीं जीवन/घाटियों की,	७+७ ,,
मैं सरस बर/सात रे मन।[१]	७+७ ,,

अभिनव छन्द-योजना की दृष्टि से निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' कृतियों ने आधुनिक हिन्दी काव्य की छन्द-योजना को पर्याप्त समृद्धि प्रदान की है। 'राम की शक्तिपूजा' में २४ मात्राओं के नवीन छन्द की योजना है, जिसकी विशिष्टता भावानुरूप यति-गति एवं लय-विधान में है। जैसे :

गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुःप्रहर,
जानकी-भीरु-उर-आशाभर-रावण-सम्वर।[२]

उक्त उदाहरण में छन्द की गति अत्यन्त क्षिप्र है क्योंकि इससे युद्ध-क्रिया की त्वरित गति और भीषण रव को परुष, महाप्राण वर्णों, दीर्घ स्वरों, संधि एवं समस्त पदावली द्वारा मूर्त किया गया है परन्तु तुरन्त बाद की पंक्ति में छन्द की गति उद्दाम न होकर सहसा कोमल हो गयी है, इसका कारण है जानकी के भीरु उर की व्यंजना करना। 'तुलसीदास' में निराला ने १६ और

१. कामायनी (निर्वेद)—जयशंकर प्रसाद, पृ० २२५।
२. अनामिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० १५२-१५३।

२२ मात्राओं के दो छन्दों के योग से छन्द-योजना वैविध्यपूर्ण है जिसमें शास्त्रीय के शिल्पगत सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। रचनाएँ हुईं। वर्णिक की अपेक्षा मात्रिक--

उपर्युक्त तुकान्त और संगीतपूर्ण छन्दों के काव्य के छन्द विधान की विशेषता छन्द (ब्लैंक वर्स, और मुक्त छन्द (फ्री वर्स) में कवित्त-छन्द योजना) देन समस्त में दोनों छन्दों को काफी समय तक अभिन्न माना ग.

भ्रान्त धारणा है क्योंकि दोनों में स्पष्ट भेद है। अतुकान्त त विवेचन से यह मुक्त होता है परन्तु इसमें मात्रा-क्रम, चरण आदि की व्यवस्था व्यंजना-शिल्प के होती है। इसके लिए प्रायः प्रचलित छन्दों का प्रयोग अतुकान्त रूप के शैल्पिक गया। जैसे पंत ने 'ग्रन्थि' में १६ मात्राओं के 'पीयूषवर्ष' छंद की य. नगेन्द्र अतुकान्त रूप में की : गैर

लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती-सी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों-से, सीप से।[1]

अतुकान्त छन्द की सफलता भावानुभूतियों एवं वर्ण्य-विषय के अनुरूप ढल जाने में है। उक्त छन्द में सम्पूर्ण अनुच्छेद में एक ही वाक्य है जो कि प्रथम पंक्ति से द्वितीय पंक्ति तक चला और एक पंक्ति दूसरी में प्रवेश कर अन्ततः एक पद्यानुच्छेद में परिवर्तित हो गयी। भावधारा के प्रवाह के अनुरूप ही अन्तर्यति का भी प्रयोग हुआ। अतुकान्त छन्द के प्रयोग को स्पष्ट करते हुए पंत जी ने काव्य-विषय को महत्त्वपूर्ण माना है। वे शांतिमूलक विषयों के लिए 'तुकान्त छन्द' तथा व्यग्रतामूलक विषयों के लिए 'अतुकान्त' छन्द की अपेक्षा करते हैं। इस तथ्य को पंत जी ने 'पल्लव' के प्रवेश में स्पष्ट किया है।[2] 'ग्रन्थि' के अतिरिक्त प्रसाद रचित 'महाराणा' और 'प्रेम-पथिक' रचनाएँ भी अतुकान्त छन्द में हैं।

---

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०।

२, हमें अपनी दिनचर्या में भी प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता है।......परन्तु जब हमारे काव्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त दौड़-सा, कुछ समय के लिए बन जाता है। यही ब्लैंक वर्स अथवा अतुकान्त कविता है।

—सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (प्रवेश), पृ० ४४-४१।

इस प्रकार छायावाद की छन्द-योजना वैविध्यपूर्ण है जिसमें शास्त्रीय रूढ़ छन्दों से लेकर अनिबद्ध-छान्दस्-योजनाएँ हुईं। वर्णिक की अपेक्षा मात्रिक-छन्दों में भावानुरूप नूतन छन्द-सृष्टि इस काव्य के छन्द विधान की विशेषता है। छन्द-योजना के अन्तर्गत निराला की (मुक्त-छन्द योजना) देन समस्त हिन्दी-साहित्य के गौरव की साधिका है।

निष्कर्ष—छायावाद के शिल्पगत उत्कर्ष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने हिन्दी कविता के अभिव्यंजना-शिल्प के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया। समस्त हिन्दी साहित्य में इस काव्य के शैल्पिक वैभव की समता भक्ति-काव्य ही कर सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"......जिसने (छायावाद) कामायनी का समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है"[१] भक्ति-काव्य समता में तो रखा जा सकता है परन्तु उसकी भी अपनी शैल्पिक परिसीमाएँ हैं—प्रथमत: भक्ति-काव्य में छायावाद जैसा सौन्दर्य-बोध एवं कलात्मक दृष्टि का अभाव है। दूसरे, भक्त कवियों की आदर्शवादिता एवं उपदेशात्मकता भी उसके शिल्प में बाधा सिद्ध हुई। भक्ति-काव्य की इन शिल्पगत सीमाओं के आलोक में छायावाद का शिल्प ही अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध ठहरता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि छायावाद की समृद्धि सीमातीत थी। उसकी भी अपनी सीमाएँ रहीं—जैसे कल्पना का अत्यधिक प्रयोग, जिसके कारण कविता केवल कल्पना-लोक की ही वस्तु बन कर रह गयी, यथार्थ से दूर हो गयी; अत्यधिक चित्रात्मकता, बिम्ब-मोह, शब्द-मोह, क्लिष्टता, अस्पष्टता आदि। इन्हीं सीमाओं ने भावी काव्यधारा का मार्गदर्शन किया।

इस प्रकार परिसीमाओं के होते हुए भी लगभग पच्चीस वर्षों के अन्तराल में छायावाद ने अपने समृद्ध काव्य-शिल्प, नूतन एवं रम्याद्भुत अप्रस्तुत-योजना, भावानुरूप, कोमल एवं मसृण शब्द-विन्यास, संगीतात्मकता, लक्षणा और व्यंजना के वैभव, सौन्दर्य-बोध तथा रम्य कल्पना-चित्रों के कारण जो सिद्धि प्राप्त की वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है।



१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (छायावाद)—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६।

अब हम 'मुक्त-छन्द' को लें। यह छन्द अन्त्यानुप्रास-मुक्त तो होता ही है, साथ ही, पंक्ति की लम्बाई, मात्रा-संख्या, गण, गुरु-लघु आदि छन्द रूढ़ियों से भी मुक्त होता है, इसीलिए यह 'मुक्त छन्द' अथवा स्वच्छन्द कहलाया। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में इस छन्द की प्रतिष्ठा का श्रेय निराला को प्राप्त है और उनकी यह सिद्धि आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में छायावाद के कला शिल्पगत सौन्दर्य की गौरव प्रतिष्ठा करती है। स्वच्छन्द छन्द के स्वरूप की व्याख्या करते हुए निराला कहते हैं कि "यह छन्द बन्धनों से मुक्त होता हुआ भी छन्द है और उसके छन्दत्व को प्रमाणित करने वाला तत्त्व उसका प्रवाह है : मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है।" मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति।"[1] इस प्रकार मुक्त छन्द समस्त छन्दशास्त्रीय बन्धनों से सर्वथा मुक्त होता हुआ भी प्रत्येक पंक्ति के रूपगत आंतरिक ऐक्य पर बल देने के कारण संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखता है।

छायावाद में मुख्य रूप से प्रसाद की रचना 'लहर' की अंतिम तीन कविताएँ 'पैशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का अस्त्र समर्पण', तथा 'प्रलय की छाया' और निराला की अनेक कविताएँ मुक्त छन्द में हैं। पंत ने अपनी परवर्ती कृतियों 'ग्राम्या', 'युगवाणी', आदि में मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। छायावाद में मुक्त छन्द-योजना वर्णिक लयाधार और मात्रिक लयाधार दोनों रूपों में हुई है। मात्रिक लयाधार पर निर्मित मुक्त छन्द का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

यौवन के/तीर पर/था आया/जब	६, ५, ६, २ मात्राएँ
स्रोत/सौन्दर्य का, /	३, २ "
वीचियों में/कलरव सुख/चुम्बित प्रणय/का।	७, ६, ७, २ "
था/मधुर आक/र्षण मय	२, ७, ४ "
मज्जना वे/दन मृदु फूटता/सागर में।[2]	७, २, ७, ६ "

इस मुक्त छन्द में अन्त्यानुप्रास अथवा अन्तरनुप्रास क्रम नहीं है तथा सप्तक और षष्टक में अन्य मात्राओं का भी योग है।

१. परिमल (भूमिका)—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० १६।
२. अनामिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० ७०।

इस प्रकार छायावाद की छन्द-योजना वैविध्यपूर्ण है जिसमें शास्त्रीय रूढ़ छन्दों से लेकर अभिनव-छान्दस्-योजनाएँ हुईं। वर्णिक की अपेक्षा मात्रिक-छन्दों में भावानुरूप नूतन छन्द-सृष्टि इस काव्य के छन्द विधान की विशेषता है। छन्द-योजना के अन्तर्गत निराला की (मुक्त-छन्द योजना) देन समस्त हिन्दी-साहित्य के गौरव की साधिका है।

निष्कर्ष—छायावाद के शिल्पगत उत्कर्ष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने हिन्दी कविता के अभिव्यंजना-शिल्प के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया। समस्त हिन्दी साहित्य में इस काव्य के शैल्पिक वैभव की समता भक्ति-काव्य ही कर सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"......जिसने (छायावाद) कामायनी का समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है"[1] भक्ति-काव्य समता में तो रखा जा सकता है परन्तु उसकी भी अपनी शैल्पिक परिसीमाएँ हैं—प्रथमतः भक्ति-काव्य में छायावाद जैसा सौन्दर्य-बोध एवं कलात्मक दृष्टि का अभाव है। दूसरे, भक्त कवियों की आदर्शवादिता एवं उपदेशात्मकता भी उसके शिल्प में बाधा सिद्ध हुई। भक्ति-काव्य की इन शिल्पगत सीमाओं के आलोक में छायावाद का शिल्प ही अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध ठहरता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि छायावाद की समृद्धि सीमातीत थी। उसकी भी अपनी सीमाएँ रहीं—जैसे कल्पना का अत्यधिक प्रयोग, जिसके कारण कविता केवल कल्पना-लोक की ही वस्तु बन कर रह गयी, यथार्थ से दूर हो गयी; अत्यधिक चित्रात्मकता, बिम्ब-मोह, शब्द-मोह, क्लिष्टता, अस्पष्टता आदि। इन्हीं सीमाओं ने भावी काव्यधारा का मार्गदर्शन किया।

इस प्रकार परिसीमाओं के होते हुए भी लगभग पच्चीस वर्षों के अन्तराल में छायावाद ने अपने समृद्ध काव्य-शिल्प, नूतन एवं रम्याद्भुत अप्रस्तुत-योजना, भावानुरूप, कोमल एवं मसृण शब्द-विन्यास, संगीतात्मकता, लक्षणा और व्यंजना के वैभव, सौन्दर्य-बोध तथा रम्य कल्पना-चित्रों के कारण जो सिद्धि प्राप्त की वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है।



१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (छायावाद)—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६।

पंत के छायावादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य

कविवर पंत की साहित्य-साधना युगानुकूल विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित होती रही है; इसी कारण उनके काव्य-विकास में वैविध्य के दर्शन होते हैं। उनकी चिन्तनधारा उत्तरोत्तर ऊर्ध्वोन्मुखी रही है—प्रारम्भिक काव्य-सृष्टि कल्पना और रम्य प्रकृति-चित्रों से पूर्ण है जिसके अन्तर्गत प्रकृति के साथ उन्होंने कला को भी सँवारा है। तत्पश्चात् प्रगतिवाद में उस युग के महापुरुषों मार्क्स और गांधी के जीवन-दर्शन के प्रभाव के फलस्वरूप मानवतावादी दृष्टि का प्रतिफल हुआ। इसके बाद उनकी काव्य-धारा ने जो मोड़ ग्रहण किया, वह है अरविन्द-दर्शन जहाँ उन्हें स्थिर जीवन-दृष्टि प्राप्त हुई। उल्लेख्य तथ्य यह है कि उनकी इस सम्पूर्ण काव्य-यात्रा में प्रकृति, कला और सौन्दर्य ही सदैव उनके भावादर्श रहे हैं। जिन काव्य-सृष्टियों को हमने प्रारम्भिक कहा है उनमें छायावादी भाव-धारा की प्रधानता है। इसके अन्तर्गत वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन और ज्योत्स्ना कृतियाँ हैं। प्रस्तुत अध्याय में इनका विहंगावलोकन करते हुए, इनमें कला-शिल्पगत सौन्दर्य को मूल्यांकित करना हमारा अभीष्ट है।

काव्य-परिचय—

वीणा—

यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार,
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है
बिना व्याकरण, बिना विचार।
इस बोली में कौन सुनेगा।
इसकी वाणी को निस्सार?
ताल-लय रहित मेरी वीणा
वीणा-वादिनि! कर स्वीकार![1]

---

१. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।

कवि की काव्य-वीणा की प्रथम झंकार का परिचय उसी के शब्दों में है। प्रथम चरण में कवि ने द्विवेदी-युग की भाषा-सम्बन्धी कट्टरता के प्रति प्रच्छन्न असन्तोष प्रकट किया है तथा दूसरे चरण में मान्यता न मिलने का संशय होने पर भी वीणावादिनि द्वारा स्वीकार कर लिये जाने का आत्म-विश्वास ध्वनित होता है। जैसा कि स्पष्ट है उनकी 'ताल-लय रहित वीणा सुनी ही नहीं गयी बल्कि पर्याप्त प्रशंसित भी हुई। स्वयं कवि ने इसे अपना 'दुधमुहाँ प्रयास'[१] कहा है। यह उनका प्रथम काव्य-संग्रह है जिसमें सन् १९१८ से १९२० तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। कतिपय रचनाएँ १९१६-१७ की भी हैं। इस कृति का प्रकाशन सन् १९२७ में 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद हुआ। अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों एवं शोध ग्रन्थों में इसकी प्रकाशन-तिथि सन् १९१८ बतायी गयी है जो कि त्रुटिपूर्ण है।

प्रारंभिक होते हुए भी इस संग्रह की कविताएँ कथ्य और शिल्प की दृष्टि से रुचिर एवं प्रशंसनीय हैं। प्रायः सभी प्रगीत भावपरक हैं जिनकी चिन्तन-भूमि रहस्य (जिज्ञासा), सौन्दर्य (प्रकृति) तथा प्रकृति में 'माँ' की छवि के दर्शन की आकांक्षा से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से जिस भाव-भूमि के दर्शन होते हैं वह है ईश्वर और जगत् के प्रति रहस्यात्मक भाव, प्रकृति को माँ रूप में कल्पित कर प्रार्थनात्मक आत्मनिवेदन भाव, विशाल प्राकृतिक वैभव के प्रति सौन्दर्यात्मिक भाव। भाव-प्रधान होने पर भी इस संग्रह में काव्य-कला का पर्याप्त प्रस्फुटन है। कवि ने खड़ी बोली को सरस, मधुर, प्रांजल रूप प्रदान करने के प्रयत्न में 'डर', 'भोर', आदि का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किया तथा 'साँस' का पुँल्लिङ्ग में। इसके अतिरिक्त और भी कई असंगतियाँ हैं जिनके प्रति आक्षेप लगाये गये परन्तु कवि ने इन असंगतियों को स्वीकारा है और 'वीणा' की भूमिका में कहा है कि—"इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, क्योंकि तब इसका सारा ठाट ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बंध आदि जैसे 'मम स्वीकारो, निमाऊँ, वय बाली, पहने हैं शुचि मुक्तमाल इत्यादि—जिनका प्रयोग मुझे अब कविता में अच्छा नहीं लगता—इसमें ज्यों-के-त्यों रख दिये गये हैं।"[२] यह सब होने पर भी छंद, अलंकार और प्रतीक प्रयोग पर कवि का अच्छा अधिकार दृष्टिगत

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३३।

२. वही—पृ० ३१।

होता है। इसकी पदावली सरस, भाषा सरल, प्रांजल, प्रवाहमयी, लाक्षणिक एवं चित्रात्मक है। सूक्ष्मदर्शित प्रकृति-प्रेम, निश्छल भाव, गहन चिन्तन एवं अध्यात्म-प्रेरित आदर्शोन्मुखता से यह बात भी लक्षित होती है कि इस आरंभिक रचना से ही कवि को विषय का वह सूत्र प्राप्त होता है जो सतत विकासशील होकर आगे बढ़ता गया है।

ग्रन्थि :—

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का,
ग्रन्थि बन्धन हो गया—[१]

उक्त काव्यांश से स्पष्ट है कि 'ग्रन्थि' रचना वियोगान्त प्रणय काव्य है। समय की दृष्टि से 'वीणा' और 'ग्रन्थि' के रचनाकाल में विशेष अन्तर नहीं है। 'ग्रन्थि' का प्रणयन सन् १९१९ के मई-जून में हुआ। कला की दृष्टि से दोनों रचनाओं में पर्याप्त अन्तर है। इसे यों भी कह सकते हैं कि 'वीणा' में कवि-प्रतिभा का कैशोर्य था और 'ग्रन्थि' में तारुण्य है। जैसे बचपन की सरलता और भोलापन यौवन होते ही अलंकरण के लिए आकुल हो उठे। यह असफल प्रेम-कथा कवि के इन्द्रजालमय स्वप्न का काव्यमय रूपांकन है जिसमें वास्तविक शृंगारिक भावों एवं अनुभूतियों को कल्पना के अवगुण्ठन से अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। कथा-सार नाव-दुर्घटना है जिसमें नायक की नाव जल में डूब जाती है और वह अचेत हो जाता है। चेतना लौटने पर स्वयं को अनिन्द्य रूपसी बाला की गोद में पाता है। दृष्टि मिलते ही प्रणय-बन्धन हो जाता है परन्तु समाज इस स्वच्छन्दता को स्वीकार नहीं करता और उसी के सामने नायिका का ग्रन्थि-बन्धन अन्यत्र हो जाता है। इस प्रकार 'ग्रन्थि' विरह-वर्णन प्रधान काव्य बन जाता है।

भावात्मक प्रणय-गल्प होने के कारण इसमें कथा तो निमित्त मात्र है। वास्तव में सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति, रम्य प्रकृति-चित्रण, भावनाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण, शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कलात्मक चित्रण ही इस कृति की सफलता का कारण है। उत्कृष्ट भाव-पक्ष के साथ ही ग्रन्थि का कला-पक्ष भी 'वीणा' की अपेक्षा पुष्ट एवं विकसित है। भाषा अलंकृत है एवं संस्कृत कवियों की शैली पर है। उपमाएँ भावपूर्ण, सार्थक एवं प्रसंगानुकूल हैं। मूर्त्त एवं चित्रमय विशेषणों का प्रयोग है तथा शब्द-चयन

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३४।

संगीतात्मक और सजीव है। कुछ अंशों को छोड़कर प्रायः समस्त काव्य संस्कृत की अलंकृत शैली में लिखा गया है। इस कृति पर मुख्य रूप से कालिदास के 'रघुवंश' का प्रभाव है तथा रवीन्द्र और सरोजिनी नायडू के प्रेम-गीतों का प्रभाव भी लक्षित होता है। यह छायावादी काव्य की अत्यन्त मनोरम कृति है, जिसने खड़ी बोली को संस्कृत एवं ब्रजभाषा की रम्यता के समकक्ष ला खड़ा किया।

पल्लव :—

ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधा रश्मि से उतरा जल।
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को ?[1]

यह पंत जी का तीसरा काव्य-संग्रह है जिसमें सन् १९१८ से लेकर सन् १९२५ ई० तक की रचनाएँ संकलित हैं। 'वीणा' में कवि की अभिव्यक्ति कौतूहलपूर्ण भावात्मक प्रकृति-चित्रण रूप में तथा 'ग्रन्थि' में प्रकृति के दायरे से निकल कर शाश्वत मानवीय अनुभूति प्रणय-भाव में हुई। परन्तु चूँकि कवि की प्रेरणादायिनी चिरसंगिनी तो प्रकृति थी इसलिए वह 'बाला' के 'बाल-जाल' एवं उसके 'अधरामृत' के मद में ही न रम कर 'पल्लव' में फिर प्रकृति की ओर उन्मुख हुआ। वह जग के सौन्दर्य को भूल कामिनी के सौन्दर्य में ही लीन होने को कवि-कर्म नहीं मानता। प्रस्तुत कृति पूर्णरूपेण प्रकृति-चिन्तन का काव्य है। प्रकृति-चिन्तन इसलिए कहा है कि इस स्तर तक आते-आते कवि पर्याप्त मननशील हो चुका था और उसका अध्ययन भी पर्याप्त परिपक्वता प्राप्त कर चुका था। अब तक वह संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी कवियों शेली, कीट्स, बायरन, टेनीसन आदि का भी गम्भीर पारायण कर चुका था जिसके फलस्वरूप उसे शिल्प, शैली एवं ध्वनि-सौन्दर्य-सम्बन्धी नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। यह नवीनता मुख्य रूप से कला-शिल्प के क्षेत्र में प्रस्फुटित हुई। अपने इस नवीन दृष्टिकोण का समग्र आकलन उन्होंने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में किया है जिसने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में युगान्तर स्थापित किया। इसी बल पर इस कृति को छायावाद के प्रवर्त्तन का श्रेय भी दिया जाता है, इस दृष्टि से इसका अद्वितीय महत्त्व है।

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८६।

होता है। इसकी पदावली सरस, भाषा सरल, प्रांजल, प्रवाहमयी, लाक्षणिक एवं चित्रात्मक है। सूक्ष्मदर्शित प्रकृति-प्रेम, निश्छल भाव, गहन चिन्तन एवं अध्यात्म-प्रेरित आदर्शोन्मुखता से यह बात भी लक्षित होती है कि इस आरंभिक रचना से ही कवि को विषय का वह सूत्र प्राप्त होता है जो सतत विकासशील होकर आगे बढ़ता गया है।

ग्रन्थि :—

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का,
ग्रन्थि बन्धन हो गया—[१]

उक्त काव्यांश से स्पष्ट है कि 'ग्रन्थि' रचना वियोगान्त प्रणय काव्य है। समय की दृष्टि से 'वीणा' और 'ग्रन्थि' के रचनाकाल में विशेष अन्तर नहीं है। 'ग्रन्थि' का प्रणयन सन् १९१९ के मई-जून में हुआ। कला की दृष्टि से दोनों रचनाओं में पर्याप्त अन्तर है। इसे यों भी कह सकते हैं कि 'वीणा' में कवि-प्रतिभा का कैशोर्य था और 'ग्रन्थि' में तारुण्य है। जैसे बचपन की सरलता और भोलापन यौवन होते ही अलंकरण के लिए आकुल हो उठे। यह असफल प्रेम-कथा कवि के इन्द्रजालमय स्वप्न का काव्यमय रूपांकन है जिसमें वास्तविक श्रृंगारिक भावों एवं अनुभूतियों को कल्पना के अवगुण्ठन से अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। कथा-सार नाव-दुर्घटना है जिसमें नायक की नाव जल में डूब जाती है और वह अचेत हो जाता है। चेतना लौटने पर स्वयं को अनिन्द्य रूपसी बाला की गोद में पाता है। दृष्टि मिलते ही प्रणय-बन्धन हो जाता है परन्तु समाज इस स्वच्छन्दता को स्वीकार नहीं करता और उसी के सामने नायिका का ग्रन्थि-बन्धन अन्यत्र हो जाता है। इस प्रकार 'ग्रन्थि' विरह-वर्णन प्रधान काव्य बन जाता है।

भावात्मक प्रणय-गल्प होने के कारण इसमें कथा तो निमित्त मात्र है। वास्तव में सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति, रम्य प्रकृति-चित्रण, भावनाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण, श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कलात्मक चित्रण ही इस कृति की सफलता का कारण है। उत्कृष्ट भाव-पक्ष के साथ ही ग्रन्थि का कला-पक्ष भी 'वीणा' की अपेक्षा पुष्ट एवं विकसित है। भाषा अलंकृत है एवं संस्कृत कवियों की शैली पर है। उपमाएँ भावपूर्ण, सार्थक एवं प्रसंगानुकूल हैं। मूर्त्त एवं चित्रमय विशेषणों का प्रयोग है तथा शब्द-चयन

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३४।

संगीतात्मक और सजीव है। कुछ अंशों को छोड़कर प्रायः समस्त काव्य संस्कृत की अलंकृत शैली में लिखा गया है। इस कृति पर मुख्य रूप से कालिदास के 'रघुवंश' का प्रभाव है तथा रवीन्द्र और सरोजिनी नायडू के प्रेम-गीतों का प्रभाव भी लक्षित होता है। यह छायावादी काव्य की अत्यन्त मनोरम कृति है, जिसने खड़ी बोली को संस्कृत एवं ब्रजभाषा की रम्यता के समकक्ष ला खड़ा किया।

पल्लव :—

ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधा रश्मि से उतरा जल।
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को ?[१]

यह पंत जी का तीसरा काव्य-संग्रह है जिसमें सन् १६१८ से लेकर सन् १६२५ ई० तक की रचनाएँ संकलित हैं। 'वीणा' में कवि की अभिव्यक्ति कौतूहलपूर्ण भावात्मक प्रकृति-चित्रण रूप में तथा 'ग्रन्थि' में प्रकृति के दायरे से निकल कर शाश्वत मानवीय अनुभूति प्रणय-भाव में हुई। परन्तु चूँकि कवि की प्रेरणादायिनी चिरसंगिनी तो प्रकृति थी इसलिए वह 'बाला' के 'बाल-जाल' एवं उसके 'अधरामृत' के मद में ही न रम कर 'पल्लव' में फिर प्रकृति की ओर उन्मुख हुआ। वह जग के सौन्दर्य को भूल कामिनी के सौन्दर्य में ही लीन होने को कवि-कर्म नहीं मानता। प्रस्तुत कृति पूर्णरूपेण प्रकृति-चिन्तन का काव्य है। प्रकृति-चिन्तन इसलिए कहा है कि इस स्तर तक आते-आते कवि पर्याप्त मननशील हो चुका था और उसका अध्ययन भी पर्याप्त परिपक्वता प्राप्त कर चुका था। अब तक वह संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी कवियों शेली, कीट्स, बायरन, टेनीसन आदि का भी गम्भीर पारायण कर चुका था जिसके फलस्वरूप उसे शिल्प, शैली एवं ध्वनि-सौन्दर्य-सम्बन्धी नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। यह नवीनता मुख्य रूप से कला-शिल्प के क्षेत्र में प्रस्फुटित हुई। अपने इस नवीन दृष्टिकोण का समग्र आकलन उन्होंने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में किया है जिसने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में युगान्तर स्थापित किया। इसी बल पर इस कृति को छायावाद के प्रवर्त्तन का श्रेय भी दिया जाता है, इस दृष्टि से इसका अद्वितीय महत्व है।

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८६।

काव्य-शिल्प के विविध उपकरणों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के परिणामस्वरूप इस संग्रह की रचनाओं में कला-शिल्प सम्बन्धी चेतन (Conscious) प्रयोग दृष्टिगत होते हैं जबकि 'वीणा', 'ग्रन्थि' काल में ये प्रयोग उप-चेतन (Sub-conscious) रूप में हैं। कला-शिल्प-सम्बन्धी उनकी नवीन प्रतिस्थापनाओं की व्याख्या हम प्रसंगानुकूल 'छायावादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य' शीर्षकान्तर्गत कर आये हैं। यहाँ इसकी विस्तृत चर्चा न करके इस अध्याय के 'कलापक्ष' प्रकरण में कवि के छायावादी काव्य के सौन्दर्य को कला-शिल्प के आधार पर मूल्यांकित करते हुए उसका विवेचन करेंगे। विविधता की दृष्टि से 'पल्लव' की रचनाओं को मुख्यरूप से निम्नलिखित कोटि में रखा जा सकता है :—

१. प्रेम और सौन्दर्य-प्रधान रचनाएँ—'उच्छ्वास', 'आँसू', 'विसर्जन', 'स्मृति' आदि।
२ प्रकृति-कल्पना-प्रधान रचनाएँ—'निर्झर गान', 'छाया', 'बादल', 'वीचि-विलास', 'विश्व-रेणु', 'निर्झरी', 'नक्षत्र' आदि।
३. भाव-प्रधान रचनाएँ—'मोह', 'विनय', 'याचना', 'विसर्जन', 'मधुकरी' आदि।
४. चिन्तन-प्रधान रचनाएँ—'जीवन-यान', 'विश्वव्याप्ति', 'नारी', 'शिशु' आदि।
५. कल्पना-प्रधान रचनाएँ—'बालापन', 'छाया', 'मौन निमंत्रण', 'बादल', 'अनंग', 'स्वप्न' आदि।
६. भाव, कल्पना एवं चिन्तनयुक्त रचना—'परिवर्तन' यह इस कृति की सर्वोत्कृष्ट काव्य-सृष्टि है।

इस काव्य-संग्रह की अंतिम रचना 'स्वस्ति जीवन के छायाकाल' में कवि ने वर्तमान मानसिकता से विदा की सूचना दी है। उनकी अगली कृति 'गुंजन' में उन्हें सर्वथा नूतन भावभूमि में अवगाहन करते देखा जा सकता है, जिसमें कवि जीवन के आनन्द की ओर बढ़ा है।

गुंजन :—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !

बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
हे चिर-अव्यय, चिर-नूतन।[1]

पल्लवकालीन करुणा-क्लिष्ट भाव 'गुंजन' में सर्वथा नूतन भावभूमि प्राप्त कर जीवन के प्रति नवीन उल्लासपूर्ण दृष्टिकोण द्वारा अभिव्यक्त हुआ जैसा कि उल्लिखित पंक्तियों से व्यक्त है—कवि 'ज्योतिर्मय जीवन' अर्थात् जीवन में आलोक की वर्षा की आकांक्षा करता है। यह कृति एक नवीन काव्य है जिसमें सन् १९२६ से सन् १९३२ तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। प्रस्तुत काव्य-संग्रह में कवि 'सुन्दरम्' से 'शिवम्' की ओर अपने प्राणों का उन्मन गुंजन करता हुआ आगे बढ़ा है। 'गुंजन' का प्रकृत विषय है मानव-जीवन। यहाँ कवि के चिन्तन-केन्द्र में मानव बैठा है। मानव-जीवन के सुख-दुःख का विवेचन और उसके दर्द के उपचार का संधान कवि का उद्देश्य है! 'गुंजन' की कला मांगलिक बन, पल्लव के सुषमा-लोक से गुंजन की चिन्तन-भूमि में उतरी है।[2]

'गुंजन के गीतों में कवि की राग-विराग सम्बन्धी मान्यताएँ, विश्व के प्रति संवेदना, विस्मय-भाव, चिन्तनशीलता, जीवन के प्रति आकर्षण, कवि और दार्शनिक के अन्तःसंघर्ष की स्फुट-अस्फुट काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। यहाँ कोरी भावुकता के स्थान पर संयम के दर्शन होने हैं, दूसरे शब्दों में कवि हृदय की परिधि से निकल कर आत्मा तक पहुँचा है। विषय की दृष्टि से 'गुंजन' के गीतों में निम्नलिखित विविधता दृष्टिगत होती है :—

१. लगभग पन्द्रह गीत सुख-दुःख के समन्वय (जीवन-दर्शन) अथवा मानव-महत्त्व की स्वीकृति सम्बन्धी हैं।

२. चौदह के लगभग गीत प्रणय-भाव सम्बन्धित हैं।

३. चार-पाँच कविताएँ प्रकृति-सम्बन्धी हैं जो इस संग्रह की परिवर्तित भाव-भूमि के अनन्तर तो नहीं आतीं परन्तु जिनकी गणना उत्कृष्ट रचनाओं में होती है। 'चाँदनी' और 'नौका-विहार' रचनाएँ पंत की काव्य-कला की उत्कर्ष बिन्दु हैं। इन सभी कविताओं में लक्ष्य आनन्द की सिद्धि ही है।

भाव-सौन्दर्य के परिष्कृत एवं सन्तुलित रूप के साथ कला-सौन्दर्य की दृष्टि से इस रचना का महत्त्व कवि की भाषा-साधना के विकास मे है। 'गुंजन' के

१. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७९।

२. पंत और उनका गुंजन—प्रो० केशरी कुमार, पृ० ४९।

भाषा-संगीत में भी एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गयी है, जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है, पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग से मांसल और पल्लवित है। गुंजन की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित है।[१]

ज्योत्स्ना—'गुंजन' जिस विकसित मानव-जीवन का आभास देता है उसी के भावी रूप की मूर्त स्थापना 'ज्योत्स्ना' (सन् १९३४) करती है। अपने अन्तर की आनन्दानुभूति को चिरस्थायी बना कर चरितार्थ करने के लिए पंत ने 'गुंजन' काल में जो कठोर साधना की है उसी का समाजीकरण 'ज्योत्स्ना' है। तब से सामाजिक यथार्थ उनके जीवन और चिन्तन का एक अनिवार्य अंग बन कर सामाजिक अध्यात्मवाद एवं मानवतावाद के रूप में 'ज्योत्स्ना' में पूर्ण अभिव्यक्ति पाकर उनके समस्त काव्य में छा गया है। अपने नूतन बृहत् काव्य में पंत ने इसी विश्व-जीवन को प्रतिष्ठित करने का गहन, मूर्त्त और सम्यक् प्रयास किया है।[२]

'ज्योत्स्ना' में कवि प्रथम बार भावी स्वप्न-द्रष्टा के रूप में दिखायी देता है। इसमें उसने अपने मानवतावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सभी पात्र केवल प्रतीक मात्र हैं। इसमें कवि विश्व को प्रेम का नवीन स्वर्ग बनाने की अपनी सैद्धांतिक कल्पना को भाव-पात्रों के द्वारा पूर्ण करता है। इसमें पंत जी के सुन्दरतम गीत मिलते हैं जो भाव-नाट्य और मूकनृत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें चिन्तन एवं कल्पना का प्राधान्य है। यह छायावाद के प्राकृतिक दर्शन का मानसिक रूपक है।[३]

इस प्रकार काव्य-कृतियों की शृङ्खला में इस प्रतीकात्मक नाटिका का परिचय पंत के काव्य-विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में आवश्यक है। स्वयं कवि के शब्दों में "मेरे काव्य-दर्शन की कुञ्जी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' में है। उसी के भौतिक संचरण का विकास मेरे मन में मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन-सम्बन्धी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ-संगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। 'ज्योत्स्ना' की चेतनात्मक संचरण मेरी उत्तर-रचनाओं में पूर्व-पश्चिम के दर्शनों तथा विचारधाराओं के अध्ययन-मनन तथा गांधी

१. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३९।
२. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य (भाग १)—शान्ति जोशी, पृ० ३०५।
३. कवि पंत और उनकी छायावादी रचनाएँ—डॉ० पी० आदेश्वर राव, पृ० ३५।

जी और अरविन्द के महत् सम्पर्क में आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है।"[1]

भावपक्ष—

रहस्यभाव—रहस्यभाव छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। पंत जी उस अर्थ में रहस्यवादी नहीं हैं जिस अर्थ में 'रहस्यवाद' का प्रयोग होता आया है। उनका रहस्यभाव ईश्वर में विश्वास करने वाले आदर्शवादी कवि के रूप में व्यक्त हुआ है। आत्मा और परमात्मा पर प्रेयसी-प्रियतम का आरोप कर प्रणय-चित्रण उन्होंने नहीं किया है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्रकृति के कुछ ऐसे दृश्यों का चयन किया है जिनमें सहज सौन्दर्य है और जो क्षण भर को मानव-हृदय को अपने में तल्लीन करके ऐसे भाव-स्तर पर पहुँचा देते हैं जहाँ मनुष्य अपने अस्तित्व को भूल कर निस्सीम सत्ता का भावन करने लगता है। 'पल्लव' की प्रसिद्ध 'मौन-निमंत्रण' कविता कुछ इसी प्रकार की है। यह एक उत्कृष्ट कोटि की रहस्योन्मुख भावना का प्रतीक है। इसमें कवि ने ऐसे कोमल रमणीय-भीषण-अद्भुत प्रकृति-चित्र प्रस्तुत किये हैं जिनके व्यक्त रूप में अव्यक्त सत्ता का आभास होता है। यथा—

स्तब्ध-ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन![2]

प्रकृति के व्यक्त व्यापक सौन्दर्य का अवलोकन कर कवि ने जिज्ञासा की उद्भावना की है; किसी प्रकार के रहस्यात्मक संकेत की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की जिज्ञासा-प्रवृत्ति पंत की समस्त छायावादी कृतियों में विद्यमान है। शांत, स्निग्ध, धवल ज्योत्स्ना में 'नौका-विहार' करते हुए पंत जी को आत्म-विस्मृति की अनुभूति होती है जिसके अनन्तर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि इस नश्वर संसार से परे भी कोई शाश्वत जगत् है—

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।

---

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३१।

२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३१।

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जगजीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।[1]

प्रकृति के व्यापक सौन्दर्य में लीन होने के कारण ही मन में ऐसी जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुईं।

पंत जी का जीवन-विकास आस्तिकतावादी सुरम्य वातावरण में हुआ था। रामकृष्ण परमहंस, टैगोर, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी तथा अरविन्द आदि का प्रभाव समय-समय पर उनकी चेतना पर पड़ता रहा है। वह जीवन की जटिलताओं से भी प्रायः दूर रहे इसलिए जीवन के निष्कलुष, पवित्र, शान्त, उच्च जीवन की कल्पना उनके गीतों में व्याप्त है। अपने कवि-जीवन के किसी काल में भी उनका आध्यात्मिक विश्वास नष्ट नहीं हुआ वरन् उत्तरोत्तर पुष्ट होता गया। इस विश्वास को कवि ने जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए शक्ति रूप में प्रस्तुत किया है।

आत्मनिवेदनात्मक भाव—यह भाव पंत जी की आरम्भिक विनय-परक एवं प्रार्थना-परक रचनाओं में मिलता है। इनमें ईश्वर के प्रति विश्वास और आत्मोत्सर्ग की भावना मिलती है। वह विश्वात्मा से अन्धकार के बादल को हटा कर ज्ञान और बल प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। 'वीणा' की अधिकांश रचनाएँ 'माँ' को निवेदित हैं। यह माँ विराट् विश्व-जननी है। भावों का निवेदन करने वाली बालिका अत्यन्त छोटी है। इस वात्सल्यमयी माँ से भोली बालिका अनेक निवेदन करती है। यह भोलापन ही इन रचनाओं की भावगत उत्कृष्टता एवं मार्मिकता का मुख्य कारण है। यह माँ प्रकाश का स्रोत ऊषा है और वह उसी से उत्पन्न प्रभात-वेला—

जब मैं थी अज्ञात प्रभात—
माँ! तब मैं तेरी इच्छा थी
तेरे मानस की जलजात[2]

---

१. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।
२. वीणा—पंत, पृ० ३।

कवि माँ के चरणों में अपना अस्तित्व मिटा देना चाहता है—

माँ तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ ।[1]

यह आकांक्षा इतनी प्रबल है कि कवि को शैशव ही अभीष्ट है—

ऐसी बड़ी न होऊँ मैं
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं
तेरे अंचल की छाया में
छिपी रहूँ निस्पृह-निर्भय
कहीं दिखा दे चन्द्रोदय ![2]

इस प्रकार कवि के लिए बालिका एक भाव-प्रतीक[3] बन गयी है। 'गुंजन' में भी कवि ने ईश्वर से संसार में ज्योति-वर्षा करने और नवीन जीवन प्रदान करने की प्रार्थना की है। इसमें कवि नवीन ज्योति से उल्लसित है तथा ईश्वर में अटल विश्वास तथा संसार में नवीन चेतना व नव-जीवन की उसे पूर्ण आशा है—

ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे
चाहिए विश्व को नव-जीवन ।[4]

सौन्दर्य-भाव—पंत जी के सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख हम छाया-वादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य के अन्तर्गत 'सौन्दर्य दृष्टि' शीर्षक में कर आये हैं। उनका फिर से उल्लेख करना पिष्टपेषण होगा, इसलिए यहाँ उनके सौन्दर्य-भाव को हम कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे। सौन्दर्य-प्रेम पंत जी की मूल-वृत्ति है और उनका काव्यादर्श सौन्दर्य को लेकर चला है। 'उच्छ्वास' से लेकर 'गुंजन' ('उच्छ्वास', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' और 'गुंजन') तक की कविता का सम्पूर्ण भाव-पट कवि की सौन्दर्य-चेतना का काल है। शब्द, शिल्प, भाव, भाषा और अन्तर उद्बोधन—सभी दृष्टियों से कवि एक अत्यन्त सूक्ष्म, बारीक और हृदय-ग्राही सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यह कहना उचित होगा कि वह

१. वीणा—पंत, पृ० ८।
२. वही, पृ० २७।
३. ज्योति विहग—शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० ३९।
४. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २६।

कविता के बाहरी और भीतरी दोनों ही उपादानों से सौन्दर्य को खोजता और प्रतिष्ठापित करता हुआ मालूम होता है। निश्चय ही यह सौन्दर्य-दृष्टि एकांगी अथवा लोकमंगल से पृथक् नहीं है। किन्तु उसका स्वर और इसकी रचना बहुत-कुछ अन्तरङ्गता के एकान्त धरातल पर हुई है। इनकी 'अन्तरङ्गता' ही वह वैशिष्ट्य है जो छायावाद के सारे कवियों में पंत के व्यक्तित्व को सर्वाधिक काव्य-कुशल और मुखर बना देता है।[१] पंत ने सौन्दर्य को ब्रह्म का स्वरूप माना है। ब्रह्म का सम्बोधन भी सुन्दर शब्द से ही किया है—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर
एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति।[२]

कवि का विश्वास है कि सुखमय जीवन का निर्माण भी सुन्दर विश्वासों से ही हो सकता है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन।[3]

मानव-जीवन और प्रकृति में सौन्दर्य का विस्तार, महत्त्व और उसकी प्रभुता देखकर कवि सुन्दरता को जीवन की समस्त श्री और ऐश्वर्य का केन्द्र ही कह उठता है—

अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।[४]

किन्तु सौन्दर्य का इतना महत्त्व होते हुए भी वह अपने आप में मानो पूर्ण नहीं। उसकी सत्ता किसी अन्य सत्ता से ही सार्थक होती है। वह सत्ता है प्रेम—जो जीवन का अमर रत्न है। वह सौन्दर्य में ही मिलेगा और सौन्दर्य भी प्रेम में ही। दोनों में आन्तरिक सम्बन्ध है—

तुम्हारी छवि में प्रेम अपार, प्रेम में छवि अभिराम।[५]

पंत की छायावादी कृतियों में सौन्दर्य सम्बन्धी चिन्तना की वायवीय सूक्ष्मता एवं गम्भीरता अपनी विशिष्टता के साथ दृष्टिगोचर होती है। मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य-विधान में वे सौन्दर्य का समावेश कहाँ तक चाहते हैं, यह 'ज्योत्स्ना'

---

१. तारापथ की भूमिका—दूधनाथ सिंह, पृ० २०।
२. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३४।
३. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०।
४. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५४।
५. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५७।

नाटिका में स्वप्न के कथन द्वारा व्यक्त हुआ है—"मनुष्य जाति को सदैव से सौन्दर्य विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल और दारुण दुर्जन वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है।...उसके सूक्ष्म वायवी हृदय तत्त्व को एवं सीमाहीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है।...साम्राज्ञी की आज्ञा हो तो मैं अपनी दिव्य वायवी शक्तियों का परिचय दूँ और मनुष्य की आँखों के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वर्य और स्वर्गीय सौन्दर्य का अलौकिक इन्द्रजाल उछाल दूँ कि वह इन्द्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा के यात्राकाश में विचरण करने लगे।"[१]

कवि ने सूक्ष्म और वायवीय सौन्दर्य के इन्द्रजाल द्वारा मनुष्य की तामसिक वृत्तियों के नाश की कल्पना की है।

नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन भी पंत जी ने मनोयोगपूर्वक किया है तथा इस काल की रचनाएं अनेक सौन्दर्य-चित्रों से पूरित हैं। 'गुंजन' की अप्सरा के काल्पनिक रूप-सौन्दर्य की एक झाँकी देखिए :—

इन्द्रलोक में पुलक-नृत्य तुम
करती लघु-पद-भार
तड़ित चकित चितवन से चंचल
कर सुर-सभा अपार।
नग्न देह में सतरंग सुरधुन
छाया-पट सुकुमार,
खोंस नील-नभ की वेणी में
इन्दु कुन्द-द्युति स्फार।
स्वर्गङ्गा में जल-विहार जब
करती, बाहु-मृणाल।
पकड़ पैरते इन्दु-बिम्ब के
शत-शत रजत मराल,
उड़-उड़ नभ में शुभ्र फेन-कण
बन जाते उडु-बाल,
सजल देह-द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज भाल।[२]

---

१. ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पंत; पृ० २५।

२. गुंजन—पंत, पृ० ८३।

सुकुमार सौन्दर्य का एक अन्य उदाहरण 'ग्रन्थि' में देखिए :—

लाज की मादक सुरा-सी लालिमा, फैल गालों में; नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की, अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।
इन गढ़ों के रूप के आवर्त से, घूम फिर कर, नाव से किसके नयन,
हैं नहीं डूबे, मटक कर, अटक कर, भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के।[१]

रूप-सौन्दर्य की सरलता का एक चित्र 'उच्छ्वास' कविता में द्रष्टव्य है :—

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन!
सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा ललचा उसका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान![२]

पंत जी का साध्य और साधन—दोनों ही सुन्दर रहा है। इसी सौन्दर्य-भावना के बल पर उनका नायक 'ग्रन्थि' में असफल होकर भी 'गुंजन' में 'भावी पत्नी के प्रति' हृदय के समस्त उद्‌गारों को व्यक्त करने में समर्थ हो सका है। उनकी दृष्टि में अनुराग-भाव एक शाश्वत अनुभूति है, भौतिक जीवन की सफलता-विफलता का उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब तक मनुष्य का जीवन है तब तक सौन्दर्य अनुभूति का उसमें संचार है। सौन्दर्य के माध्यम से ही वे प्रेम तक पहुँचते हैं क्योंकि हृदयस्थ प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने वाला तत्त्व सौन्दर्य ही है। इस प्रकार कवि पंत तो सौन्दर्य के ही कवि हैं। उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी भावना पूर्ण उदात्त व प्रौढ़ है। कवि सौन्दर्य-दर्शन का इतना अभ्यासी हो गया है कि उसे समस्त संसार-छवि उपवन सदृश लगता है—

देखूँ सबके उर की डाली
किसने रे क्या-क्या चुने फूल, जग के छवि उपवन से अकूल
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल।[३]

---

१. ग्रन्थि—पंत, पृ० ५-६।

२. पल्लव—पंत, पृ० ५७।

३. गुंजन—पंत, पृ० १७।

वेदना-भाव—छायावाद में वेदना-भाव का प्राधान्य रहा है। इस काल के सभी प्रमुख कवियों ने विरहानुभूति का मार्मिक चित्रण किया है। पंत जी का तो विचार है कि 'आह से उपजा होगा गान'[1] अर्थात् वह कविता का उत्स ही वेदना से मानते हैं। 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' में पंत जी का वेदना-भाव अपने पूर्ण प्राण-प्रवेग से निःसृत हुआ है। यह वेदना कवि-हृदय को दिव्य व उज्ज्वल बना कर उसे जड़-चेतन-व्यापी कर देती है। स्मृति-क्षणों में प्रिया का सौन्दर्य शतगुणा हो जाता है तथा उसका स्पर्श व शब्द आनन्ददायी हो उठता है। इस भाव को कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है :—

एक वीणा की मृदु झंकार, कहाँ है सुन्दरता का पार,
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि, दिखाऊँ मैं साकार।
तुम्हारे छूने में था प्राण, सग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान।
अपरिचित चितवन में था प्रात, सुधामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार सुखद चेष्टाओं में आभार।[2]

कवि ने विरह में भी पूर्ण संयम का परिचय दिया है। उसका प्रेम उच्चकोटि का कामरहित है। स्वयं विरह की ज्वाला में दग्ध होते हुए भी प्रकृति के उपादानों को प्रिय से मिलते देख वह सन्तुष्ट हो लेता है और कहता है ;—

शैवालिनि, जाओ, मिलो तुम सिन्धु से, अनिल आलिंगन करो तुम गगन को।
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर, उडुगणों, गाओ, पवन वीणा बजा कर।
पर हृदय, सब भाँति तू कंगाल है, उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी भग्न भावी को डुबा दें आँख-सी।[3]

विरहाग्नि में जलते हुए शीतलता अथवा तृप्ति का अनुभव करना छायावाद की विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। इस सन्तोष भाव की अभिव्यक्ति पंत जी की अनेक पंक्तियों में दृष्टिगत होती है। यथा—

वेदना से भी निरापद क्या अहा और कोई शरण है संसार में।
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का।[4]

× × ×

१. पल्लव—पंत, पृ० १२।
२. वही, पृ० १८।
३. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत; पृ० ३१।
४. वही, पृ० ४२।

आज मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूँ, वेदना के इस मनोरम विपिन में
विजय छाया में द्रुमों की, योग-सी, विचरती है आज मेरी वेदना।[1]

विरह में केवल सन्तोष का ही अनुभव कवि ने किया हो, ऐसा नहीं है, उसकी तीक्ष्णता कराह और पीड़ा की अनुभूति से भी परिचित है :—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह, अहह कराहने इस शब्द को
किस कुलिस की तीक्ष्ण, चुभती नोक से निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।[2]

परन्तु पंत जी ने विरह को संसार का अनिवार्य नियम मानकर उसे सहज स्वीकार किया है। उनके दर्शन में विरह अलौकिक वरदान रूप में स्वीकृत हुआ है—

विरह है अथवा यह वरदान।
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता, सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।[3]

प्रणय-भाव—प्रणय छायावाद का प्रमुख विषय रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित हुई कि जहाँ पूर्ववर्ती काव्य में लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम, ऐन्द्रिक प्रेम और आत्मिक प्रेम अथवा स्वकीया प्रेम और परकीया प्रेम जैसी स्वतन्त्र कोटियाँ दिखायी देती हैं वहाँ नवीन काव्य मे इस प्रकार की विभाजन-रेखा नहीं दिखायी देती। दूसरी बात यह कि श्रृंगार-रस के ढाँचे में आने वाले परम्परागत नखशिख-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, नायिका-भेद, दूत-दूती प्रसंग आदि प्राचीन अब प्रायः पूर्णतः समाप्त हो चले। स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के आग्रह में कवियों ने घिसे-पिटे मार्ग को सर्वथा छोड़ कर अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर ही अपनी मौलिकता की छाप छोड़नी चाही।[4]

पंत जी की छायावादी प्रेम-कविताओं में 'ग्रन्थि', 'आँसू' और 'उच्छ्वास' उल्लेखनीय हैं। इनमें वैयक्तिक स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण हुआ है जो गुणात्मक रूप से रीतिकालीन प्रेम से भिन्न है। इन रचनाओं में मुक्त, सहज, स्वच्छन्द;

---

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ३८।
३. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२।
४. शिल्प और दर्शन (पल्लव का प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५।

प्राकृतिक प्रेमाकर्षण है। पंत ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उनके लिए समस्त प्रकृति ही राग-चेतना से स्फुरित है। प्रेम की सर्वव्यापकता देखिए :

कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सब के उर में।
रुदन, क्रीडन, आलिंगन, मरण, सेवन, आराधन,
शशि की-सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर-पुर में।[१]

उनकी प्रणय-भावना का प्रसार अत्यन्त व्यापक है। चूँकि विराट् प्रेम-भाव की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति स्त्री-पुरुष के प्रणय-भाव में होती है। इसलिए पंत के लिए स्त्री-पुरुष का सहज प्रणय विराट् प्रेम से एकाकार होता गया है। उनके काव्य में व्यक्त व्यक्तिगत प्रेम उस व्यापक राग-चेतना में सहज प्रतिष्ठित है। इसी बिन्दु पर उनका प्रेम-वर्णन रीतिकाल के ह्रासोन्मुखी प्रेम-वर्णन से पृथक् हो जाता है। तथा जिसमें नवीन आत्मिक प्रसार के दर्शन होते हैं और जो समस्त संसार को एक सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता रखता है—

गगन के उर में है घाव,
देखती ताराएँ भी राह,
बँधा विद्युत् छवि में जलवाह
चन्द्र की चितवन में भी चाह।[२]

× × ×

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास, शांत अम्बर में नील विलास,
वही उर, उर में प्रेमोच्छ्वास, काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास, लोल लहरों में लास।[३]

पंत जी की प्रणय-भाव सम्बन्धी रचनाओं की विशेषता है भावावेग की सरलता। उनका नायक आंगिक चेष्टाएँ नहीं करता बल्कि अपनी आकुलता-विकलता, प्रेम आदि को सीधे, सच्चे, मार्मिक रूप से प्रकट करता है। यथा—

दृगों में छा जाता सोल्लास
काम-बाला का शरदाकाश;

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. पल्लव (आँसू)—पंत, पृ० ७१।
३. वही—पृ० ८१।

आज मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूँ, वेदना के इस मनोरम विपिन में
विजय छाया में द्रुमों की, योग-सी, विचरती है आज मेरी वेदना।[१]

विरह में केवल सन्तोष का ही अनुभव कवि ने किया हो, ऐसा नहीं है; उसकी तीक्ष्णता कराह और पीड़ा की अनुभूति से भी परिचित है:—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह, अहह कराहते इस शब्द को
किस कुलिस की तीक्ष्ण, चुभती नोक से निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।[२]

परन्तु पंत जी ने विरह को संसार का अनिवार्य नियम मानकर उसे सहज स्वीकार किया है। उनके दर्शन में विरह अलौकिक वरदान रूप में स्वीकृत हुआ है—

विरह है अथवा यह वरदान।
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता, सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।[३]

प्रणय-भाव—प्रणय छायावाद का प्रमुख विषय रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित हुई कि जहाँ पूर्ववर्ती काव्य में लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम, ऐन्द्रिक प्रेम और आत्मिक प्रेम अथवा स्वकीया प्रेम और परकीया प्रेम जैसी स्वतन्त्र कोटियाँ दिखायी देती हैं वहाँ नवीन काव्य में इस प्रकार की विभाजन-रेखा नहीं दिखायी देती। दूसरी बात यह कि शृंगार-रस के ढाँचे में आने वाले परम्परागत नखशिख-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, नायिका-भेद, दूत-दूती प्रसंग आदि प्राचीन अब प्रायः पूर्णतः समाप्त हो चले। स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के आग्रह में कवियों ने घिसे-पिटे मार्ग को सर्वथा छोड़ कर अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर ही अपनी मौलिकता की छाप छोड़नी चाही।[४]

पंत जी की छायावादी प्रेम-कविताओं में 'ग्रन्थि', 'आँसू' और 'उच्छ्वास' उल्लेखनीय हैं। इनमें वैयक्तिक स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण हुआ है जो गुणात्मक रूप से रीतिकालीन प्रेम से भिन्न है। इन रचनाओं में मुक्त, सहज, स्वच्छन्द;

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ३८।
३. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२।
४. शिल्प और दर्शन (पल्लव का प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५।

प्राकृतिक प्रेमाकर्षण है। पंत ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उनके लिए समस्त प्रकृति ही राग-चेतना से स्फुरित है। प्रेम की सर्वव्यापकता देखिए :

कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सब के उर में।
रुदन, क्रीडन, आलिंगन, मरण, सेवन, आराधन,
शशि की-सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर-पुर में।[१]

उनकी प्रणय-भावना का प्रसार अत्यन्त व्यापक है। चूँकि विराट् प्रेम-भाव की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति स्त्री-पुरुष के प्रणय-भाव में होती है। इसलिए पंत के लिए स्त्री-पुरुष का सहज प्रणय विराट् प्रेम से एकाकार होता गया है। उनके काव्य में व्यक्त व्यक्तिगत प्रेम उस व्यापक राग-चेतना में सहज प्रतिष्ठित है। इसी बिन्दु पर उनका प्रेम-वर्णन रीतिकाल के ह्रासोन्मुखी प्रेम-वर्णन से पृथक् हो जाता है। तथा जिसमें नवीन आत्मिक प्रसार के दर्शन होते हैं और जो समस्त संसार को एक सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता रखता है—

गगन के उर में है घाव,
देखती ताराएँ भी राह,
बँधा विद्युत् छवि में जलवाह
चन्द्र की चितवन में भी चाह।[२]

× × ×

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास, शांत अम्बर में नील विलास,
वही उर, उर में प्रेमोच्छ्वास, काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास, लोल लहरों में लास।[3]

पंत जी की प्रणय-भाव सम्बन्धी रचनाओं की विशेषता है भावावेग की सरलता। उनका नायक आंगिक चेष्टाएँ नहीं करता बल्कि अपनी आकुलता-विकलता, प्रेम आदि को सीधे, सच्चे, मार्मिक रूप से प्रकट करता है। यथा—

दृगों में छा जाता सोल्लास
काम-बाला का शरदाकाश;

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. पल्लव (आँसू)—पंत, पृ० ७१।
३. वही—पृ० ८१।

तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान
प्रिये प्राणों की प्राण।[1]

दूसरी विशेषता है कि नारी पक्ष उनकी कविता में सामन्त-युग की भाँति केवल 'उपभोग्य वस्तु' मात्र नहीं है वरन् स्त्री-पुरुष दोनों के प्रेम में समान साहचर्य का भाव है। आधुनिक प्रणय-भावना की दृष्टि से यह दृष्टिकोण विकसनशील है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने नारी के आत्मिक स्वर्गीय सौन्दर्य को देखने का प्रयास किया है, न कि मांसल सौन्दर्य को। नारी-आकृति और रूप का स्पष्ट आलेखन करते हुए भी उन्होंने उसे उदात्त-भूमि पर ही प्रतिष्ठित किया है। कवि विश्व कामिनी की पावन छवि देखने का इच्छुक है—

विश्वकामिनी की पावन छवि
मुझे दिखाओ करुण वान![2]

प्रेयसी के सौन्दर्याङ्कन में कवि ने मांसल चित्रों की बजाय भावात्मक चित्र खींचे हैं जो अभूतपूर्व बन पड़े हैं। निम्नलिखित चित्र देखिए—

हृदय की पलकों में गतिहीन
स्वप्न संसृति-सी सुखमाकार
बाल भावुकता बीच नवीन
परी-सी धरती रूप अपार
झूलती उर में आज, किशोरि
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान,
लाज में लिपटी उषा समान,
प्रिये, प्राणों की प्राण।[3]

प्रणय-सम्बन्धों में काम-व्यापार को स्वीकार करते हुए कवि ने उसे शरीर और भावना दोनों पर अन्योन्याश्रित माना[4] है और उसे समस्त सृष्टि का सूत्रधार और संचालक माना है—

विश्व मंच पर हास अश्रु का
अभिनय दिखला बारम्बार,
मोह यवनिका हटा, कर दिया
विश्व रूप तुमने साकार।[5]

---

१. गुञ्जन—पंत, पृ० ४१। २. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८८।
३. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४०। ४. पल्लव की अनंग शीर्षक कविता देखिये।
५. पल्लव—पृ० ८७।

पंत जी की प्रेम-भावना उनकी कविताओं में उत्तरोतर परिपक्व होती गयी है। प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेम का सरल, सहज, उच्छ्वसित रूप देखने को मिलता है जो कि उनके अनुसार किशोरावस्था का सहज भावोच्छ्वास है। वय के साथ जिस प्रकार विचारों में प्रौढ़ता आती है वैसे ही भावनाओं में भी। भावों की यह परिपक्वता 'गुञ्जन' से दृष्टिगत होने लगी। इस संग्रह की 'भावी पत्नी के प्रति' और 'आज रहने दो गृहकाज' प्रमुख प्रेम-कविताएँ हैं। सहज भावोच्छ्वास हो अथवा भावना की परिपक्वता, पंत जी ने अपनी उदात्त भावना के स्वर्ण-स्पर्श से समस्त काव्य में पावन प्रेम का ही शृंगार किया है और उसमें अनन्त सौन्दर्य और पवित्रता समाहित की है जो बुद्धि, भावना और लोक-सेवा के आदर्शों को भी महिमान्वित करता है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार।[१]

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति के सौन्दर्य का सजीव चित्रण छायावाद के साथ ही पंत के काव्य की भी प्रमुख विशेषताओं में एक है। सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य के इसी युग में कवियों ने प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए उसके सौन्दर्य का स्वतन्त्र चित्रण किया। प्रकृति और पंत काव्य का साहचर्य आद्यन्त रहा। प्रकृति के कवि के रूप में उनकी सर्वाधिक प्रतिष्ठा है।[२] उनको कविता करने की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई।[३] अपनी आरम्भिक रचनाओं में तो वे मुख्य रूप से प्रकृति के कवि के रूप में ही दृष्टिगत होते हैं। वैसे प्रकृति उनके काव्य में आदि से अन्त तक स्थान पाती रही है।

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२।

२. प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति पंत का दृष्टिकोण एक विशुद्ध कलाकार का रहा है। प्रकृति-प्रेम कलाकार पंत के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी प्रकृति-प्रेम के कारण उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है।··· प्रकृति ने ही पंत के काव्य को वह सौन्दर्य प्रदान किया है जो अन्य कवियों से उन्हें पृथक् कर देता है।—हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० गोविन्द राम शर्मा, पृ० ४८०।

३. जब मैंने पहले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी।—पंत की काव्यकला और जीवन दर्शन —रामचन्द्र गुप्त—में 'मैं और मेरी कला' निबन्ध से उद्धृत, पृ० २४७।

मुख्य रूप से आलम्बन के रूप में पंत ने प्रकृति चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त उद्दीपन विभाव, प्रतीक-योजना, उपमान-योजना, परोक्ष की अभिव्यक्ति के रम्याद्भुत चित्र देखने को मिलते हैं। 'वीणा' का कवि प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध है। समस्त काव्य प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है।[१] प्रारम्भ में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा-भाव के दर्शन होते हैं फिर कवि उसके गुणों पर मोहित हो उसी में एकाकार हो जाने की आकांक्षा करता है। इस संग्रह की प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं से कवि का प्रकृति से सहज सान्निध्य का परिचय मिलता है। उन्हीं के शब्दों में 'वीणा की रचनाओं में मेरी अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस्य संकेत तथा प्रेरणा-बोध से पूरा कर दिया है। उसके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फुटकर स्वत: काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गयी है।'[२]

'ग्रन्थि' में कवि प्रकृति से अधिक नारी की ओर आकृष्ट दिखायी देता है। उसमें शुद्ध प्रकृति-चित्र नहीं हैं परन्तु अनेक स्थलों पर प्रणय-चित्रण की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रकृति के मनोरम दृश्य अंकित हुए हैं। 'पल्लव' को प्रकृति की चित्रशाला कह सकते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य तो इसमें भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, परन्तु उसका सान्निध्य लुप्त हो गया है।[३] 'छाया', 'निर्झर', 'विहग', 'बादल', 'पल्लव', 'वीचि विलास', 'निर्झरी', 'नक्षत्र', 'पवन', 'वसन्त' आदि कविताओं में सुन्दर प्रकृति-चित्र प्राप्त होते हैं। 'गुञ्जन' में कवि जीवन के

---

१. मैं और मेरी कला निबन्ध से उद्धृत—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४७।

२. वही, पृ० २४६।

३. 'पल्लव' काल की रचनाओं में विहग, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक भर रह गये हैं। उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं। प्रकृति के उपकरण रागवृत्ति के स्वर बन गये हैं। 'वीणा' काल के प्राकृतिक सौन्दर्य का सहवास 'पल्लव' की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना जिज्ञासा में परिणत हो गयी है। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है, वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गयी है।—मैं और मेरी कला—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २७६।

प्रति उन्मुख दिखायी देता है। इस संग्रह की कविताओं में सौन्दर्य, आनन्द नित्य सत्य में दृढ़ विश्वास का भाव दृष्टिगत होता है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कवि पर्याप्त चिन्तनशील हो चुका था इसलिए 'गुञ्जन' की प्रकृति-विषयक अनेक रचनाओं में दार्शनिकता का पुट भी विद्यमान है, जैसे 'कली', 'एक तारा', 'नौका-विहार' आदि कविताएँ। प्रकृति पर नारी-भाव का आरोप भी इसकी कविताओं में वर्तमान है। 'ज्योत्स्ना' की रचना तो प्राकृतिक उपादानों द्वारा हुई है अतः उसमें प्रकृति सम्बन्धी अनेक सुन्दर प्रगीत हैं।

अब हम पंत जी की छायावादी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी उपर्युक्त विशिष्टताओं से युक्त कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि इन कविताओं में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण उनका मुख्य ध्येय रहा है। 'पल्लव' की 'छाया' शीर्षक कविता आलम्बन रूप में प्रकृति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है--

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई ?[1]

यदा-कदा उद्दीपन रूप में भी कवि ने प्रकृदि-चित्रण किया है—

देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला,
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान,
मुझे करता तब अन्तर्धान।[2]

प्रकृति को एक सजीव चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार कर अनेक स्थलों पर कवि ने उसका मानवीकरण किया है। 'वीणा' की अधिकांश रचनाओं में प्रकृति 'माँ' रूप में कल्पित है—

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०७।

२. वही, पृ० ९७।

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
माँ ! तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ,
इस ऊषा की लाली में ।[1]

प्रकृति में नारी-रूप का दर्शन पंत जी की अपनी विशेषता रही है । प्रस्तुत उदाहरण में 'चाँदनी' का नायिका रूप में चित्रण मनोहारी दृश्य उपस्थित करता है—

नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशिमुख धर, नीरव, अनिमिष एकाकिनि !
वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन, छू लेती अग-जग का मन,
श्यामल, कोमल चल चितवन, जो लहराती जग जीवन ।[2]

प्रकृति के मानवीकरण के सन्दर्भ में ही कवि प्रकृति को एक चेतन सत्ता के रूप में देखता है । ऐसे स्थलों पर रहस्यभाव अथवा दार्शनिकता के भी दर्शन होते हैं । 'गुंजन' की 'एक तारा' कविता में कवि ने नक्षत्र को एक चेतन व्यक्तित्व प्रदान कर उस पर अनेक मानवीय भावनाओं का आरोप करते हुए दार्शनिक अभिव्यक्ति की है—

चिर आकांक्षा से ही थर-थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगन,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ? क्या नीरव-नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल ![3]

इस प्रकार से प्रकृति-चित्रण को पंत जी के छायावादी काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन और अलंकार विधान के सीमित क्षेत्र से निकालकर उसे रागात्मक जीवन का आलम्बन बनाया । उन्होंने प्रकृति को एक चेतन व्यक्तित्व प्रदान किया एवं उस तक अपनी

---

१. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३ ।
२. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८०
३. वही, पृ० ७६ ।

संवेदना का विस्तार किया और उसके रमणीक अंक में संवेदना पायी भी। इसके अतिरिक्त प्रकृति के स्थूल सौन्दर्य में सूक्ष्म और दिव्य सत्ता के भी दर्शन किये। प्रकृति के इतने रम्य, अद्भुत, सजीव और संश्लिष्ट चित्र अंकित करने में कदाचित् पंत जी को जितनी सफलता मिली उतनी अन्य किसी छायावादी कवि को नहीं प्राप्त हुई।

निष्कर्ष—वस्तुतः पंत जी के छायावादी काव्य के भावपक्ष के उक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि उनके काव्य की अन्तश्चेतना में इस युग-विशेष का हृदय-मन्थन एवं जीवन-संघर्ष प्रतिबिम्बित है जिसने मानव-जीवन को वह आलोक-पथ प्रदान किया जो उसे सामान्य जीवन से ऊपर उठने का संकेत करती है। उन्हीं के शब्दों में—"काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छन्दों की झंकृत वेशभूषा, शब्दों तथा अलंकारों का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यंजना, कल्पना की सतरंगी उड़ान तथा सौन्दर्य-बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान मात्र कहे जा सकते हैं। इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की अन्तश्चेतना है जो युग-विशेष के हृदय-मन्थन तथा जीवन-संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक दिशा का इंगित देती है, जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।"[१]

कलापक्ष

"पल्लव" का 'प्रवेश'—छायावादी काव्य में पंत उसके स्वरूप के निर्माणकर्ता तथा रूप-निर्णायक कलाकार रहे हैं। छायावादी काव्य के अन्तर्गत पंत उसके कलापक्ष के स्वरूप-निर्माण की विवेचना में जितने सफल रहे उतना उसके भावलोक की विवेचना में नहीं। खड़ी बोली के आन्दोलन की चरम-स्थिति 'पल्लव' की भूमिका है। छायावादी विवेचना के रूप में उनका मुख्य प्रदेय काव्य-कला की नवीन अभिव्यक्ति में है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "छाया-वाद में कला की यत्नज तथा अयत्नज दोनों प्रकार की शोभा का उत्कर्ष मिलता है। इस उत्कर्ष में सबसे अधिक योगदान है पंत जी का। उनमें छायावाद की मणि-कुट्टिम कला का अपूर्व वैभव है। वामन की वैदर्भी-रीति और उनके

---

१. गद्यपथ—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४७।

गुणों की सम्पदा पंत जी के काव्य से अधिक और कहाँ मिलेगी। ...चना सौन्दर्य पंत-कला की विशेषता है।"[1] उनकी कविता का प्राण ही सौन्दर्य है।

'पल्लव' का 'प्रवेश' एक युग-प्रवर्त्तक भूमिका के रूप में हिन्दी साहित्य में सुरक्षित है। इसमें युगकवि ने काव्यकला का रूपगत विवेचन करते हुए आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा खड़ी बोली का पक्ष लेते हुए कविता की भाषा के स्वरूप, पर्याय, शब्द, लिंग, समास, अलंकार, छन्द आदि का काव्यकला की दृष्टि से मार्मिक एवं अपूर्व उद्घाटन किया है। ब्रजभाषा को आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा के रूप में कवि ने इसलिए नहीं स्वीकारा क्योंकि उसकी साहित्यिक परम्परा विलास-रुग्ण और संकीर्ण हो चली थी।[2] उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है परन्तु व्यापकता नहीं। उन्हीं के शब्दों में—"ब्रजभाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल-छाया में, सौन्दर्य का कश्मीर भले ही बसाया जा सके,......पर उसका वक्षस्थल इतना विशाल नहीं......जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन—सब-कुछ चित्रित हो सके, जिसकी अलमारियों में दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब-कुछ सँजोया जा सके।"[3] ब्रजभाषा के समक्ष खड़ी बोली की काव्योचित श्रेष्ठता के सम्बन्ध में पंत जी ने निर्भीक आत्मविश्वास के साथ कहा—"हमें भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते-गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६६।

२. उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वरों में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की कमी नहीं। उसके बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

—शिल्प और दर्शन (प्रवेश)—पंत, पृ० ५।

३—वही, पृ० ८०।

लिए आदर्श हो सके। जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुटिल, कोमल-कठोर, घात-प्रतिघातों के ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों में तरंगित-कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, संकुचित-प्रसारित होती हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, संधि-संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।"[1] खड़ी बोली के पक्ष में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह था कि जब लोक-व्यवहार और गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है तब काव्य-भाषा भी ब्रजभाषा नहीं, खड़ी बोली ही होना चाहिए। खड़ी बोली के प्रति उनका पक्षपात भाषा के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, आलोचनात्मक परीक्षण के उपरान्त देश की मानसिक अवस्था एवं काव्योचित माँगों के अनुकूल रहा और भविष्य में खड़ी बोली वास्तव में समस्त भारत का हृत्कम्पन' सिद्ध हुई।[२]

काव्य-भाषा के स्वरूप पर विचार करते हुए पंत जी ने भाव और भाषा के सामंजस्य पर बल दिया है। वे कहते हैं जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं।[३] सामंजस्य के अतिरिक्त राग[४] और चित्रात्मकता[५] को भी पंत जी काव्य-भाषा के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी सन्दर्भ में पंत जी ने काव्य-भाषा का मनोवैज्ञानिक, अन्तर्दर्शी तथा मार्मिक विश्लेषण करते हुए शब्दों के पर्याय-सौन्दर्य पर विचार प्रस्तुत किया है, जो कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में काव्य-शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा नवीन विचार था। हिन्दी काव्य को पंत जी की यह महत्त्वपूर्ण देन है। भाषा के मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी

---

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८।

२. वही—पृ० १०।   ३. वही—पृ० १५।

४. 'छायावाद के कलापक्ष' में राग-सम्बन्धी पंत जी के विचार द्रष्टव्य।

५. कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।—शिल्प और दर्शन—पंत, पृ० १४।

दो शब्द सर्वथा एक ही अर्थ नहीं प्रकट कर सकते ।[1] इस सम्बन्ध में पंत जी ने अंग्रेजी की पर्याय-कल्पना को संस्कृत की पर्याय-कल्पना से अधिक सार्थक तथा वैज्ञानिक माना है । वह कहते हैं—"संस्कृत के पर्यायों की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं हो सका । वर्णवृत्तों के निर्माण में विशेषणों तथा पर्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणों की मीड़ों से ही पूरा कर लिया गया, यही कारण है कि ripple, below, wave, tide आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद-द्योतक शब्दों को गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियों का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों को बढ़ाने की ओर ।"[2] उनके इस मत से असहमति प्रकट करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"यह धारणा अशुद्ध है, वास्तव में किशोर कवि के मन में उन दिनों विदेश का जादू चढ़ कर बोल रहा था, अतः वह भारतीय उपकरणों का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका । संस्कृत की जैसी निर्माण-क्षमता और अभिव्यंजकता किसी भी अन्य भाषा में नहीं है, अंग्रेजी में तो फ्रेंच आदि से भी कम है ।"[3] नगेन्द्र जी की इस धारणा का खण्डन शान्ति जोशी द्वारा लिखित जीवनी में इस प्रकार है—"उनका कहना है कि संस्कृत काव्य में उन्हें स्वयं पर्याय सूक्ष्मता कहीं नहीं मिली । जैसा नगेन्द्र जी कहते हैं आनन्दवर्द्धन और कुन्तक ने भले ही पर्याय ध्वनि तथा वक्रता का मार्मिक विश्लेषण किया हो किन्तु संस्कृत काव्य के ह्रास युग में ही नहीं कालिदास आदि जैसे महान् कवियों की रचना में भी पर्यायों के सूक्ष्म अर्थव्यंजक प्रयोग देखने को नहीं मिलते और उनका शब्द-बोध का भण्डार वर्णवृत्तों के इंगितों पर ही परिचालित लगता है जैसा कि स्वाभाविक भी है । संस्कृत के किसी कोश में भी वीचि, तरंग आदि शब्दों के सूक्ष्म-अर्थ द्योतक भेद नहीं दिये गये हैं । इसलिए उसे विदेश का जादू न मान कर अपने संस्कृत काव्य के अध्ययन पर निहित धारणा ही मानते हैं ।"[4]

---

१. भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं ।

—छायावाद का कलापक्ष—पंत, पृ० १३ ।

२. छायावाद का कलापक्ष—पंत, पृ० १८ ।

३. आस्था के चरण—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४६ ।

४. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य (खण्ड १)—शान्ति जोशी, पृ० १८८ ।

काव्य में लिंग-निर्णय के सम्बन्ध में पंत जी का विचार है कि लिंग का निर्णय शब्द के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, अकारान्त-इकारान्त के अनुसार नहीं। यह मत अत्यन्त भावात्मक होने के कारण सार्वभौम नहीं हो सकता और स्वयं कवि को भी अपनी इस धारणा में परिशोधन करना पड़ा। समास के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "समासों का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ़ कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँट कर उन्हें सुन्दर आकार-प्रकार देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।"[१]

काव्य और अलंकार के सम्बन्ध की विवेचना भी पंत जी ने इस भूमिका में की है। इसकी कुछ चर्चा हम पीछे[२] कर आये हैं। काव्य में वे उन्हीं अलंकारों को स्वीकार्य मानते हैं जो जीवन्त काव्याभिव्यक्ति की क्षमता रखते हैं। अलंकारों की गणना निश्चित करने के पक्ष में भी वे नहीं हैं; क्योंकि वे भावाभिव्यक्ति के द्वार हैं। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अलंकारों के प्रयोग को वे सर्वथा त्याज्य मानते हैं क्योंकि काव्य-सौन्दर्य कुण्ठित होता है। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए वे कहते हैं—"जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्च्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[३]

काव्य में अलंकारों के महत्त्व को स्पष्ट करने के साथ ही पंत जी ने छन्द-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो इस भूमिका की सर्वप्रमुख विशेषता है, क्योंकि उस समय तक छन्द-विवेचन केवल वर्ण, मात्रा-गणना, यति-गति तक ही सीमित था। उन्होंने कविता और छन्द में घनिष्ठ सम्बन्ध माना है—इसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं,[४] इसलिए उसे फिर से नहीं दोहरायेंगे। इस सम्बन्ध में उनकी अन्य मान्यताओं को प्रस्तुत करेंगे।

---

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३१।

२. छायावाद का कलापक्ष—द्रष्टव्य।

३. शिल्प और सौन्दर्य (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५-१६।

४. छायावाद का कलापक्ष—द्रष्टव्य।

कविता और छन्द के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के बाद पंत जी भाषा और छन्द की घनिष्ठता स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत का सङ्गीत समास-संधि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृङ्खलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है।···संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत का संगीत व्यंजन-प्रधान है और वर्ण-वृत्त उसके सहज वाहन हैं। हिन्दी का संगीत स्वर प्रधान है, जिसके सहज माध्यम हैं मात्रिक वृत्त। अतः "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है।"[2]

छन्द के ही अन्तर्गत पंत जी ने तुक को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है जिसके प्रति छन्दशास्त्री प्रायः उदासीन थे। केवल तुकबन्दी कर देना ही कविता नहीं है बल्कि तुक-छन्द योजना का आवश्यक अंग है। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं।···तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो।"[3] अतुकान्त काव्य को पंत जी दिन की कार्यव्यस्त अश्रान्त दौड़ के रूप में मानते हैं, क्योंकि उसमें तुक का अतिक्रमण हो जाता है और तुकान्त कविता को प्रभात और सन्ध्या के अवकाशपूर्ण सन्तुलन की भाँति मानते हैं।

मुक्त छन्द के सम्बन्ध में वे अपना विचार प्रकट करते हैं कि "मुक्तकाव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।"[4] इसमें कविता के अंशों के गठन पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, छन्द के चरण भाव के अनुरूप ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं।

१. शिल्प और दर्शन (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६-१७।
२. वही, पृ० १८।
३. वही, पृ० २४।
४. वही, पृ० २७।

'पल्लव' के 'प्रवेश' के उपर्युक्त विवेचन से छायावाद के सन्दर्भ में पंत जी के कला-शिल्प सम्बन्धी विचार स्पष्ट हैं। उन्होंने कला के उपर्युक्त उपादानों में गहरे पैठकर उनका अत्यन्त सूक्ष्म एवं मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जो कला-शिल्प की दृष्टि से वास्तव में प्रशंसनीय है। इस सन्दर्भ में पंत जी के काव्य-कला सम्बन्धी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण हुआ है। अब हम रचनात्मक स्तर पर भी उनके छायावादी काव्य में इन प्रयोगों को देख लें।

भाषा—पंत जी ने खड़ी बोली हिन्दी की श्री-समृद्धि के लिए उसकी अर्थ-व्यंजना की शक्तियों तथा शब्द-भण्डार को विकास एवं विस्तार प्रदान कर उसके निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। काव्य-भाषा की सृष्टि में उनकी दृष्टि व्याकरणबद्ध न होकर विशुद्ध सौन्दर्यनिष्ठ रस-दृष्टि ही रही है। उन्होंने संस्कृत-साहित्य से नवीन शब्दों का चयन किया। लोक-भाषा से उपयुक्त शब्द छाँटे तथा विदेशी भाषाओं एवं हिन्दीतर देशी भाषाओं से अनेक शब्द या मुहावरे चुन कर उनका हिन्दी-रूपान्तर किया। शब्द की लक्षणा जैसी अति व्यापक शक्ति का प्रयोग करके उन्होंने प्रचलित शब्दों में नवीन भावों का विधान किया।

खड़ी बोली में ब्रजभाषा का पदलालित्य एवं सौकुमार्य की सृष्टि उसे ब्रज-भाषा की प्रतिद्वन्द्विता में लाने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार की शब्द-योजना का आश्रय लिया। इसके अन्तर्गत उन्होंने संस्कृत के तत्सम-तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का नवीन सन्दर्भ में नूतन विन्यास किया। नवीन शब्दों का निर्माण किया। अंग्रेजी शब्दों की अर्थच्छाया ग्रहण कर भी नवीन शब्दों का निर्माण किया।

तत्सम शब्दों के नवीन विन्यासक्रम में शब्दों के मर्म की सूक्ष्मताओं का पूर्ण परिज्ञान होने के कारण ही वे प्रचलित शब्दों को नवल दीप्ति से उद्भासित कर सके। देखिए—

आदि-काल में बाल-प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हत-ज्ञान,
शस्य-शून्य वसुधा का अंचल,
निश्चल जलनिधि, रवि-शशि म्लान[१],

---

१. पल्लव (अनङ्ग)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३८।

इस उद्धरण में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है तथा हिन्दी के शब्द विरल हैं। आदिकाल की 'बालप्रकृति' के लिए प्रयुक्त 'प्रसुप्त', 'मृतवत्', 'हतज्ञान' आदि विशेषणों की अद्भुत व्यंजना स्वतः स्पष्ट है। स्वर-संधि के आधार पर तत्सम शब्दों को विशाल आकार प्रदान कर उन्हें नवीन अर्थ-शक्ति दी है। यथा—

ओ' चकोर ने निराभिसार,
सारस ने मृदु-**ग्रीवालिंगन**[१]
× × ×
सघन मेघों का **भीमाकाश**,
गरजता है जब **तमसाकार**[२]

प्रस्तुत काव्यांश में 'ग्रीवालिंगन' में 'आ' की संधि द्वारा आलिंगन की 'प्रक्रिया', 'भीमाकाश', 'तमसाकार' आदि में सघन मेघों से आच्छादित आकाश की विकरालता पूर्णतः व्यंजित है।

तत्सम शब्दों में नवीन अर्थ-सौन्दर्य प्रदान करने के लिए संयुक्ताक्षरों की एकत्र सह-योजना देखिए—

छोड़ रहे हैं जग के **विक्षत वक्षस्थल पर**।
शत शत **फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर**[३]

भाषा को गरिमा एवं श्रीवृद्धि प्रदान करने के लिए पंत जी ने यदा-कदा अप्रचलित सांस्कृतिक शब्दावली का प्रयोग भी किया है। जैसे 'श्रूयत ही पुरा लोके', 'एकोऽहं बहुस्याम्', 'सत्यं मा भैः'[४] आदि।

शब्दों की ध्वनि पर अधिक ध्यान होने के कारण जहाँ कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए तत्सम शब्द अनुपयुक्त जान पड़े वहाँ लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

मैं उनके **ढिग**[५]
× ×
वय **वालो** में[६]
× ×

---

१. पल्लव (अनंग)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४१।
२. वही (मौन निमंत्रण), पृ० ४७। ३. वही (परिवर्तन), पृ० १२०।
४. वीणा—पृ० ५२। ५. वही, पृ० ५। ६. वही, पृ० २४।

दुख कैसे प्रकटाऊँ[1]

× ×

भ्रू युगल मटका[2]

× ×

पियालों के फूलों के[3]

× × ×

खैंच ऐंचीला-सुरचाप[4]

× × ×

नव कलियों के धोरे झूम[5]

× × ×

रे गंध अध हो ठौर ठौर[6]

नवीन भावबोध की अभिव्यक्ति के लिए पंत जी ने अनेकानेक नवीन शब्दों को गढ़ कर अपने शब्द-शिल्पी होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। शब्द-निर्माण की इस विधि के अन्तर्गत पंत जी अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता से विशेषतः प्रभावित हैं। अनेक शब्दों की अर्थच्छाया ग्रहण करते हुए उन्होंने उसका हिन्दी रूपान्तरण किया है। कतिपय नमूने द्रष्टव्य हैं—

अजान नयन[7]—Innocent eyes

मनोरम मित्र[8]—Lovely friend

स्वर्गीय हुलास[9]—Heavenly bliss

स्वप्नों की स्वर्ण-सरित[10]—Golden river of dreams

सुवर्ण का काल[11]—Golden age

हे विधि ! फिर अनुवादित[12] कर दो —Translate

ये अरण्य-चीत्कार[13]—Cries in the bweilderness

रूप ज्वाला[14]—Fire of beauty

१. वीणा—पृ० ८३। २. ग्रन्थि—पृ० ११४।
३. पल्लव—पृ० १४। ४. वही—पृ० १६।
५. वही—पृ० २४। ६. गुञ्जन (सांध्य गीत) पृ० २०५।
७. पल्लव—पृ० ३। ८. पल्लव—पृ० ६।
९. वही—पृ० २१। १०. वही—पृ० ३५।
११. वही—पृ० ७६। १२. वही—पृ० ७३।
१३. वही—पृ० ८५। १४. गुञ्जन—पृ० १०।

छायावादी कवियों में पंत जी में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक थी। इसके अतिरिक्त रम्याद्भुत तत्त्व के प्रति मोह के कारण इनमें कुछ विशेष शब्दों के प्रति मोह की प्रवृत्ति भी सर्वाधिक थी। 'गुञ्जन' के विज्ञापन में अपने इस शब्दमोह की स्पष्ट स्वीकृति करते हुए कहते हैं—'पल्लव' की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था। यथा—

अर्द्ध-निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्च्छित-सा—इत्यादि।

'गुञ्जन' में 'रे' की पुनरावृत्ति का मोह मैं नहीं छोड़ सका। यथा—

तप रे मधुर-मधुर मन—इत्यादि।[1]

पंत जी जैसे कल्पनाशील कवि की दृष्टि व्याकरण के नियमों में आबद्ध नहीं रही। उनके अनुसार भाषा-प्रयोग का निर्णायक तत्त्व व्याकरणिक नियम न होकर मूलवर्ती भाव अथवा राग है। अतः उन्होंने इस क्षेत्र में कवि के विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए व्याकरण के मान्य एवं स्वीकृत नियमों में इच्छानुकूल परिवर्तन करने का अद्भुत साहस दिखाया। उन्होंने शब्दों का व्याकरणनिष्ठ प्रयोग केवल वहाँ किया है जहाँ व्याकरणिक नियमों तथा रागतत्त्व में सहज सामंजस्य हो, किन्तु जहाँ सामंजस्य भंग होता है, वहाँ उन्होंने स्वेच्छापूर्वक कार्य किया है। यथा—प्रभात[2], अनिल[3], आलाप[4] आदि पुँल्लिङ्ग शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग स्वेच्छा का द्योतक है। वास्तव में व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों के मूल में निहित इन नियमों के प्रति असन्तोष लक्षित होता है। कवि ने शब्द और अर्थ, राग तथा शब्द में सामञ्जस्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन किया। इसी प्रकार संधि-समास में भी अनेक स्थलों पर ऐसे स्वच्छन्द प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। जैसे मरुदाकाश की जगह 'मरुताकाश[5]' 'प्रियाह्लाद' की जगह 'प्रि आह्लाद[6]'

---

१. गुञ्जन (विज्ञापन) – सुमित्रानन्दन पंत।
२. 'पल्लवों की यह सजल-प्रभात'—पल्लव, पृ० २।
३. 'अनिल भी भरती ठण्डी आह'—वही (आँसू), पृ० २६।
४. 'अनिल पोछेगी…'—वही, पृ० २६।
५. 'सुरभि से अस्थिर मरुताकाश'—वही, पृ० ६।
६. 'प्रिय प्रि आह्लाद रे इसका'—गुञ्जन, पृ० १८।

ज्योतिर्मयी की जगह 'ज्योतिमयी'[1] का प्रयोग सन्धि के व्याकरणिक नियमों के विरुद्ध है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सहायक क्रिया 'है' से सम्बन्धित है। पंत जी ने खड़ीबोली का परिष्कार करते हुए संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग पर बल दिया और वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'है' को काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का प्रयास किया, जिसे उन्होंने 'दो सींगों वाला कनक मृग' कहा है। परन्तु खड़ीबोली की परिसीमाओं के कारण वे अपने इस प्रयत्न में सफल न हो सके। 'पल्लव' की रचनाओं में ही अनेक स्थान पर 'है' का प्रयोग हुआ है। जैसे—

'चमक छिप जाती है तत्काल'[2]
× × ×
सिहर उठती,—जीवन है भार[3]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि पंत ने संस्कृत के तत्सम, तद्भव, लोकभाषा एवं विदेशी शब्द-रूपों का प्रयोग कर काव्य-भाषा को व्यापकता एवं समृद्धि प्रदान की, जिससे भाषा में अर्थ-व्यंजकता की सृष्टि स्वतः हो गयी। इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि जिस मूल तत्त्व पर केन्द्रित रही है वह है रमणीयता। व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन कवि को प्राप्त विशेषाधिकार के कारण आक्षेपयुक्त है। इस प्रकार भाषा में श्रुति माधुर्य एवं लालित्य, चित्रात्मकता, शब्द-समूह की व्यापकता, शब्द और अर्थ का पूर्ण सामञ्जस्य तथा भाव-व्यंजना की शक्ति का समावेश कर कवि ने काव्य-भाषा को समृद्ध किया।

अलंकार—पंत जी अलंकारों को वाणी की सजावट न मानकर, उन्हें 'भावों की अभिव्यक्ति के द्वार' मानते हैं। भावनाओं की प्रेषणीयता बढ़ाने एवं अनुभूतियों को मूर्त्त रूप देने के लिए ही उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है। भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग उनके काव्य में हुआ है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास कवि को अधिक प्रिय रहा है क्योंकि उससे नाद-सौन्दर्य एव शब्द संगीत की वृद्धि होती है। देखिए—

---

१. पल्लव (प्रवेश) पृ० ५६।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पत, पृ० १६८।
३. वही—पृ० ११६।

बेलि-सी फैल-फैल नवजात
चपल, लघु-पद, लहलह, सुकुमार,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम झुक-झुक सौरभ के भार।[1]

प्रस्तुत उद्धरण में अनुप्रास मिश्रित पदावृत्तियाँ भाषा में संगीतमय झकार उत्पन्न करती हुई एक प्रकार की गत्यात्मकता का सञ्चार कर रही है। एक आनुप्रासिक नादमय चित्र भी देखिए—

चमक-झमकमय मन्त्र-वशीकर
छहर-घहरमय विष-सीकर[2]

शब्दालंकारों में श्लेष, यमक आदि प्रयोग चमत्कारपूर्ण होता है, इसलिए इनमें पंत जी की विशेष रुचि नहीं रही है। परन्तु जहाँ कहीं भी इनका प्रयोग हुआ है, बहुत ही स्वाभाविक रीति से हुआ है। यथा—

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में,[3]

इसमें तरणि शब्द का प्रयोग सूर्य और नाव दो विभिन्न अर्थों में किया गया है। अर्थालंकार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत लगभग सभी प्रमुख अलंकारों का पंत की कविताओं में प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी छँटी नव कविता-सी।[4]

उक्त पंक्तियों में उपमा अलंकार का प्रयोग है। 'छाया' को साकार रूप प्रदान करने के लिए सर्वथा नवीन उपमाओं की योजना हुई है।

'ग्रन्थि' में भावपूर्ण एवं रम्य उपमाओं का प्राचुर्य है। ये उपमाएँ एक समस्त चित्र उपस्थित करती हैं। यथा—

---

१. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३४।
३. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७।
४. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०८।

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख, मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित-दृष्टि से।

बाला को शशि-कला-सी बताकर उसकी सुन्दरता लक्षित करते हुए रम्य उपमा की योजना हुई है। साथ ही, शशि-कला अन्धकार को दूर करती है। इस उपमा की सार्थकता इस अर्थ में भी है कि शशि-कला के उदित होते म्लानता मिट जायगी।

रूढ़ उपमानों के प्रति उपेक्षा का भाव छायावादी कवियों में प्रारम्भ से ही था। इनके प्रति उपेक्षा भाव दर्शाते हुए पंत जी कहते हैं—"और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया।—आँख की उपमा? खंजन, मृग, कंज, मीन इत्यादि। होठों की? किसलय, प्रवाल, लाल, लाज इत्यादि।"[२]

रूपक अलंकार का सफल प्रयोग पंत जी के काव्य में हुआ है। निम्न-लिखित उदाहरण में परिवर्तन रूपी निरंकुश राजा का सांग रूपक उपस्थित किया गया है—

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित
हर लेते हो विभव कला, कौशल चिर संचित।[३]

अन्य अलंकारों में अन्योक्ति, विरोधाभास, उल्लेख, स्मरण, दृष्टान्त, समासोक्ति, असंगति आदि के सुन्दर प्रयोग उनके छायावादी काव्य में मिलते है। विशेष रूप से जिन अलंकारो द्वारा कला शिल्पगत सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई वे हैं मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना। यह पश्चिमी अलंकार हैं, इनके द्वारा कवि ने भावानुरूप मार्मिक योजना अपने काव्य में की है। मानवीकरण के अन्तर्गत प्रकृति और मानवीय भावों को मानवीकृत कर प्रस्तुत किया है। प्राकृतिक उपकरण का मानवीकरण देखिए—

---

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २६।

२. पल्लव (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०।

३. वही—पृ० १५१।

लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता मुग्धा-सा रुक-रुक।[१]

उक्त पंक्तियों में दशमी के चन्द्रमा का मुग्धा रूप में मानवीकृत किया है। प्रेमभाव का मानवीकरण द्रष्टव्य है—

पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रहते हो नहीं
बस बिना सोचे, हृदय को छीनकर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में।[२]

विशेषण-विपर्यय का उदाहरण देखिए—

गिरा हो जाती है सनयन
नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन
स्वयं मन करता बात श्रवण।[३]

उपर्युक्त पंक्तियों में विशेषणों-विपर्यय भावावेग के अतिरेक के कारण हुआ है अतः विशेषण-विपर्यय अलंकार है। ध्वन्यर्थ व्यंजनामूलक अलंकार पंत जी के काव्य में विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। व्यञ्जनों के प्रयोग से वातावरण के वास्तविक रूप को उत्पन्न करना इस अलंकार की विशेषता है। 'परिवर्तन' कविता में परिवर्तन पर क्रुद्ध सर्प का आरोप करते हुए फूत्कार मारते सर्प का ध्वनिमय चित्र दर्शनीय है—

अहे वासुकी सहस्र-फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़े रहे हैं जग के विक्षत-वक्षस्थल पर।
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार धरती का अंबर
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,

---

१. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६६।
२. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २८।
३. पल्लव—पृ० ६०।

अखिल विश्व हो विवर
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल ![1]

उक्त पद्यांश में 'क्ष' और 'स्फ' जैसी संयुक्त और महाप्राण ध्वनियों के प्रयोग द्वारा क्रुद्ध सर्प की फूत्कार को चित्रित किया गया है। छन्द समाप्त होते-होते ऐसा सिकुड़ गया है मानो अपनी प्रलयंकर विष-ज्वाला का वमन कर सर्प कुण्डली मारकर बैठ गया हो और विश्व श्मशानवत् नीरव हो गया हो। 'निर्झरी' कविता में निर्झरी की ध्वनि देखिए—

यह कैसा जीवन का गान
अलि कोमल कल मल टल मल ?
अरी शैल बाले नादान
यह अविरल कल-कल छल-छल ![2]

चित्रात्मकता—पंत जी के चित्र-विधान की विशेषता है विविधता। ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक दोनों प्रकार के चित्रों को उभारने का सतत प्रयास किया है। बिम्ब-विधान, अप्रस्तुत विधान, नाद-योजना तथा छन्द-योजना को ध्यान में रखते हुए कवि ने चित्र-विधान किया है। भावों, मूर्त विषयों एवं ऐन्द्रिय संवेदनाओं का समन्वित चित्रांकन निम्नलिखित उदाहरण में हुआ है। पंत जी ग्रीष्म ऋतु में किये गये नौका-विहार का सुखद अनुभव पाठक तक सम्प्रेषित करना चाहते हैं। गंगा के किनारे जाते ही वे एक विशेष आन्तरिक शुचिता, शीतलता, सात्त्विकता, स्फूर्ति, उल्लास आदि का अनुभव करते हैं। इन समस्त संश्लिष्ट अनुभवों को विभिन्न बिम्बों द्वारा उभारा है—

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल,
अपलक अनन्त, नीरव भूतल,
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लान्त, निश्चल,
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता, तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलांबर।

---

1. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८०।
2. वही, पृ० १२५।

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है, वर्तुल, मृदुल लहर।[1]

उक्त चित्र में चाँदनी के लिए शांत, स्निग्ध, उज्ज्वल विशेषणों का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है जिससे सात्त्विक वातावरण का मानसिक चित्र उपस्थित होता है। उसके बाद कवि ने गंगा का चित्र तापस बाला के अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत किया है। ग्रीष्म ऋतु में गंगा का पानी कम हो जाता है और उसकी गति क्षीण हो जाती है। इस क्षीणता का अंकन करने के लिए कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म व्यंजना की है। व्यंजनार्थ है कि चाँदनी से दूधिया हो आयी बालू की शय्या पर तन्वंगी (दुबली अथवा सुकुमार अंगों वाली) युवती गंगा श्रांत, क्लांत और निश्चल लेटी है। पानी में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के लिए कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानो वह तापस बाला का मुख है जिसे वह हथेली पर टिकाये निश्चल लेटी है। हथेली पर मुख टकाकर लेटने में करवट लेटने का भाव अन्तर्निहित है जिससे नदी की क्षीणता की व्यंजना स्वयमेव हो जाती है। इस स्थल पर कवि की कल्पना का उत्कर्ष एवं कला-वैभव दर्शनीय है। लहरों की सिहरन में केशराशि की कोमलता का भाव कल्पित किया गया है। यहाँ भी सूक्ष्म व्यंजना है। चन्द्रमा की चाँदनी से आलोकित निर्मल गंगा चूँकि श्वेत दिख रही हैं इसलिए उसे गोरे अंगों वाली कहा है। उसमें पड़ रहे नीले अम्बर के प्रतिबिम्ब में उसके लहराते नीले आँचल की उत्प्रेक्षा की गयी है। ज्योत्स्ना से ज्योतित गंगा की उठती-गिरती लहरें (रेशमी) मानो साड़ी की सिकुड़न हों। एक संश्लिष्ट चित्र द्वारा कवि ने अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की है। यह तो था प्राकृतिक वातावरण का सौन्दर्य-चित्र। अब भावी पत्नी का लज्जापूर्ण सौन्दर्य-चित्र मिलन रात्रि के सन्दर्भ में देखिए—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी, प्राण!

---

१. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८३।

मधुरता में सी भरी अजान
लाज की छुईमुई – सी म्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण ।[१]

उक्त पद्य में प्रत्येक शब्द एक चित्र खड़ा करता है। सद्यः परिणीता की मनोदशा की समस्त व्यंजना 'जड़ित पद·········आ न सकोगी, प्राण ।' इन दो पंक्तियों द्वारा मुखरित हो उठी है। इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द-चित्र द्रष्टव्य है—

अरी सलिल की लोल हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चंचल दृग कोर।
यह जग का अविदित उल्लास ।[२]
× × ×
मुग्धा की-सी मृदु मुस्कान
खिलते ही लज्जा से म्लान[३]

उक्त उद्धरणों में पहले में हिलोर और हुलास की ध्वनि-मैत्री से जो रूप-चित्र स्पष्ट होता है, उसमें लोल और सलिल अनुप्रास में तीव्रता आती है। दूसरे में समस्त चित्र का सौन्दर्य 'म्लान' शब्द पर आधारित है। खिलते की तुलना में म्लान सर्वथा उपयुक्त तो है ही, साथ हो, लज्जा से म्लान की अपनी संगति भी सुन्दर है। इस संग्रह से चित्रात्मकता के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। शब्द-चित्र एवं रूप-चित्र उपस्थित करने में पंत जी कुशल शिल्पी के रूप में हमारे सामने आते हैं।

प्रतीकात्मकता :—छायावादी काव्य मूलत; प्रगीत काव्य है। हिन्दी में प्रगीत के विशुद्ध एवं समृद्ध रूप का स्फुरण इसी काव्य में हुआ। इन कवियों के काव्य की मूल प्रेरणा भी प्रगीत के अनुकूल थी। प्रगीत के मूलतत्त्वों के अन्तर्गत संगीतात्मकता अथवा गेयता, व्यक्ति तत्त्व, भाव-प्रवणता, भावान्विति, सहज अन्त:प्रेरणा, तरल प्रवाहमयी शैली और संक्षिप्त रूपाकार हैं। पंत जी के छायावादी काव्य का शिल्प मूलत: प्रगीत काव्य का शिल्प है। उनके शिल्प-

१. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७६।
३. वही—पृ० ७७।

गत वैशिष्ट्य ने प्रगीत के इन तत्त्वों के परम्परागत रूप को नवीन आभा से मण्डित किया है। अब हम पंत काव्य के सन्दर्भ में क्रमशः इन तत्त्वों की चर्चा करेंगे।

पंत जी ने समस्त कविता का प्राणतत्त्व 'राग' माना है। राग स्वतः संगीत है, अतः उनके काव्य की मूल प्रेरणा ही संगीतमयी है। इन्होंने सर्वत्र रूढ़ियों का त्याग किया; स्थूल और बाह्य की अपेक्षा सूक्ष्म, आन्तरिक और स्थायी की ओर इनकी सहज प्रवृत्ति रही है। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी के रोमाण्टिक युग में आकर प्रगीत संगीत की अनिवार्य रूढ़िबद्धता से मुक्त हो गया था, शास्त्रीय स्वर संगीत प्रगीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य तत्व न रह गया था। इसी के प्रभाववश पंत जी ने शास्त्रीय स्वर-संगीत की अपेक्षा शाब्दिक तारल्य एवं शब्द संगीत को अधिक महत्त्व दिया। शब्दो का अपना संगीत होता है, भावानुकूल शब्द-योजना के मूल में भाव के नैसर्गिक संगीत की प्रेरणा विद्यमान रहती है। पंत जी के अधिकांश प्रगीत कोमलकांत पदावली, शब्द-गुम्फन, अक्षर मैत्री तथा आन्तरिक शब्द-संगीत से अनुप्राणित है। वे तो निसर्गतः शब्द-शिल्पी हैं। अन्त्यानुप्रास से गुम्फित निम्न पक्तियों की कोमल-मसृण, मैत्रीपूर्ण स्वर-व्यंजन तथा लघु-तरल वर्णों की संगीतात्मक लय द्रष्टव्य है—

बेलि-सी फैल-फैल नवजात,
चपल, लघु-पद, लह-लह, सुकुमार,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम, झुक-झुक सौरभ के भार।[१]

× × ×

विहग, विहग,
फिर चहक उठे थे पुञ्ज-पुञ्ज
कल कूजित कर उर का निकुञ्ज,
चिर सुभग, सुभग।[२]

प्रगीत का दूसरा प्रमुख तत्त्व व्यक्ति-तत्त्व है। छायावादी काव्य की प्रवृत्ति आत्मनिष्ठ रही है, इसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। पंत जी

१, गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. वही—पृ० ३२।

के प्रगीतों में उनकी आत्माभिव्यंजना स्वभावगत संकोच के कारण एकान्त प्रच्छन्न है। 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास', 'आँसू' आदि कविताएँ एकान्त वैयक्तिक हैं :—

मधुरिमा के मधुमास।
मेरा मधुकर का-सा जीवन
कठिन कर्म है, कोमल है मन;
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग उपवन।[1]

× × ×

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
वाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी,
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।[2]

छायावादी काव्य चूँकि शालीन, शिष्ट और सुसंस्कृत काव्य है, इस युग के प्रगीतकार कल्पनाशील भावुक कवि होने के साथ ही, गम्भीर विचारक और चिन्तक भी थे इसलिए उनके काव्य में भावप्रवणता का आवेग सूर, मीराँ आदि भक्त कवियों की भाँति निर्बाध और असंयत न होकर संयत है। पंत के काव्य में स्वभाव के संकोच और शालीनता के कारण भावावेग की अभिव्यक्ति भी उसी अनुपात में हुई है :—

बालकों का-सा मारा हाथ,
कर दिये विकल हृदय के तार:
नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा! क्या एक सितार?

हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन-धार।[3]

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८, ६।
२. वही, पृ० ६।
३. वही - पृ० ६४।

पंत जी एक सजग कलाकार हैं अतः उनके प्रगीत के मूल में स्थित भाव की अन्विति भी प्रायः खण्डित नहीं हुई है। संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना उनकी कला की विशेषता है। 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के 'उच्छ्वास', 'मौन-निमन्त्रण', 'परिवर्तन', 'नौका विहार' आदि भावपूर्ण प्रगीत इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं।

चिन्तन के बिना आत्मानुभूति का सहज उच्छलन ही प्रगीत है अर्थात् शुद्ध प्रगीत अन्तःस्फूर्त होता है, वह आत्मा का सहज उच्छ्वास होता है। कवि जब सचेत होकर काव्य-रचना करता है तब वह कला गीत बन जाता है, शुद्ध गीत नहीं रहता। छायावादी प्रगीत इस दृष्टि से कलागीत अधिक है क्योंकि इसका अन्तःस्फुरण चिन्तन, कल्पना और कला से बाधित है। फिर भी प्रारम्भिक प्रगीतों में कला के अविकसित होने के कारण अनुभूति की सहजता विद्यमान है। पंत जी की प्रारम्भिक रचनाओं में बाल्य-सुलभ कौतूहल के दर्शन होते हैं जो अनायास ही व्यक्त हो गया है—

उस विकसित, वासित वन में
कुसुमों के अस्फुट अधरों पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि ! चंचल होकर पल-पल।[१]

शैली का सहज प्रवाह भी प्रगीत का अनिवार्य तत्त्व है। इस दृष्टि से पंत जी सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार हैं। सजग कलाकार होने के कारण उनके प्रगीतों की कलापूर्ण शैली में गेयता तथा अविच्छिन्न प्रवाह है। उनकी नूतन सौन्दर्य-दृष्टि अत्यन्त प्रबुद्ध थी तथा कल्पनाशक्ति भी असाधारण रूप से रमणीय तथा समृद्ध थी। इन्होंने अपने प्रगीतों को कोमल-कांत मधुर शब्दों से अलंकृत किया है जिनकी गुम्फित झंकार अत्यन्त संगीतमयी है। उनकी कविताओं में मधुर-तरल शब्द इस प्रकार जुड़े हैं कि एक भी शब्द को अपने स्थान से हटा देने पर सम्पूर्ण कविता का अखण्ड प्रवाह तथा प्रभाव बिखर जायगा —यथा

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान,

१. वीणा — सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३३।

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन।[1]

× × ×

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे हैं चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल-पल।[2]

संक्षिप्त रूपाकार का तत्त्व भी पंत जी के छायावादी प्रगीतों में सहज उपलब्ध है, क्योंकि इनमें अल्पस्थायी भावावेश की अभिव्यक्ति ही होती है। 'ग्रन्थि' को हम दीर्घ प्रगीत कह सकते हैं। इसमें भी कवि ने अपने शिल्प-कौशल से प्रभाव तथा अन्विति को खण्डित नहीं होने दिया है। इस प्रकार प्रगीत काव्य के समस्त प्रमुख तत्त्वों के सम्यक समावेश के कारण पंत जी के छायावादी काव्य में प्रगीतात्मकता असंदिग्ध है।

प्रगीत के रूप-शिल्पी की दृष्टि से छायावाद युग में पंत जी को सम्बोधन गीतियों के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास', 'वीचि विलास', 'मधुकरी', 'अनंग', 'छाया', 'शिशु', 'नारी-रूप', 'नक्षत्र', 'बादल', 'परिवर्तन' आदि कविताएँ 'गुञ्जन' की 'तप रे मधुर-मधुर मन', 'भावी पत्नी के प्रति', 'मुस्करा दी थी क्या तुम प्राण !', 'प्राण ! तुम लघु-लघु गात', 'विहग के प्रति', आदि रचनाएँ सम्बोधन गीतियाँ हैं। सम्बोधन-गीतियों के अतिरिक्त उनके काव्य में गीत, चतुर्दशपदी गीति, शोकगीति आदि प्रगीत रूपों के उदाहरण भी मिलते हैं। 'ज्योत्स्ना' के उत्कृष्ट गीत, वीणा की शोकगीति 'तिलक ! हा ! भाल तिलक ! 'गुञ्जन' की देखूँ सब उर की डाली' पल्लव की 'स्मृति', उच्छ्वास की 'बालिका के प्रति' आदि रचनाएँ चतुर्दशपदी गीति की कोटि में रखी जा सकती हैं।

छंद-योजना—'पल्लव' के 'प्रवेश' में पंत जी ने छन्द पर अत्यन्त विस्तार

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६४।
२. गुञ्जन— सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०२।

पंत जी एक सजग कलाकार हैं अतः उनके प्रगीत के मूल में स्थित भाव की अन्विति भी प्रायः खण्डित नहीं हुई है। संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना उनकी कला की विशेषता है। 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के 'उच्छ्वास', 'मौन-निमन्त्रण', 'परिवर्तन', 'नौका विहार' आदि भावपूर्ण प्रगीत इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं।

चिन्तन के बिना आत्मानुभूति का सहज उच्छलन ही प्रगीत है अर्थात् शुद्ध प्रगीत अन्तःस्फूर्त होता है, वह आत्मा का सहज उच्छ्वास होता है। कवि जब सचेत होकर काव्य-रचना करता है तब वह कला गीत बन जाता है, शुद्ध गीत नहीं रहता। छायावादी प्रगीत इस दृष्टि से कलागीत अधिक है क्योंकि इसका अन्तःस्फुरण चिन्तन, कल्पना और कला से बाधित है। फिर भी प्रारम्भिक प्रगीतों में कला के अविकसित होने के कारण अनुभूति की सहजता विद्यमान है। पंत जी की प्रारम्भिक रचनाओं में बाल्य-सुलभ कौतूहल के दर्शन होते हैं जो अनायास ही व्यक्त हो गया है—

उस विकसित, वासित वन में
कुसुमों के अस्फुट अधरों पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि ! चंचल होकर पल-पल।[1]

शैली का सहज प्रवाह भी प्रगीत का अनिवार्य तत्त्व है। इस दृष्टि से पंत जी सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार हैं। सजग कलाकार होने के कारण उनके प्रगीतों की कलापूर्ण शैली में गेयता तथा अविच्छिन्न प्रवाह है। उनकी नूतन सौन्दर्य-दृष्टि अत्यन्त प्रबुद्ध थी तथा कल्पनाशक्ति भी असाधारण रूप से रमणीय तथा समृद्ध थी। इन्होंने अपने प्रगीतों को कोमल-कांत मधुर शब्दों से अलंकृत किया है जिनकी गुम्फित झंकार अत्यन्त संगीतमयी है। उनकी कविताओं में मधुर-तरल शब्द इस प्रकार जुड़े हैं कि एक भी शब्द को अपने स्थान से हटा देने पर सम्पूर्ण कविता का अखण्ड प्रवाह तथा प्रभाव बिखर जायगा—यथा

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान,

---

१. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३३।

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन ।[1]

× × ×

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर ।

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे हैं चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल-पल ।[2]

संक्षिप्त रूपाकार का तत्त्व भी पंत जी के छायावादी प्रगीतों में सहज उपलब्ध है, क्योंकि इनमें अल्पस्थायी भावावेश की अभिव्यक्ति ही होती है। 'ग्रन्थि' को हम दीर्घ प्रगीत कह सकते हैं। इसमें भी कवि ने अपने शिल्प-कौशल से प्रभाव तथा अन्विति को खण्डित नहीं होने दिया है। इस प्रकार प्रगीत काव्य के समस्त प्रमुख तत्त्वों के सम्यक समावेश के कारण पंत जी के छायावादी काव्य में प्रगीतात्मकता असंदिग्ध है।

प्रगीत के रूप-शिल्पी की दृष्टि से छायावाद युग में पंत जी को सम्बोधन गीतियों के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास', 'वीचि विलास', 'मधुकरी', 'अनंग', 'छाया', 'शिशु', 'नारी-रूप', 'नक्षत्र', 'बादल', 'परिवर्तन' आदि कविताएँ 'गुञ्जन' की 'तप रे मधुर-मधुर मन', 'भावी पत्नी के प्रति', 'मुस्करा दी थी क्या तुम प्राण !', 'प्राण ! तुम लघु-लघु गात', 'विहग के प्रति', आदि रचनाएँ सम्बोधन गीतियाँ हैं। सम्बोधन-गीतियों के अतिरिक्त उनके काव्य में गीत, चतुर्दशपदी गीति, शोकगीति आदि प्रगीत रूपों के उदाहरण भी मिलते हैं। 'ज्योत्स्ना' के उत्कृष्ट गीत, वीणा की शोकगीति 'तिलक ! हा ! भाल तिलक ! 'गुञ्जन' की देखूँ सब उर की डाली' पल्लव की 'स्मृति', उच्छ्वास की 'बालिका के प्रति' आदि रचनाएँ चतुर्दशपदी गीति की कोटि में रखी जा सकती हैं।

छंद-योजना—'पल्लव' के 'प्रवेश' में पंत जी ने छन्द पर अत्यन्त विस्तार

---

१. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६४ ।

२. गुञ्जन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०२ ।

से अपने विचार प्रकट किये हैं, जिसकी चर्चा हम इसी अध्याय में पीछे कर चुके हैं। उनकी सुकुमार रुचि को स्वरों का संगीत प्रिय है इसलिए इन्होंने सम-मात्रिक या विषममात्रिक छन्दों में भी व्यंजनों की आवृत्ति से अधिक स्वरों की आवृत्ति पर ध्यान दिया है। स्वरों के प्रसार और संकोच के द्वारा भावों अथवा भाव चित्रों के प्रसार अथवा संकोच की व्यंजना की है। सममात्रिक छन्दों में पंत जी को १६ और १४ मात्राओं के चरण विशेष प्रिय रहे हैं। अपने छायावादी काव्य में उन्होने रोला, रूपमाला, राधिका, पीयूषवर्ष, पद्धरि, अरिल्ल, सखी इत्यादि तथा अतुकान्त छन्द का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

रोला—पंत जी की 'उच्छ्वास' और 'परिवर्तन' रचनाएँ इसी छन्द में हैं। उनके इस छन्द के प्रति विशेष मोह को देखकर डॉ० नामवर सिंह कहते हैं कि "पंत जी को 'रोला' इतना प्रिय रहा है कि 'उच्छ्वास' में एक 'रोला' फूटा तो 'परिवर्तन' में उसकी 'झड़ी' लग गयी है।"[1] परन्तु पंत जी ने इसका सर्वत्र यथावत् शास्त्रानुकूल प्रयोग न कर उसमें अपेक्षित गति-यति सम्बन्धी परिवर्तन कर उसे भावानुरूप रूपांतरित किया है। यथा—

विपुल वासना विकच। विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल। काल-कृमि-से घुस पल-पल;
तुम्हीं स्वेद सिंचित। संस्कृति के स्वर्ण-शस्य-दल
दलमल देते, वर्षो। पल बन, वांछित कृषिफल!
अये, सतत-ध्वनि-स्प। न्दित जगती का दिक् मण्डल[2]

शास्त्रीय दृष्टि से रोला छन्द चार चरणों से निर्मित मात्रिक समछन्द है, जिसमें यति का विधान ११ और १३ मात्राओं पर होता है। पंत जी ने पंच-पदी का रूप इसे दे दिया है और यति का विधान द्वितीय पंक्ति के ८ मात्राओं के बाद है, इसी प्रकार शेष चरणों में भी यति अनियमित ही है। इसके अति-रिक्त कहीं पंत ने इसे षट्पदी का रूप भी दिया है। चूँकि छन्द का अन्त भावधारा की समाप्ति पर होता है इसलिए जहाँ भाव का प्रवाह पाँच चरणों तक है वहाँ रोला छन्द पंचपदी में है और जहाँ छह चरणों तक वहाँ षट्पदी है।

१. डॉ० नामवर सिंह—छायावाद—पृ० १२० ।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२१ ।

रूपमाला—रोला और रूपमाला दोनों २४ मात्राओं के मात्रिक समछन्द हैं। रूपमाला में १४ मात्राओं का यतिक्रम रहता है। दोनों की लय एवं गति विषयक भिन्नता को स्पष्ट करते हुए पंत जी कहते हैं—"रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर आता है।"[१] वस्तुतः दोनों छन्दों में लय वैभिन्य है। पंत जी ने इसका प्रयोग कारुणिक एवं शृङ्गारिक प्रसङ्गों में किया है। क्योंकि रोला से भिन्न रूपमाला की गति मन्द-मंथर होती है।

राधिका—यह २२ मात्राओं का छन्द है जिसमें प्राचीन आचार्यों के अनुसार यतिक्रम १३ मात्राओं के बाद होता है। चरणांत में ऽऽ होता है। इसकी लयगत विशेषता के सम्बन्ध में पंत जी का मत है कि "राधिका छन्द ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग भंगियों से उठती-झुकती कोमल कण्ठ स्वरों से गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरण में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।"[२] इसका एक उदाहरण देखिए—

हे स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जन-उपवन में,
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,
उड़ मृदुल-कल्पना-पंखों में निर्जन में
चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में।

पीयूषवर्ष—यह १९ मात्राओं का द्वितीय सप्तक छन्द है जिसमें सप्तक की आवृत्ति के बाद रगण का प्रस्तार जोड़ने से चरण पूर्ण होता है। इसकी तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। पंत जी इस छन्द की लय के प्रभाव के सम्बन्ध में कहते हैं—'पीयूषवर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि में बहने वाली निर्जन तटिनी की तरह, उसके किनारे पत्र-

---

१. पल्लव—(प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६।
२. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६।
३. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६९।
४. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १७।

पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, वह छन्द भी वैधव्य वेश में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रान्त-जिह्म गति से अपन ही अश्रु जल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है। उनकी 'आँसू' रचना में इस छन्द का प्रयोग देखिए—

कल्पना में। है कसकती वेदना
अश्रु में जी। ता सिसकता। गान है,
शून्य आहों में। सुरीले। छन्द हैं।
मधुर लय का। क्या कहीं अव सान है,

इस उद्धरण में छन्द रचना दो सप्तकों के बाद रगण का प्रस्तार जोड़ने से हुई है। तीसरी, दसवीं और सत्रहवी मात्रा भी नियम के अनुसार लघु है। छन्द की गति मन्द मंथर है जिससे भाव की करुणा एवं उदासीनता मुखर हो उठी है।

अरिल्ल—यह १६ मात्राओं का छन्द है जिसके चरणान्त में यगण अनिवार्यतः नियोजित होता है। इसकी लय की चंचलता को लक्ष्य कर पंत जी कहते हैं कि "सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल-कल छल-छल करता हुआ बहता है।"[१] इस छन्द को उन्होंने बाल-साहित्य के अधिक उपयुक्त माना है।[२] उनकी प्रारम्भिक बाल-रचनाओं में इसका प्रयोग हुआ है। यथा—

यही सोचती थी शशि-बाला
सचमुच मेरे कर में है

सखी छन्द—१४ मात्राओं से यह छन्द निर्मित होता है। छायावादी कवियों ने चरणान्त के इस नियम का पालन नहीं किया है। करुण रस की अभिव्यक्ति के लिए यह छन्द उपयुक्त माना जाता है। इसके चरणान्त के विषय में पंत जी का मत है कि—"सखी छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है; अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक

१. पल्लव (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६।
२. वही, पृ० ४३।
३. वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४८।

प्रकार का स्वरभंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने में सहायता देता है।"[1] निम्न उदाहरण देखिए—

अपने ही सुख में खिन्न-खिन्न
उठते ये लघु लहरों-से,
अलि ! नाच नाच इनके संग
इनमें ही मिल-मिल जाऊँ ?

उक्त छन्द में अन्त्यानुप्रास की योजना नहीं है और प्रथम चरण के अन्त में नगण और तीसरे चरण के अन्त में भगण है। शेष दोनों सम चरणों के अन्त में यगण नियमानुकूल है।

अतुकान्त छन्द और मुक्त छन्द के भेद का स्पष्टीकरण हम 'छायावाद' के 'कलापक्ष' शीर्षक के अन्तर्गत कर आये हैं। पंत जी ने अतुकान्त छन्द का प्रयोग छायावादी काव्य में प्रचुर मात्रा मे किया है। 'ग्रन्थि' में १९ मात्राओं के 'पीयूषवर्ष' छन्द की अतुकान्त रूप-योजना है।[2] उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में जिन कविताओं को भ्रमवश 'मुक्त छन्द' में रचित बताया था उनका छन्द मुक्त न होकर नियमानुसार ही है। इस भ्रम का निराकरण निराला एवं अन्य अनेक आलोचक कर चुके हैं। अतः उसकी चर्चा पिष्टपेषण मात्र होगी। पत जी ने अपनी छायावादोत्तर रचनाओं 'ग्राम्या', 'युगवाणी' आदि में मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार उन्होंने प्रचलित छन्द-योजनाओं को भावानुरूप ढाल कर हिन्दी कविता को पिंगल-शास्त्र की रूढ़ियों से मुक्त कर स्वच्छन्द छन्द-विधान के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

कल्पना—कल्पना काव्य की रमणीयता अथवा कलागत सौन्दर्य का प्रमुख आधार है। कल्पना का उत्कर्ष छायावादी कविता की विशिष्टताओं में एक है। पंत जी के काव्य की मूल शक्ति कल्पना-शक्ति रही है। अपनी काव्य कला के अन्तर्गत कल्पना के महत्त्व को स्वीकारते हुए वे कहते हैं कि "कल्पना को मैंने विधायिनी शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। इस शक्ति का साहित्य के अतिरिक्त मेरे जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मेरे जीवन में न माँ रही, न पत्नी और न बच्चे। इन सब के अभाव की पूर्ति मैं कल्पना से ही

---

१. पल्लव (प्रवेश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४७।
२. देखिए (छायावाद के कलापक्ष में छन्द)।

करता हूँ। प्रकृति और युग-चेतना मेरी कल्पना के मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। ...'स्याही की बूँद', 'नक्षत्र', 'छाया', शीर्षक कविताएँ चमत्कार प्रदर्शन हेतु लिखी गयी हैं। इनके रूप और विशेषताओं को देखकर जो कल्पनाएँ मेरे मन में जागी है, मैंने उन्हीं को व्यक्त किया है। आलोचक इसकी व्याख्या दार्शनिक अर्थ में करें या अन्य किसी अर्थ में।"[१]

पंत जी के छायावादी काव्य में कल्पना ने भावपक्ष को तो सँवारा ही है, साथ ही, चित्र-विधान, अप्रस्तुत विधान, शब्द-योजना, छन्द-योजना, आदि कलात्मक गतिविधियों के पीछे भी उनकी प्रखर कल्पना शक्ति ने कार्य किया है। चित्र-विधान के क्षेत्र में उन्होंने प्रकृति-प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत नवीन उपमाओं का अन्वेषण एवं रूढ़िगत उपमानों का नवीनीकरण कल्पना द्वारा किया है। छन्द-योजना के क्षेत्र में भी प्राचीन छन्दों में परिवर्तन उनकी कल्पना का ही परिचायक है। भाव और कला दोनों क्षेत्रों में कल्पना की सक्रियता जितनी आलोच्य काल में रही है उतनी उत्तर काल की रचनाओं में नहीं रही है।

निष्कर्ष—पंत जी के काव्य-शिल्प विषयक उक्त दृष्टिकोण के विवेचन-विश्लेषण के आधार पर यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि इन्होंने आधुनिक हिन्दी कविता के अभिव्यंजना शिल्प के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया है। वे उत्कृष्ट कवि होने के साथ ही आलोचक की प्रतिभा से भी सम्पन्न थे। उन्होंने काव्य-शिल्प के विविध उपकरणों का सूक्ष्म-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। पूर्ववर्ती कवियों का काव्य-भाषा विषयक विवेचन केवल सरल, सुबोध एवं भावानुकूल भाषा के महत्त्व प्रतिपादन तक ही सीमित था। मनोविज्ञान के आधार पर भाषा की अन्तःप्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण पंत समान सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सम्पन्न साहित्यकार द्वारा सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार अलंकार-सम्बन्धी पूर्ववर्ती दृष्टिकोण के अनुसार अलंकार केवल भावाभिव्यक्ति के साधन मात्र थे। पंत जी ने अलंकार की इस परम्परासिद्ध मान्यता से आगे बढ़ कर उसे अलंकार्य के अभिन्न अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होने छन्द और कविता में भी अन्तरंग घनिष्ठ सम्बन्ध ढूँढ़ निकाला, साथ ही, कविता के प्राणभूत रागतत्त्व के साथ छन्द का अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित कर मनोविश्लेषणशास्त्र के आधार

१. पंत के काव्य में कल्पना का कर्तृत्व (आमुख से उद्धृत)—डॉ० बृजरानी भार्गव।

पर दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की घोषणा की। इनके द्वारा किया गया मुक्त छंद के स्वरूप का मर्मोद्घाटन भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वस्तुतः इन्होंने पूर्ववर्ती काव्य-शिल्प सम्बन्धी स्थूल स्थापनाओं की प्रतिक्रियास्वरूप काव्य-शिल्प के जिन विविध उपकरणों की सूक्ष्मताओं के विश्लेषण से सम्बद्ध जो मनोवैज्ञानिक स्थापनाएँ कीं, उनका हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व है। इस सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण के साथ ही रचनात्मक स्तर पर भी इन्होंने जिस नूतन सौन्दर्य से युक्त समृद्ध काव्य की सर्जना की वह भाव समृद्धि के साथ ही काव्य-शिल्प की दृष्टि से विशिष्ट होने के कारण हिन्दी-साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाता है।

प्रगतिवाद

प्रगतिवादी हिन्दी काव्य-धारा स्वस्थ सामाजिक भावभूमि और उच्च विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है।[1] प्रगतिशील कविता की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि मानव-जीवन का व्यापक चित्रण है। हिन्दी कविता के सम्पूर्ण इतिहास में अब तक किसी भी युग या धारा की कविता ने मनुष्य को, उसके इतिहास और भूगोल को, समाज और संस्कृति को, अर्थनीति और राजनीति को, उसकी चेतना और भावना, आशा-आकांक्षा को इतने व्यापक स्तर पर रूपायित नहीं किया।

सामान्यतः प्रगतिवाद को हिन्दी में मार्क्सवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति या साहित्य सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहते है। परन्तु 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील साहित्य' के सम्बन्ध में कुछ मतभेद दृष्टिगत होते हैं। शिवदान सिंह चौहान का प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य के अन्तर के सम्बन्ध में यह कथन है कि—"प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में भेद है, यह स्पष्ट होना ही चाहिए, अन्यथा गलत शब्दों का प्रचलन जारी रहेगा, आप कहेंगे कुछ, लोग समझेंगे कुछ। प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिक 'वाद' की मान्यता का आग्रह नहीं किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गांधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणा देता है, मनोवृत्तियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानवद्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील ही तो है।"[2] प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उनका मत है, "प्रगतिवाद साहित्य की धारा

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ॰ नामवर सिंह, पृ० ८०।

२. साहित्य की समस्याएँ—प्रगतिवाद या प्रवृत्ति निरूपण—

शिवदान सिंह चौहान, पृ० ६२।

नहीं है, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है, जैसे रस सिद्धान्त साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। अतः प्रगतिवाद को सौन्दर्यशास्त्र (एस्थेटिक) सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।'[1] स्पष्ट है कि मार्क्सवादी सौन्दर्य सिद्धान्तों को वे प्रगतिवाद मानते हैं और प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत समस्त श्रेष्ठ साहित्य को रखते हैं। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का अर्थ अधिक व्यापक है। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लगभग चौहान जी के मत के पोषक हैं। डॉ० नामवर सिंह का कथन है कि "जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। 'वाद' की अपेक्षा 'शील' को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि-विलास है और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न विरोध भाव छिपा है।"[2]

उपर्युक्त विचारकों के मतभेद में न पड़कर हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार रोमाण्टिक कविता के लिए हिन्दी में 'छायावाद' शब्द रूढ़ हो गया, उसी प्रकार 'प्रगतिवाद' भी साहित्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के लिए रूढ़ हो गया है। हिन्दी में इस कविता-धारा की स्थापना सन् १९३६ में दृष्टिगत हुई, जब इसी वर्ष लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रथम बैठक प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में सम्पन्न हुई। प्रगतिशील साहित्य का इस अधिवेशन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसका स्वरूप-निर्धारण इसी सन्दर्भ में हुआ जिसके अन्तर्गत सर्वथा नवीन लोकोन्मुखी जीवन-दृष्टि, भावबोध तथा प्रशस्त रचना-क्षेत्र को यथार्थवादी स्पर्श से अनुप्राणित करने का संकल्प लिया गया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस विचारधारा की रचनाएँ इससे पूर्व लिखी ही नहीं गयीं : लिखी गयीं, परन्तु किसी साहित्यिक संगठन या आन्दोलन के रूप में नहीं।

सन् १९३६ के पश्चात् अनेक रचनाकार प्रगतिवादी विचारों से प्रभावित हुए। यहाँ तक कि प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत भी इस नवीन कविता-धारा की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने जिस प्रकार 'पल्लव' के 'प्रवेश'

---

१. साहित्य की समस्याएँ—प्रगतिवाद या प्रवृत्ति निरूपण—
शिवदान सिंह चौहान, पृ० ५४।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ० नामवर सिंह, पृ० ५७।

के रूप में 'छायावाद' का घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया था उसी प्रकार सन् १६३८ में 'रूपाभ' मासिक पत्रिका के सम्पादकीय में एक प्रकार से प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने कवियों को कल्पना-लोक से निकलकर यथार्थ जीवन के संघर्ष को कविता का विषय बनाने के लिए कहा।[१] प्रगतिवाद के प्रमुख कवियों में नागार्जुन, शिवमङ्गल सिंह 'सुमन', केदारनाथ, रामविलास, गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, त्रिलोचन, रांगेय राघव, भारतभूषण अग्रवाल इत्यादि हैं। निराला, पंत, अंचल, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा आदि की भी कतिपय रचनाएँ प्रगतिवाद के अन्तर्गत आती हैं। पंत जी प्रारम्भ में इस दिशा की ओर अग्रसर अवश्य हुए परन्तु प्रगतिवादी भौतिकता का अधिक दूर तक साथ न दे सके। क्योंकि किसी भी एकांगी विचारधारा के प्रति वह अपनी पक्षधरता स्थिर नहीं करना चाहते। दूसरे, भौतिकवाद का सिद्धान्त उपयोगी होते हुए भी उन्हें अपूर्ण लगा। उनकी इस विचारधारा का विशद विवेचन हम पंत के प्रगतिवादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य शीर्षकान्तर्गत करेंगे।

प्रगतिवाद की मार्क्सवादी चेतना एवं उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने से पूर्व हम यह स्पष्ट कर लें कि किस विशिष्ट पृष्ठभूमि में इस काव्य-धारा ने अपना स्वरूप ग्रहण किया। "आधुनिक भारतीय साहित्य का विकास पुनरुत्थान और नवजागरण की पृष्ठभूमि में हुआ है। मध्य-काल में भक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के लिए सामान्य पृष्ठभूमि का जो काम किया था वहीं आधुनिक काल में पुनरुत्थान और नवजागरण से सम्भव हुआ है। मध्यकाल में भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा था और आधुनिक काल में राष्ट्रीयता का। पुनरुत्थान, नवजागरण और राष्ट्रीयता में तीनों परस्पर

---

१. इस युग की आवश्यकता ने जैसा रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गयी है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं मिल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।

पंत का सम्पादकीय—रूपाभ, १६३८, वर्ष १, अंक १।

पूरक हैं और एक के अनुबन्ध में ही दूसरे का स्पष्टीकरण सम्भव है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर, पुनरुत्थान में धर्म, नवजागरण में संस्कृति और राष्ट्रीयता में आर्थिक-सामाजिक प्रगति पर अधिक बल दिया जाता है।"[1] भारतीय साहित्य का प्रगतिशील आन्दोलन वास्तव में भारतीय जनता के सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक मुक्ति आन्दोलन का ही अंग है। प्रगतिवादी काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के रूप में लगभग वही तत्त्व सक्रिय थे जो भारतीय नवजागरण आन्दोलन एवं पुनरुत्थानवादी आन्दोलन में सक्रिय थे। नवजागरण आन्दोलन के प्रतिनिधि राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रानाडे, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा जवाहरलाल नेहरू थे और पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के नेता विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक और महात्मा गांधी थे। पृष्ठभूमि के रूप में सांस्कृतिक परिस्थिति का विशद विवेचन 'छायावाद' के सन्दर्भ में पीछे कर आये हैं, इसलिए पुनः उसका विवेचन पुनरावृत्ति होगी। यहाँ हम प्रगतिवादी काव्य की आर्थिक-सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों पर पृष्ठभूमि के अनन्तर दृष्टिपात करेंगे।

आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति—उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते भारत के सामाजिक जीवन में एक नये वर्ग—भारतीय औद्योगिक पूँजीपति वर्ग—का विकास होने लगा था। ब्रिटिश सरकार ने यद्यपि अपने पूरे शासनकाल में निरन्तर यह प्रयत्न किया कि बिना औद्योगीकरण किये ही भारत का शोषण किया जा सके, पर शोषण की प्रक्रिया में ही अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मकता के कारण, वह औद्योगीकरण की प्रक्रिया को और उसके साथ आने वाले महान् सामाजिक परिवर्तनों को रोक नहीं सकी।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद अपने भीषण रूप में इस युग में प्रकट हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में भारतीय समाज पूर्णतया उद्वेलित एवं आक्रान्त हो उठा था। धनी एवं निर्धन के बीच का अन्तर दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। दोनों के बीच घृणा एवं तज्जनित हिंसा-प्रतिहिंसा का भाव भी जोर पकड़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में लोगों को यह आभास हुआ कि परम्परा का अन्धपोषण अन्ततः रूढ़ियों के रूप में प्रतिफलित होता है, समाज की संकीर्णता, रूढ़ियों के तिरस्कार तथा उनके दूरवर्ती प्रभावों के विश्लेषण से यह तथ्य भी सामने

---

१. छायावादोत्तर काव्य—सिद्धेश्वर प्रसाद, पृ० २७।

आया कि गलित सामाजिक मान्यताएँ साधारण मनुष्य की नियति पर प्रश्न-चिह्न लगा देती हैं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार इन सामाजिक-आर्थिक विषमताओं का प्रतिफलन मालिक एवं मजदूर में होना चाहिए परन्तु यहाँ तो समाज का उत्पादक वर्ग दिनोंदिन निरीह एवं विपन्न होता जा रहा था। परिवेश में व्याप्त इन अन्तर्विरोधों को प्रगतिवादी काव्य की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के रूप में निरूपित किया जा सकता है।

इसी समय विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप हुए मशीनीकरण से भारतीय समाज प्रभावित हुआ जिसके अनन्तर मनुष्य के श्रम की सम्भावनाएँ कम हो गयीं और बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई तथा उद्योगों के एकाधिपत्य के कारण मालिक-मजदूर सम्बन्धों में वैषम्य बढ़ा और वर्ग-संघर्ष दिनोंदिन उग्र होता गया। इस प्रकार बेकारी, महँगाई और पूँजी के एकाधिपत्य के परिणामस्वरूप भारत का अर्थ-तंत्र विच्छिन्न हो गया। सामाजिक असमानता द्वारा उत्पन्न आक्रोश तत्कालीन समाज में किसान एवं मजदूरों द्वारा किये गये विरोधों, विभिन्न आन्दोलनों एवं हड़तालों में स्पष्ट देखा जाता है। यह प्रदर्शन संगठित और असंगठित दोनों रूपों में हुआ। १९२६-२८ के बीच बम्बई, बंगाल, पंजाब और संयुक्त प्रान्त में मजदूर-किसान पार्टियाँ बनायी गयीं। बंगाल की श्रमिक स्वराज्य पार्टी जिसके नेता प्रसिद्ध कवि काजी नजरुल इस्लाम थे, १ नवम्बर, सन् १९२५ के दिन बनायी गयी और ५ फरवरी, २६ को उसे बंगाल-किसान-मजदूर पार्टी का रूप दे दिया गया। वह भारत की पहली मजदूर-किसान पार्टी थी। बम्बई की मजदूर-किसान पार्टी मार्च २७ में मिरजकर के मन्त्रित्व में बनी। पंजाब की किरती-किसान पार्टी भी २७ में ही पुरानी गदर पार्टी के सदस्यों के साथ मिलकर बनायी गयी, इसके निर्माण में सोहन सिंह जोशी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इधर संयुक्त प्रान्त में भी पूरनचन्द जोशी के नेतृत्व में एक मजदूर-किसान पार्टी बनायी गयी। इन प्रान्तीय संगठनों ने दिसम्बर २८ में अपना अखिल भारतीय अधिवेशन किया और अखिल भारतीय मजदूर-किसान पार्टी का निर्माण किया।[1]

मध्यकालीन भारतीय समाज की धार्मिक कट्टरता एवं रूढ़िवादिता भी इस युग में परिवर्तित दृष्टिकोण द्वारा अभिव्यक्त हुई। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन

१. सोवियत एकेडेमी आफ साइन्सेज : कण्टेम्पेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया, भूमिका पृ० ३।

पर स्पष्ट ही मार्क्स का प्रभाव लक्षित होता जिसने रहस्य की आध्यात्मिक अनुभूति के स्थान पर भौतिकता की यथार्थानुभूति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। यह प्रभाव केवल भारतीय साहित्य पर ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य पर लक्षित हुआ, क्योंकि आर्थिक-सामाजिक वैषम्य की समस्या कमोबेश रूप में विश्व की समस्या थी, तभी मार्क्स ने अपने भौतिकतावादी सिद्धान्त का निरूपण किया। धर्म की कट्टरता, रूढ़ियों, रीतियों का उसने विरोध किया। इस सन्दर्भ में एक रुचिकर उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मार्क्सवादियों के सर्वाधिक प्रिय लेखक मैक्सिम गोर्की के विश्वप्रसिद्ध 'माँ' शीर्षक उपन्यास में क्रांतिकारी नायक पवेल रूढ़िवादी ईश्वर का विरोध करता है तो प्राचीन पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाली माँ कहती है—"परन्तु मुझ बुढ़िया से अगर तुम मेरा ईश्वर भी छीन लोगे तो फिर मेरे पास मुसीबत के लिये क्या सहारा रह जायगा।" इस पर पवेल उत्तर देता है—"माँ ? मैं उस अच्छे और कृपालु ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कह रहा था, जिस पर तुम विश्वास करती हो। मैं तो उस ईश्वर के बारे में कह रहा था, जिसके नाम पर धार्मिक लोग हमारे हृदयों में भूत का हौवा पैदा करते हैं, जिसके नाम का दुरुपयोग करके हम सब को थोड़े-से आदमियों की कुत्सित इच्छाओं का दास बनाने का प्रयत्न किया जाता है।" इस पर किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास का दूसरा पात्र राइबिन कहता है—"हाँ, बिल्कुल ठीक कहा। उन्होंने हमारे ईश्वर को भी विकृत कर दिया है। जो कुछ उनके हाथ में आता है उसका ही वे विरुद्ध उपयोग करते हैं।...... गिरजों में भी हम लोगों को डराने का स्वाँग रचा जाता है। शायद हम लोगों को अपना ईश्वर भी बदलना पड़ेगा, हमको अपना ईश्वर भी स्वच्छ करना होगा।"[१] गोर्की का आशय कुरीतियों एवं रूढ़ियों से आच्छादित ईश्वर एवं यथार्थ ईश्वर में अन्तर स्पष्ट कर समाज को कुरीतियों से मुक्त कर लोकमांगलिक निर्मल धर्म की स्थापना का संकेत करना है। यह संकेत विश्व समाज के लिए हितकर है। भारतीय साहित्य में भी २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म एवं बाह्याचार के स्वरूप में परिवर्तन लक्षित हुआ।

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी, पृ० ७९-८०।

राजनीतिक परिस्थिति—१६१७ की रूसी क्रांति का प्रभाव भारतीय राजनीति पर निश्चित रूप से पड़ा। विश्व के अनेक देश यूरोपीय राष्ट्रों के उपनिवेश थे और वहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आंदोलन शुरू हो चुका था। उदारतावादी राजनीति की देख-रेख में उनका किसी-न-किसी रूप में विकास हो रहा था जिसके कारण उपनिवेशों में शासकों के प्रति राजभक्ति की भावना भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। लेकिन इस राजभक्ति का पुरस्कार भारतीयों को जलियाँवाला बाग के गोलीकाण्ड के रूप में मिला। अब अंग्रेजी साम्राज्य-वाद का असली खूँखार रूप प्रकट हुआ।[1] सन् १६३४ ई० में कांग्रेस के भीतर समाजवादी दल की स्थापना हुई जो सन् १६४८ में कांग्रेस से अलग हो गया। देश के किसानों और मजदूरों में भी जान आयी। बारडोली सत्याग्रह से किसानों की जागृति का परिचय मिला। (सन् १६२८) साइमन कमीशन का मजदूरों ने अभूतपूर्व संगठित ढंग से विरोध किया। ऐसी स्थिति में सन् १६३१ ई० के कराची सम्मेलन में किसानों और मजदूरों के अधिकारों को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। इससे स्पष्ट है कि जब साम्राज्यवाद अपने अन्तर्विरोधों के कारण जीर्ण-शीर्ण हो चला था तब उनके दमनचक्र के नीचे दबे उपनिवेशों में राष्ट्रीयता अपने पंख फैलाकर उड़ने के लिए प्रयत्नशील थी। तत्कालीन साहित्य में इस राष्ट्रीय चेतना की छाया दृष्टिगोचर हुई। इसी समय साम्यवादी दल के उदय के कारण सामान्य जनता में भी राजनीति का प्रवेश हुआ और राजनीति अब केवल बड़े लोगों की ही वस्तु न रह गयी। इसके फलस्वरूप वर्ग-विशेष के हितों के पोषण की संभावना कम हो गयी एवं शोषक वर्ग की कटु आलोचना साहित्य में भी प्रतिफलित हुई। एक सामूहिक राजनीतिक चेतना का उदय इस युग में हुआ जिसके अन्तर्गत समष्टिगत हितों की भावना पर जोर दिया गया। मनुष्य की दृष्टि महलों से हट कर झोपड़ियों की असख्य निरीह आत्माओं की ओर गयी।

भारत की इस राजनीतिक क्रान्ति की शक्ति के पीछे अनेक उग्र क्रांतिकारी व्यक्तित्व कार्यरत थे, समाजवादी और प्रगतिशील क्रांतिकारी विचारों के प्रचार में भगतसिंह और उनके साथियों द्वारा बनायी "नौजवान भारत सभा" ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जो कि उन्होंने अपने गुप्त क्रान्तिकारी दल के साथ

---

१. ग्लिम्सेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री—जवाहरलाल नेहरू, पृ० ८२६।

ही उसके सार्वजनिक आधार के रूप में प्रकट संगठन के तौर पर बनायी थी। यह सभा मजदूर-किसान पार्टियों के मूल सिद्धान्तों और कार्यक्रमों को तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन के अन्तिम उद्देश्य को स्वीकार करती थी। इसका महत्त्वपूर्ण काम कांग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना कर जनता को उग्र राजनीतिक कार्यक्रम की प्रेरणा देना और जनता में क्रांतिकारी आंदोलन के लिए सहानुभूति उत्पन्न करना था। १९२८ में इस सभा ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि जनता की व्यापक क्रान्ति ही भारत को साम्राज्यवादी पंजों से मुक्ति दिला सकती है। १९२९ के अन्त में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। गांधी जी ने जवाहरलाल को इसका अध्यक्ष बनाया। इस अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता के लिए फिर से सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का फैसला और २६ जनवरी, १९३० को पूरे देश में पूर्ण स्वराज्य दिवस मनाने का निश्चय किया गया। २६ जनवरी को सारे देश में प्रदर्शन हुए और स्वाधीनता का घोषणा-पत्र पढ़ा गया। ३० जनवरी को गांधी जी ने वाइसराय के सामने ग्यारह शर्तें रखीं और लिखा कि यदि उन्हें मान लिया जाय तो आन्दोलन रोक दिया जायगा। इन शर्तों में मद्य-निषेध, रुपये की विनिमय दर को घटा कर एक शिलिंग चार पेंस पर निश्चित करना, नमक कर की समाप्ति, लगान, सैनिक व्यय और सिविल सर्विस के वेतनों में आधी कटौती, विदेशी कपड़े के आयात पर कर आदि बातें थीं। इस आंदोलन के अन्तर्गत गांधी जी गिरफ्तार हुए परन्तु आंदोलन में कोई रुकावट नहीं आयी। ८ मई को एक प्रदर्शन को रोकने के लिए पुलिस ने शोलापुर में गोली चलायी। उत्तर में वहाँ के मजदूरों ने शहर पर कब्जा कर लिया और सात दिन तक कब्जा रखा। इस आन्दोलन में मजदूरों, किसानों और साधारण मध्यम वर्गीय जनता के अतिरिक्त स्त्रियों ने भी जोर-शोर से भाग लिया। २६ जनवरी, १९३१ के दिन गांधी जी और कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों को बिना शर्त रिहा कर दिया गया ताकि समझौते का कोई रास्ता निकल आये। ५ मार्च को गांधी जी और लार्ड इरविन के बीच समझौता हो गया और आन्दोलन रोक दिया गया, यद्यपि जिन उद्देश्यों के लिए आंदोलन शुरू किया गया था उनमें से कोई भी पूरा न हुआ। देश के सम्मुख रूस की सामाजिक विजय एवं विधान का आकर्षक उदाहरण प्रत्यक्ष था। इस प्रकार तत्कालीन भारतीय राजनीति के संदर्भ में प्रगतिवादी साहित्य ने अपना स्वरूप ग्रहण किया। प्रगतिवादी आन्दोलन के जन्म के समय जहाँ एक ओर राज-

नीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता का आन्दोलन प्रबल हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक नवजागरण की धारा भी तीव्रतर होती जा रही थी। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल इस नवजागरण के प्रमुख व्याख्याता थे। इस नवीन जागरण ने और उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति ने आने वाले प्रगतिशील आंदोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसी प्रकार निर्मित की जिस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन ने उसकी आर्थिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि निर्मित की।

साहित्यिक परिस्थिति—भारतीय क्रांतिकारियों के इस मुक्ति-आंदोलन का प्रभाव हिन्दी साहित्य के उस युग पर जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं, पड़ना प्रारम्भ हो गया था। वास्तव में इस प्रभाव द्वारा साहित्य में हुए परिवर्तनों के कारण ही इस काल को मध्य युग से पृथक् कर हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया गया। इस काल के साहित्य में देश की सामाजिक, आर्थिक दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ का स्वर अधिकाधिक मुखरित हुआ और जीवन की यथार्थ स्थितियाँ साहित्य में प्रतिफलित हुईं। इस युग का अधिकांश साहित्य जनता की ओर उन्मुख होकर लिखा गया। द्विवेदी-युग में राष्ट्र-भावना, समाज-सेवा, सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों में परिष्कार तथा जीवन के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ। आर्य-समाज और गांधीवादी विचारधारा ने भी इस युग के साहित्य को प्रभावित किया। इन सभी आन्दोलनों ने प्रगतिवादी साहित्य को पृष्ठभूमि प्रदान की। साहित्य की सोद्देश्यता और सामाजिक उपयोगिता पर बल दिया। रीतिकाल की उद्दाम-शृंगारिकता की सबसे प्रबल प्रतिक्रिया भी इस युग में ही हुई। गुप्त-काव्य ने हिन्दू-नवजागरण को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की। उनके राम (साकेत) इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने के लिए अवतरित हुए। उनकी यह नवीन परिष्कृत विचारधारा प्रगतिशील आंदोलन की पृष्ठभूमि निर्मित करने में सहायक हुई। प्रसाद, प्रेमचन्द, शुक्ल आदि ने भी साहित्य में प्रगतिशील तत्त्वों को समावेश कर पृष्ठभूमि प्रदान की।

छायावाद की परिसीमाएँ जिसके अन्तर्गत अतिशय कल्पनाशीलता, अमूर्तता, दुरूहता, पलायन एवं निराशा की भावनाएँ हैं—आदि की प्रतिक्रिया ने भी प्रगतिवादी आंदोलन के जन्म में योगदान दिया। इस प्रकार छायावाद ने भी कुछ अंश तक प्रगतिवाद को साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रदान की। यह तथ्य द्रष्टव्य

है कि प्रगतिवादी काव्य के प्रमुख कवियों में पंत और निराला छायावादी ही थे। प्रगतिशील कविता को साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रदान करने में सर्वाधिक योगदान रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रेमचन्द के साहित्य को है। शुक्ल जी की लोक-मङ्गल की साधनावस्था पर जोर देने की प्रवृत्ति ने साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन के लिए मार्ग प्रशस्त किया।[1] शुक्ल जी का जीवन की सम्पूर्णता पर आग्रह था। वे उन सभी सिद्धान्तों का विरोध करते हैं जो जीवन के किसी एक ही अंग या पक्ष को असंतुलित महत्त्व देने लगते हैं। अन्याय को चुपचाप सहने या उसका अहिंसक प्रतिरोध करने की तालस्ताय या गांधीवादी नीति का उन्होंने जगह-जगह विरोध किया है। उनके अनुसार मनुष्य शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर दोनों पक्ष है और सदैव रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता तभी व्यक्त होगी जब वह इन दोनों पक्षों के बीच से मंगल या सौन्दर्य का विधान करे।[2] प्रगतिशील आंदोलन का केन्द्र-बिन्दु साहित्य और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध में है। इसका इतने सशक्त शब्दों में प्रतिपादन हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी ने किया। छायावाद की आलोचना करके भी उन्होने प्रगतिवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रेमचन्द के साहित्य ने हिन्दी के प्रगतिशील आंदोलन का नेतृत्व किया (गोदान, १९३६)। वैसे उनका साहित्य आने वाले प्रगतिशील आदोलन की सुदृढ़ पीठिका बहुत पहले ही तैयार कर रहा था—सेवासदन (१९१६), प्रेमाश्रम (१९२२)। उन पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव रूसी क्रांति के बाद ही पड़ने लगा था। समाजवाद की स्थापना भी सबसे पहले रूस में ही हुई। स्वभावत: रूस मार्क्स-दर्शन का जीवन्त प्रतीक बन गया। सन् १९१७ के पूर्व जो मार्क्स-दर्शन की ओर से उदासीन थे, वे भी अब उसकी शक्ति के कारण उस ओर आकृष्ट हुए। विभिन्न देशों की साहित्य-धाराओं पर विभिन्न रूपों में मार्क्स-दर्शन का प्रभाव गहनतर होता गया। चूँकि मार्क्स-दर्शन क्रांति के संगठित प्रयास का दर्शन है इसलिए साहित्य के क्षेत्र में भी इसने संगठित आंदोलन को बल दिया। समाजवादी क्रांति के लिए लेनिन के नेतृत्व में कार्यकर्ताओं और आन्दोलनकर्ताओं के साथ-साथ कवि और लेखक भी संगठित रूप

---

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ० नामवर सिंह, पृ० ६१।

२. चिन्तामणि, भाग १ – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२१।

में कार्य कर रहे थे। इस काल के लेखकों में गोर्की (१८६२-१९३६) का नाम आज भी आदरपूर्वक लिया जाता है और उन्हें 'रूस का प्रेमचन्द' भी कहा जाता है। सोवियत लेखकों का व्यवस्थित संगठन क्रान्ति के कई वर्ष पश्चात् कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के २३ अप्रैल, १९३२ के प्रस्ताव के आधार पर हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार गठित सोवियत-लेखक-संघ का पहला अधिवेशन सन् १९३४ में गोर्की की अध्यक्षता में हुआ। गोर्की के ही निर्देश में इस अधिवेशन ने समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।

हिन्दी-क्षेत्र में प्रगतिवादी आन्दोलन की भूमिका निर्मित करने में प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में निकलने वाले 'जागरण' और 'हंस' (१९३० काशी) पत्रिकाएँ तथा 'विशाल भारत' (कलकत्ता), रूपाभ (कालाकाँकर) का भी अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ। 'रूपाभ' का प्रकाशन सुमित्रानन्दन पंत एवं नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में प्रगतिवाद को ही ध्यान में रखकर किया गया था, परन्तु कुछ समय पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया। 'जागरण' मई १९३४ तक प्रकाशित हुआ। इस प्रकार १९३५ तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-क्षेत्र की साहित्यिक परिस्थितियाँ प्रगतिवादी आन्दोलन के जन्म के अनुकूल हो गयी थीं।

सोवियत लेखक संघ के उपर्युक्त अधिवेशन का तात्कालिक प्रभाव रूस के बाहर के लेखकों पर हुआ और प्रगतिशील लेखक संघ (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन) के नाम से एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनायी गयी। इसका प्रथम अधिवेशन सन् १९३५ में पेरिस में प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में हुआ। अप्रैल, १९३६ में डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के प्रयत्न से अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तथा प्रेमचन्द के सभापतित्व में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमें भारतीय भाषाओं और विशेषकर हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन तीव्र गति से चल पड़ा और साहित्य पर प्रगतिशील दृष्टि से विचार-विमर्श जोरों से होने लगा। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में दिसम्बर, १९३८ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में हुआ। (अस्वस्थता के कारण वे आ नहीं सके, उनका वक्तव्य अधिवेशन में रख दिया गया) इस अधिवेशन में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया, जिसमें भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति देना और

साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके जनता में क्रांति की भावना का विकास करना, प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्त्तव्य बताया गया। दूसरे, इसके बाद हिन्दी में 'हंस' और 'नया साहित्य' के सहारे आन्दोलन आगे बढ़ा।[1] प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के कारण इसने आन्दोलन का रूप ले लिया और आरम्भिक वर्षों में इसे समस्त देश के लेखकों का समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार 'वाद' के रूप में प्रगतिवाद का हिन्दी साहित्य में प्रवेश सन् १९३६ से मान सकते हैं।

हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन सितम्बर, १९४७ में इलाहाबाद में राहुल जी की अध्यक्षता में हुआ। इस सम्मेलन में प्रगतिशील लेखकों ने नयी राष्ट्रीय सरकार का स्वागत किया और सांस्कृतिक निर्माण और साम्प्रदायिकता की आग को बुझाने में उसके साथ सहयोग का निश्चय किया। सम्मेलन के प्रस्तावों में लेखकों के अधिकारों की माँग की गयी, सरकारी सेंसर की गलत नीति का तथा मालाबार तथा तिरवांकुर में प्रगतिशील साहित्यकारों के दमन का विरोध किया गया तथा देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले ब्रिटिश सरकार के राजबन्दियों की रिहाई की माँग की गयी।[2]

हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों का दूसरा अधिवेशन दिसम्बर, १९५७ में इलाहाबाद में हुआ। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का चौथा सम्मेलन सन् १९४९ में भिवंडी, बम्बई में हुआ। डॉ० रामविलास शर्मा इसके सचिव निर्वाचित हुए। इस अधिवेशन के पश्चात् संघ में विघटन की स्थिति उत्पन्न होने लगी। सन् ५१-५२ में इसके पुनर्गठन पर विचार-विमर्श हुए और पाँचवाँ अधिवेशन १९५३ में दिल्ली में कृशनचन्दर के नेतृत्व में हुआ। इसके पश्चात् इस संघ ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह है नई दिल्ली में दिसम्बर, १९५६ में एशियाई लेखकों का सम्मेलन जिसमें बर्मा, श्रीलंका, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, नेपाल, पाकिस्तान, सीरिया, सोवियत संघ, हिन्द-चीन आदि के लेखकों ने भाग लिया।

इस प्रकार इन साहित्यिक गतिविधियों और परिस्थितियों ने प्रगतिवादी साहित्य को साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रदान की और इन समस्त सामाजिक,

---

१. प्रगतिवादी समीक्षा—रामप्रसाद त्रिवेदी, पृ० १०४।

२. 'हंस—अक्टूबर, १९४७, पृ० ६६।

आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों के मध्य साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में हिन्दी कविता की प्रगतिवादी धारा आरम्भ एवं विकसित हुई।

प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवादी कविता में विभिन्न रुचियों के कवियों की रचनाओं में विषय-वस्तु, शिल्प, रूप-रङ्ग आदि की दृष्टि से वैविध्य के दर्शन होते हैं। एक ओर पंत की चिन्तनशीलता है तो दूसरी ओर निराला का व्यग्य-विद्रूप, इसके अतिरिक्त दिनकर की कविता में आवेग, नवीन में आक्रोश, भवानीप्रसाद मिश्र में स्नेहपूर्ण सहजता, नागार्जुन में उद्दाम वर्ग-संघर्ष, मुक्तिबोध मे गहन अन्त-र्सङ्घर्ष, नीरज में मांसल रूमानियत के दर्शन होते हैं। इस वैविध्य के होते हुए भी सभी प्रगतिवादी कवियों का लक्ष्य एक ही था—मानव जीवन का व्यापक चित्रण करते हुए यथार्थ की प्रतिष्ठा करना जिसके लिए उन्होने अपने समय की वास्तविकता को उसकी सम्पूर्णता के साथ यथातथ्य चित्रित करने का प्रयास किया है। साधारणतया जो भी साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में समर्थ होता है उसे प्रगतिशील या प्रगतिवादो साहित्य कहा जा सकता है। इस दृष्टि से तो तुलसीदास, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि को भी हम प्रगतिशील कवि कह सकते हैं। परन्तु प्रगतिवाद के अन्तर्गत जो कि हिन्दी साहित्य में एक साहित्यिक धारा का रूढ़ शब्द है वह साहित्य आता है जो मार्क्सवादी विचारधाराओं का अनुसरण करता हुआ जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करने में समर्थ हो। छायावाद के पश्चात् कवियों की विचार-धारा में परिवर्तन के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि किस प्रकार सहायक हुई, इसका उल्लेख हम पीछे कर आये है। अब हम इस काल की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को भी देख लें।

मानव-जीवन का व्यापक चित्रण—मार्क्सवादी प्रगतिशील विचारों ने मानवता की असीम शक्ति के प्रति आस्था एवं उसकी सर्वोपरिता स्थापित की है।[1] इन कवियों ने किसी महापुरुष या अवतार को अपनी कविता का विषय बनाने के बजाय साधारण जन को अपना प्रमुख विषय बनाया है जिसे कविता के

१. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी, पृ० ७१।

सिंहासन पर पहले कभी इतना सम्मान नहीं मिला। वीरगाथा-काव्य और रीतिकाव्य के कवियों ने सामंत वर्ग को ही अपना नैवेद्य चढ़ाया। भक्तिकाव्य में भगवान् एवं उनकी लीला का गुणगान ही प्रमुख विषय था। यदा-कदा जो साधारण जन के प्रति अभिव्यक्ति हुई भी तो उसके पीछे मानवीय दृष्टि की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रेरणा ही अधिक थी। द्विवेदी-युग में भी साधारण जन के प्रति करुणा और सहानुभूति की भावना अधिक थी। प्रगतिवादी कविता ने ही साधारण-जन के संघर्ष को अपना संघर्ष बनाया। उसने वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना को लक्ष्य बना कर वर्ग-संघर्ष को अभिव्यक्ति दी। पूँजीवादी-व्यवस्था समाज में अशान्ति, उत्पीड़न, शोषण और अन्याय को जन्म देती है। प्रगतिवादी किसान, मजदूर आदि निम्नवर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाता हुआ पूँजीवाद के प्रति विद्रोह की भावना जगाता है। वह निम्न वर्गों को उच्च वर्गों के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए प्रोत्साहित करता है तथा शोषित, पीड़ित एवं दलित-वर्ग पर होने वाले अत्याचारों का तीव्र विरोध करता हुआ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने का प्रयत्न करता है।[१]

यह संघर्षी, क्रांतिकारी मानववाद प्रगतिवादी कविता की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। वह शोषण एवं उत्पीड़न का अन्त करने के लिए वर्ग-संघर्ष को उत्तेजना देता है। शोषित कृषकों एवं श्रमिकों के जीवन में वर्ग-चेतना को जागृत करके वह उन्हें त्याग और बलिदान के लिए प्रेरित करता है। अहिंसा की बजाय वह क्रांति का पुजारी है तथा पूँजीपतियों की शोषक नीतियों के विरुद्ध इस कविता ने विद्रोह की भावना जागृत की। क्योंकि वे क्रान्ति द्वारा समाज की आर्थिक विषमता पर आधारित पुरानी व्यवस्था को समूल नष्ट करने के पक्ष में हैं। उसका मानववाद अब तक के मानववादों से पर्याप्त भिन्न आधारों पर खड़ा है। वह भावना पर कम चेतना पर अधिक आधारित है। आँसू के बजाय आक्रोश व्यक्त करता है और सहानुभूति की बजाय संघर्ष की प्रेरणा देता है। प्रगतिवादी कलाकार मानवता की असीम शक्ति की महत्ता को सर्वोपरि घोषित करता हुआ मानव को ही इस जग की सुन्दरतम कृति स्वीकार करता है—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम

---

१. हिन्दी साहित्य और प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० गोविन्दराम शर्मा, पृ० ३५२।

निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम
यौवन ज्वाला में वेष्टित तन
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अंग
न्यौछावर जिस पर निखिल प्रकृति
छाया प्रकाश के रूप रंग[१]

मानव-जीवन के व्यापक चित्रण के निमित्त ही प्रगतिवादी कविता ने कला को कला के लिए न अपनाकर जीवन के लिए अपनाया है क्योंकि उसने साहित्य को जनवादी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति का साधन माना है तथा साहित्य और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार किया है। वैसे यह सम्बन्ध तो शाश्वत सम्बन्ध है, परन्तु इतने व्यापक स्तर पर इसका रूपायन प्रगतिवादी कविता ने ही किया।

यथार्थ की प्रतिष्ठा—प्रगतिवादी कविता में यथार्थ को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। इससे पहले कविता कल्पना, भावना और आदर्श-लोक का विचरण कर रही थी। इस काल की कविता ने प्रथम बार ठोस यथार्थ का परिचय कराते हुए जीवन का अति निकट से स्पर्श कराया। सभी क्षेत्रों में यथार्थ का अंकन इस कविता ने किया। यथार्थ को व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वस्थ मन से देखते हुए उसके गहन चित्र प्रस्तुत किये। सामाजिक, मानसिक, प्राकृतिक आदि क्षेत्रों के विभिन्न रूपों एवं पक्षों को यथार्थ फलक प्रदान किया है।

प्रगतिशील साहित्यकार भव्य, महान् और आदर्श की ओर आकृष्ट न होकर कुरूप, कुत्सित, पतित एवं कठोर सत्य का चित्रण करता है। वह ताजमहल की भव्य, कलापूर्ण दीवारों के भीतर भी उन्हें खड़ी करने वाले श्रमिक-वर्ग का हाहाकार सुनता है। धर्म के संरक्षक पूँजीपतियों द्वारा स्थापित मन्दिरों के गगनचुम्बी कलशों में भी वह खून और पसीना एक कर देने वाले मजदूरों के नैराश्यपूर्ण जीवन की असफलताओं को प्रतिबिम्बित देखता है। वह अपने पाठक को भुलावा देकर जीवन के उस पार न ले जाकर, जीवन की कठोर सत्यता से उसे परिचित कराना चाहता है।[२] सामाजिक यथार्थ का

१. युगान्त (मानव)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५५।
२. हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० गोविन्दराम शर्मा, पृ० ३६१।

चित्रण एक तो समसामयिक यथार्थ के सामान्य रूपों को अभिव्यक्ति के रूप में हुआ और दूसरे विशिष्ट समसामयिक परिस्थितियों के प्रति सजगता के रूप में। सामान्य रूपों के अन्तर्गत ग्राम्य जीवन, किसान एवं नागरिक जीवन, नारी, पूँजीपति वर्ग, मध्यवर्ग आदि के यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। पंत जी ने 'ग्राम्या' में ग्राम्य जीवन के व्यापक चित्र प्रस्तुत किये हैं। यहाँ संध्या के बाद गाँव का एक चित्र प्रस्तुत है—

लौटे खग गायें घर लौटीं, लौटे कृषक श्रांत-श्लथ डग धर
छिपे गृहों में म्लान चराचर, छाया भी हो गयी अगोचर
लौटे पैंठ के व्यापारी भी जाते घर उस नाव पर
ऊँटों घोड़ों के संग बैठे खाली बोरों पर हुक्का भर
बिरहा गाते गाड़ी वाले भूँक-भूँक कर लड़ते कूकर
हुआँ-हुआँ करते सियार देते विषण्ण निशिवेला को स्वर[१]

प्रगतिवादी कविता ने ग्राम्य-जीवन के यथार्थ चित्र खींचे हैं। एक ओर ग्रामीण जीवन की कुत्सा एवं विषाद[२] के चित्र हैं तो दूसरी ओर उनकी उन्मुक्तता और मस्ती के भी चित्र हैं।[3] यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति के कारण ही इन कवियों की दृष्टि जीवन के उस उपेक्षित पक्ष की ओर भी गयी जो कविता से अछूता था। 'भैंसागाड़ी', 'ट्राम', 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', 'गर्म पकौड़ी', 'महँगू महँगा रहा' आदि हिन्दी कविता में नये शीर्षक हैं। लेकिन यह परिवर्तन अपूर्ण होता यदि पुराने और परिचित शीर्षक नवीन रूप में उपस्थित नहीं किये जाते।......हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, मिलन-विरह, जन्म-मरण, प्रकृति के विविध रूप, स्त्री-पुरुष के विविध सम्बन्ध, राष्ट्रों के उत्थान-पतन, मानव मन के नाना मनोविकार—ये कविता के बड़े पुराने विषय हैं परन्तु आज भी ये बिल्कुल नये प्रतीत होते हैं। नवीनता जितनी वस्तु में होती

१. ग्राम्या (संध्या के बाद)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६७।
२. नवीन जी की कविता 'आज क्रांति का शंख बज रहा—'हम विषपायी जनम के' में पंत जी की कविता 'कठपुतले'—ग्राम्या में। भगवतीचरण वर्मा की कविता 'भैंसागाड़ी' मानव में।
३. ग्राम्या में पंत जी की कविताएँ 'धोबियों का नृत्य', 'चमारों का नाच', 'ग्राम्य-युवती' आदि।

है, उतनी ही दृष्टि में। मार्क्स-दर्शन ने नयी वस्तु के साथ-साथ देखने की नर दृष्टि भी दी।[१] यह दृष्टि निश्चय ही यथार्थवादी है।

किसान और मजदूर के पश्चात् प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि शोषित नार की ओर भी गयी। इन कवियों ने शताब्दियों से शोषित नारी के प्रति यथार्थ वादी करुणापूर्ण दृष्टि से विचार किया है तथा उसे बंधन से मुक्त होने के लि प्रेरित और प्रोत्साहित किया है—

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गंगा-जल-धारा !
गृह-गृह की पार्वती !
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती !
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा !
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा ![२]

सामंत-युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्य संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है उस सदाचार के अंचल-छोर को हमारी मध्ययुगीन सती और बाल-विध अपनी छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर से उस युग की देन वेश्या। स्त्री-स्वातंत्र्य-सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थि परिस्थितियों के विकास के साथ ही हो रहा है। सामन्त-युग की नारी नर छायामात्र रही है।[3]

वह नर की छाया नारी
स्थिर नमित नयन पद विजड़ित
वह चकित भीत हिरनी-सी
निज चरण चाप से शंकित
मानव की चिर सहधर्मिणी
युग-युग से मुख अवगुण्ठित

---

१. छायावादोत्तर काव्य—सिद्धेश्वर प्रसाद, पृ० १६२।
२. अनामिका—निराला, पृ० १४१।
३. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५२।

स्थापित घर के कोने में
वह दीप-शिखा-सी कम्पित
करती वह जीवन-यापन
युग-युग से पशु-सी पालित
बन्दिनी काम-कारा की
आदर्श नीति परिचालित ।[1]

प्रगतिवादी कविता की यथार्थवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत यथार्थ का गत्यात्मक चित्रण हुआ है। प्रगतिशील कविता में यथार्थ को केवल वर्तमान काल तक ही सीमित करके नहीं देखा, उसकी भावी सम्भावनाओं का भी लेखा लिया है। उसे उसकी किसी विशिष्ट स्थिति में नहीं, उसकी गत्यात्मक भूमिका में चित्रित किया है। इसलिए जहाँ उसमें यथार्थ जीवन की वर्तमान विषमताएँ और विरूपताएँ व्यक्त हुई हैं, वहाँ उनके खिलाफ जूझती हुई समता और संगीत की शक्तियाँ भी रूपायित हुई हैं। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता का यथार्थ चित्रण निराशाजनक नहीं है।[2]

यथार्थ की प्रतिष्ठा में जहाँ एक ओर ग्राम्य-चित्र हैं तो दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय वास्तविकता के यथार्थ चित्र भी हैं।[3] इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी कवि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं एवं घटनाओं के प्रति भी सजग रहा है। यथा विभिन्न आंदोलनों, विद्रोहों, साम्प्रदायिक दंगों, गांधी जी की हत्या (जो उस समय की लोमहर्षक घटना थी), चीन में क्रांति, भारतीय गणतंत्र की घोषणा, अन्तरिक्ष-यात्रा आदि के भी यथार्थ चित्र अंकित हुए।

स्वस्थ प्रणय-भाव—प्रगतिवादी कविता की प्रेम भावना रीतिकालीन, भारतेन्दुकालीन, द्विवेदीकालीन और छायावादकालीन प्रेमभावना से भिन्न रही है। उसमें रीतिकाल की रसिकता, द्विवेदी-युग की नैतिकता, छायावाद का रूमानीपन नहीं है वरन् इस काल का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है। वह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता, मनुष्य जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखायी देता है। इस

---

१. युगवाणी (नर की छाया)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४८।
२. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—डॉ० रणजीत, पृ० ३६०।
३. नरेश मेहता की कविता 'समय देव तो' दूसरा सप्तक में, गिरिजा कुमार माथुर की कविता 'शब्द देश' 'शिला पंख' चमकीले में आदि।

प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक मूल्य है जो स्वस्थ सामाजिकता और दाम्पत्य जीवन की सात्त्विकता से युक्त है। इस दृष्टिकोण का मुख्य कारण इस समय नारी स्वातन्त्र्य का समर्थन है । इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा हम ऊपर 'यथार्थ की प्रतिष्ठा' में कर आये हैं। प्रगतिवादी कवि नारी के शोषण का विरोध कर उसके प्रेम के स्वस्थ उपयोग और उसके जीवन के प्रेरक-पक्ष का समर्थन करता है। यथा—

उसे मानवी का गौरव दे
पूर्ण सत्त्व दो नूतन,
उसका मुख जग का प्रकाश हो
उठे अन्ध अवगुण्ठन ।[1]

प्रणय-भाव को इस काल के कवियों ने विभिन्न पक्षों एवं स्थितियों में न देखकर एक जीवनी-शक्ति के रूप में देखा है—

याद होगा तुम्हें वह मधु मिलन-क्षण
जब हृदय ने स्वप्न को साकार देखा
मिट गयी दुर्भाग्य के भी भाग्य की जब अमिट रेखा
ढाल जब अनजान में तुमने दिये इन शुष्क अधरों मे अमृतकण
याद तो होगा तुम्हें वह मधु-मिलन क्षण
मैं उन्हीं दो-चार बूँदों के सहारे
विश्व-व्यापक विष-बुझाने जा रहा हूँ ।[2]

जीवनी-शक्ति के अतिरिक्त यह प्रेम ऐकान्तिक सत्य के रूप में अभिव्यक्त न होकर सामाजिक सदर्भों से युक्त होकर अभिव्यक्त हुआ है । यही कारण है कि इन कवियों के प्रेम में निराशा और कुण्ठा के समय भी जीवन के प्रति आस्था विद्यमान रहती है—

जो भी अभाव भरना होगा
चलते-चलते भर जायेगा
पथ में गुनने बैठूँगा तो
जीना दूभर हो जायेगा[3]

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६ ।
२. पर आँखें नहीं भरीं (छोड़ कर नगरी तुम्हारी)—शिवमंगल सिंह सुमन, पृ० ६३ ।
३. वही, (बात की बात)—शिवमंगल सिंह सुमन—पृ० १६ ।

यह स्वस्थता केवल प्रणय तक ही सीमित नहीं है वरन् प्रेम के व्यापक स्तर पर रूपायित हुई है जिसके अन्तर्गत प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, वात्सल्य, सख्य, मानव-प्रेम आदि सभी रूप सम्मिलित हैं।

प्रगतिवादी कविता की प्रेम-वर्णन की यह प्रवृत्ति छायावादी और प्रयोगवादी प्रेम-वर्णन से इसलिए व्यापकता की दृष्टि से भिन्न है। छायावादी प्रेम में केवल प्रणय और प्रकृति-प्रेम ही मुख्य दो रूप दृष्टिगत होते हैं। प्रयोगवादी प्रेम-वर्णन भी स्थूल रूप से प्रणय तक ही और उसके भोगवादी-क्षणवादी या कुत्सित यथार्थवादी रूप तक ही सीमित रहा है। परन्तु प्रगतिवादी प्रेम-वर्णन निर्विशेष मानव-प्रेम के व्यापक स्तर पर रूपायित हुआ है।

व्यंग्य—व्यंग्य काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है और प्रगतिवादी कवियों ने प्रगतिवादी कविता की अन्य प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में व्यंग्य का प्रयोग किया तथा हिन्दी कविता में व्यंग्य-परम्परा को एक व्यापक स्तर प्रदान किया है। अपने समय में फैले राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक पाखण्डों, भ्रष्टाचारों और विद्रूपों की सफल अभिव्यक्ति इन कवियों ने व्यंग्य के सहारे की है। इस प्रकार इस काल की कविता के बड़े सजीव और व्यंग्यात्मक चित्र प्रगतिवादी कविता ने चित्रित किये हैं। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या गरीबी और बेकारी का एक व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत है—

मकान नहीं खाली, दूकान नहीं खाली है
स्कूल नहीं खाली, खाली नहीं कालेज
खाली नहीं टेबल, खाली नहीं मेज
खाली अस्पताल नहीं, खाली है हाल नहीं
खाली नहीं चेयर, खाली नहीं सीट
खाली नही फुटपाथ, खाली नहीं स्ट्रीट
खाली नहीं ट्राम, खाली नहीं ट्रेन
खाली नहीं माइण्ड, खाली नहीं ब्रेन
खाली है हाथ, खाली है पेट
खाली है थाली, खाली है प्लेट।[1]

व्यवस्था के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र को भी इन व्यंग्यकारों ने अछूता नहीं छोड़ा। जो साहित्य वृत्तियाँ प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि के विरुद्ध लगीं उन

१. हंस, दिसम्बर, १६५१—नागार्जुन।

पर भी व्यंग्य हुए। कला के प्रति परम्परावादी दृष्टि पर निम्नलिखित व्यंग्य द्रष्टव्य है —

सत्यं शिवं सुन्दरम्
शुद्ध कला के पारखी
कहते हैं उस पार की
इस दुनिया की कौन कहे
भव-सागर में कौन बहे
गिरने दो जापानी बम
सत्यं शिवं सुन्दरम्।[1]

प्रगतिवादी-इतर कवियों के अतिरिक्त निराला के व्यंग्य की विशिष्टता का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा जिसकी विशेषता है कि ऐसी प्रगतिशील रचना उस समय भी कर रहे थे जबकि छायावाद का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ था। उनकी 'उद्बोधन' (१९२१) शीर्षक रचना हिन्दी भाषा का पहला व्यंग्य है। प्राचीन रूढ़ियों के प्रति सरल शैली में इस कविता में व्यंग्य किया गया है। इसी प्रकार 'भिक्षुक' और 'विधवा' शीर्षक कविताएँ भी भाव और शैली की दृष्टि से प्रगतिवादी हैं। 'कुकुरमुत्ता' तथा 'नये पत्ते' में 'महँगू महँगा रहा' शीर्षक रचना आदि उनकी प्रसिद्ध व्यंग्य रचनाएँ हैं। बानगी के लिए एक उदाहरण देखिए—

झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये।
देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—'धन्य, श्रेष्ठ मानव।'

(अनामिका-निराला, पृ० २३)

यह उद्धरण निराला की 'दान' (१९३५) शीर्षक कविता का है, जो पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है। इसमें सामाजिक परम्परागत रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए अन्त में मानव की प्रतिष्ठा की गयी है।

---

१. तारसप्तक—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २८।

सरल शैली—"प्रगतिवादी कवियों ने सरल भाषा में लोकगीतों के आधार पर मार्मिक छन्दों एवं मुक्त छन्दों द्वारा जन-मन के भावों को व्यक्त करने का प्रयास किया है।"[1] चूँकि प्रगतिवादी साहित्य का सम्बन्ध जन-साधारण के जीवन से है, इसलिए उस जीवन की अभिव्यक्ति के लिए प्रगतिवादी साहित्यकार सीधी-सादी, सरल एवं स्वाभाविक भाषा-शैली को अपनाता है। इन कवियों ने जनवादी नवीन विचारों एवं भावधाराओं को व्यक्त करने के लिए स्पष्ट, यथार्थ, सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया। तितली के समान रंगीन एवं सुकोमल भाषा-शैली की अपेक्षा सीधी-सरल भाषा को महत्त्व दिया ताकि उनकी बात पाठकों तक सरलता से पहुँच सके। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन के शब्दों में "प्रगतिशील कवि की भाषा रूपी सरिता के केवल दो तट्य हैं—एक उसका अपना आप, दूसरा उसका पाठक। जो भाषा उसके अपने विचारों की अधिक-से-अधिक ईमानदाराना प्रतिबिम्ब हो सकती है और जिस भाषा के दर्पण में उसके पाठकों को अपना मुँह स्पष्ट दिखायी देता है, ऐसी भाषा ही किसी प्रगतिशील लेखक की प्रिय वाणी हो सकती है।"[2] वास्तव में भक्तिकाल के बाद इस काल में कविता की भाषा एक बार फिर जनभाषा के निकट आयी। प्रगतिवाद के प्रमुख कवि पंत जी ने भी जन-मन तक कवि की वाणी के सम्प्रेषण को महत्त्व दिया—

तुम वहन कर सकोगे जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।[3]

इस प्रकार की विचारधारा ने काव्य को 'अलंकृत संगीत' होने से बचाया। सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता प्रतिष्ठित हुई। छायावादी कविता में अप्रस्तुत अधिकांशतः प्रकृति से ग्रहण किये जाते थे और उनमें अमूर्तता की प्रवृत्ति अधिक होती थी, इसके विपरीत प्रगतिवादी काव्य में यह अप्रस्तुत समाज से गृहीत हुए और मूर्त्त रूप में। प्रगतिवादी कवियों ने नवीन अप्रस्तुतों की योजना परम्परागत अप्रस्तुतों को त्याग कर की। इनके अधिकांश अप्रस्तुत समाज के निम्नवर्गीय ग्रामीण-श्रमिक जीवन से सम्बन्धित हैं अतः स्पष्ट हैं।

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी, पृ० ८०।

२. हंस—अक्टूबर, १६४७—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन।

३. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०३।

मूर्त्त एवं समाज से सम्बन्धित होने के कारण संग्राह्य हैं। जैसे तिरस्कृत, दलित, शोषित और संतप्त मानवता की तुलना चिरे-फटे कपड़ों अथवा टूटे बर्तनों से करना। उपेक्षित होना दोनों का साधर्म्य है। वैसे ही अंधकार ढोने वाली रात की तुलना कोयला ढोती मजदूरिन से करने में भी उपर्युक्त विशेषताएँ लक्षित होती हैं। कविता में सफल अप्रस्तुत विधान से प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता आती है, भावों का प्रसार एवं रसोत्कर्ष होता है। ये गुण अप्रस्तुत विधान में तभी आ सकते हैं जब कवि स्वयं मर्मग्राही हो और जड़-चेतन प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षक-परीक्षक हो। यद्यपि अप्रस्तुत योजना कल्पना द्वारा होती है, फिर भी सिद्ध कवियों के ही अप्रस्तुत मार्मिक एवं हृदयग्राही होते हैं। प्रगतिवादी कवियों का विषय जन-जीवन रहा अतः उनके उपमानों का चयन भी जन-जीवन से सम्बन्धित और सामयिक रहा। अनेक प्रगतिवादी कवियों ने अत्यन्त सशक्त और सटीक अप्रस्तुत योजना की है। इसका सोदाहरण विवेचन हम इसी अध्याय के 'कलापक्ष' शीर्षक में करेंगे। छन्द और अलंकार के क्षेत्र में भी लगभग इसी प्रकार की नवीनता का आग्रह मिलता है। इस प्रकार शिल्पवादिता को बहुत अधिक प्रश्रय न देने पर भी प्रगतिवादी कविता में शिल्प की उपेक्षा नहीं हुई है और प्रवृत्ति रूप में इस समय का साहित्य भाव, भाषा, शैली, छन्द आदि सभी दृष्टि से जीवन की ओर अग्रसर दिखता है।

निष्कर्ष—हिन्दी साहित्य की अन्य पूर्ववर्ती कविता-धाराओं के समान प्रगतिवादी कविता-धारा की भी अनेक सीमाएँ रहीं। परन्तु इनके बावजूद मानवतावादी और क्रांतिकारी परम्पराओं को विकास के जिस नवीन स्तर पर इस कविता-धारा ने पहुँचाया वह अभिनन्दनीय है। उसने संवेदनाओं के क्षितिजों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों तक प्रसरित किया तथा सामाजिक यथार्थ और मानवीय भावनाओं के नये आयाम खोले। यही उपलब्धि क्या कम महत्त्वपूर्ण है कि प्रगतिवादी कविता द्वारा साहित्य में पददलित निम्नवर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ तथा समाज में सबके लिए समान रूप से सुख और शांति की माँग और समाज के प्रत्येक अंग को विकसित एवं पुष्ट होने के अवसर की माँग हुई। परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त हो सामूहिक उन्नति पर बल दिया गया। प्रगतिवाद के प्रवृत्तिगत विश्लेषण में कविता की उपर्युक्त उपलब्धियाँ तो सभी को मान्य हो सकती हैं।

प्रगतिवादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य

भावपक्ष—कविता और साहित्य सहित सभी कलाएँ हमारे लिये आंतरिक अनुभूतियों और इच्छाओं का एक पूरा-का-पूरा संसार उपलब्ध करती हैं। हमारी मूल प्रवृत्तियों और हृदय की अनन्त सम्भावनाओं का द्वार हमारे सामने खोलती हैं। हमारी चेतना के रागात्मक पक्ष को इस तरह परिवर्तित करती हैं कि हम संसार के प्रति अधिक सूक्ष्मता और अधिक गहराई के साथ संवेदित होने लगते हैं। वे संसार को हमारे लिये अधिक सुन्दर, अधिक सम्पन्न और अधिक आकर्षक बनाती हैं। व्यक्तियों की सामूहिक अनुभूतियों को जटिलता के साथ एक नये ऊँचे स्तर तक ले जाती हैं। समाज के सदस्यों के बीच की चेतन सहानुभूति, समझ और स्नेह की नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाती हैं।

पर साहित्य सिर्फ इन्द्रियबोधों और बिम्बों की ही कला नहीं है, उसका विषय सिर्फ अनुभूतियाँ और संवेग ही नहीं हैं। वह सार्थक शब्दों की कला है, इसलिए उसका सम्बन्ध विचारों से भी है। वह 'हृदय' को प्रभावित करने के साथ-साथ 'बुद्धि' को भी प्रेरित करती है। इसलिए साहित्य का प्रयोजन इसके अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्धों को प्रकाशित करना और सामाजिक वास्तविकता को समझने और बदलने में मनुष्य की सहायता करना भी है। प्रगतिशील दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य का उद्देश्यमात्र मनोरंजन नहीं, मात्र नैतिक उपदेश या राजनीतिक सन्देश नहीं, कुछ लोगों की रस निष्पत्ति मात्र भी नहीं, उसका उद्देश्य है, मनुष्य के हृदय का उसके परिवेश के साथ समायोजन और मानवीय बनाना, उसके विकास में सहायक होना और उसे अपने आस-पास की वास्तविकता को बदलकर एक अधिक अच्छा संसार बनाने की प्रेरणा देना है।

प्रगति की मार्क्सवादी धारणा मुख्यतः हिन्दी की प्रगतिशील कविता की भावभूमि है। मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद, दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और समाजशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है। मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा का प्रस्थान-बिन्दु यह है कि मनुष्य का दैनन्दिन जीवन उसकी चेतना पर आधारित नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत उसकी चेतना उसके सामाजिक जीवन पर आधारित होती है। यह सीधी-सादी वस्तुवादी स्थापना है। अर्थात् पदार्थ जगत्

और मानव-समाज मनुष्य की उनके बारे में चेतना से पहले, उससे निरपेक्ष अस्तित्व रखते हैं. पर उसकी चेतना उसके सामाजिक और भौतिक जीवन से निरपेक्ष कोई सत्ता नहीं रखती ।[1] उसके निर्माण, परिवर्तन और परिवर्द्धन में, सांसारिक परिस्थितियों का निश्चित हाथ रहता है। मानवीय चेतना की अनेक सृष्टियों की तरह साहित्य भी अन्ततः अपनी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से नियंत्रित होता है।

अलग-अलग युगों की कला-सृष्टियाँ, अपने-अपने युगों के आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों की रचनाएँ होने के साथ-ही-साथ अपने से पहले की कला-कृतियों की परम्परा की अगली कड़ियाँ भी होती हैं। प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार किसी कला-कृति को उसके स्रष्टा के जीवन-दर्शन से अलग कर समझना असम्भव है। कला-सृजन एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें भावनाएँ और विचार अपनी-अपनी भूमिकाएँ अदा करते हैं। संवेदनों द्वारा प्राप्त सामग्री को सृजन की प्रक्रिया विवेक द्वारा व्यवस्थित और पुनर्गठित किया जाता है। इसलिए कला-सृष्टि को कलाकार के जीवन-दर्शन से अलग-अलग करके देखने का प्रयत्न मूलतः गलत है। वास्तव में किसी कलाकार की कृतियों की वैज्ञानिक समझ, उसके समय के सामाजिक सम्बन्धों, उसके समय तक के वैज्ञानिक और कलात्मक विकास और उस विकास से अपने परिचय को ही नहीं, इस सब के प्रति उसकी मानसिक प्रक्रियाओं और रुखों को समझे बिना ही असम्भव है।

जैसा कि हम पीछे कह आये हैं कि प्रगति की मार्क्सवादी धारणा मुख्यतः हिन्दी की प्रगतिशील कविता की भावभूमि है, अतः उसका स्पष्ट प्रभाव प्रगतिवादी काव्य में लक्षित होता है। इसके साथ ही समानान्तर रूप से गांधी जी की चिन्तनधारा का व्यापक प्रभाव भी इस काल की कविता में देखा जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में मार्क्सवाद एवं गांधीवाद का संक्षिप्त परिचय एवं प्रगतिवादी काव्य में उनके प्रभाव का विवेचन करते हुए इस काल के काव्य की भावधारा का अध्ययन हम मुख्य रूप से सामाजिक यथार्थ, प्रेम, प्रकृति और सौन्दर्य शीर्षकान्तर्गत करेंगे।

मार्क्सवाद—प्रगतिवादी चिन्तन के मूल में मार्क्सवाद की दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक मान्यताओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। अतः मार्क्सवादी

---

१. आलोचना का मार्क्सवादी आधार—अमृतराय—नयी समीक्षा, पृ० २।

जीवन-दर्शन के अनुरूप रचे गये साहित्य की धारा को प्रगतिवाद की संज्ञा मिली है । मार्क्सवाद को समाजवाद, साम्यवाद, वैज्ञानिक समाजवाद, द्वंद्वात्मक या ऐतिहासिक भौतिकवाद इत्यादि भी कहा जाता है । सम्पत्ति पर व्यक्ति के स्थान पर समाज के सामूहिक स्वामित्व के सिद्धान्त को समाजवाद कहा जाता है । समाजवाद की शताधिक परिभाषाएँ हैं । इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा प्रवर्तित विचारधारा है । उनकी इस विचारधारा को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है ।

द्वंद्वात्मक की प्रक्रिया के तीन सोपान माने जाते हैं—वाद, प्रतिवाद और संवाद अथवा स्थापना (Thesis), प्रतिस्थापना (Anti-thesis) और संस्थापना (Synthesis), द्वंद्वात्मक को यह अर्थ मुख्यतः जर्मन दार्शनिक हेगेल ने दिया । उसने चिन्तन के विकास को स्वयं चिन्तन में निहित अन्तर्विरोधों के संघर्ष और समागम के माध्यम से होते हुए पाया और इसी को द्वद्वात्मक कहा । लेकिन उसने द्वंद्वात्मक को विचार का, चिन्तन का, आत्मा का ही एक गुण माना, प्रकृति का नहीं । मार्क्स और एंगेल्स ने इस सिर के बल खड़ी द्वंद्वात्मकता को, उनके पैरों पर खड़ा किया, उसे भौतिक संसार पर लागू किया । इस तरह द्वंद्वात्मकता को जो हेगेल के दर्शन में विचारों के विकास का एक प्रत्ययवादी सिद्धान्त था, समस्त संसार के विकास के सामान्य नियमों का दिग्दर्शन कराने वाला एक भौतिकवादी सिद्धान्त बना दिया गया । इस अर्थ में द्वंद्वात्मकता प्राकृतिक विकास की एक मूलभूत विशेषता है और विचार क्योंकि वास्तविक संसार का प्रतिफलन है, इसलिए चिन्तन का विकास भी द्वद्वात्मक पद्धति से होता है ।[1]

हेगेल के द्वंद्ववाद से अपने द्वंद्ववाद को पृथक् करते हुए मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास केपिटल' में कहा है कि "मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति हेगेलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है । हेगेल के लिए मानव-मस्तिष्क की जीव-प्रक्रिया, अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया जिसे 'विचार' या 'प्रत्यय' (आइडिया) के नाम से उसने एक स्वतंत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक संसार उस प्रत्यय का बाहरी इन्द्रियगोचर रूप मात्र है । इसके विपरीत मेरे लिए 'प्रत्यय' या 'विचार' मानव-मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित और चिन्तन के विभिन्न रूपों में परिवर्तित, वास्तविक संसार के सिवा और कुछ भी नहीं है ।"[2]

१. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—डॉ० रंजीत, पृ० ३२ । २. वही—पृ० ३३ ।

वस्तुतः मार्क्स का जीवन-दर्शन द्वंद्वात्मक भौतिकवादी है। उनके अनुसार सृष्टि का मूल पदार्थ है, चेतना नहीं। चेतना का विकास पदार्थ से ही हुआ है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण भाववादी या आत्मवादी न होकर वस्तुवादी अथवा पदार्थवादी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार समाज का अध्ययन ऐतिहासिक वस्तुवाद के रूप में वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। अब तक के सामाजिक विकास का इतिहास वर्ग-युद्ध ही रहा है। मार्क्सवाद के अनुसार, प्रारम्भ में समाज वर्गहीन था, शनैः-शनैः उत्पादन के साधनों में विकास के साथ वर्गभेद हो गया। पूँजीवाद के आते-आते वर्ग-संघर्ष की भावना और तीव्र हो गयी और वैज्ञानिक एवं प्राविधिक साधनों की सहायता से वर्गहीन समाज-व्यवस्था पुनः सम्भव प्रतीत हुई।

रूस में हुई सन् १९१७ की सफल क्रान्ति के बाद मार्क्सवाद का प्रभाव समस्त विश्व में तेजी से फैलने लगा। रूसी समाजवादी व्यवस्था के रूप में विश्व के लेखकों, कलाकारों, विचारकों, आन्दोलनकारियों को जीता-जागता प्रेरणा का एक स्रोत, एक विश्वासी पथ-प्रदर्शक मिला।

मार्क्स ने श्रमिकों को समाज का सबसे बड़ा क्रांतिकारी वर्ग कहा है, जिन्हें खोना कुछ नहीं है और पाना सब कुछ है। ऐसे समाज की स्थापना में साहित्य को भी अपने दायित्व का निर्वाह करना है। चूँकि मार्क्स-दर्शन में तटस्थता के लिए स्थान नहीं है, इसलिए या तो साहित्य श्रमिकों द्वारा परिचालित क्रांति को पोषण, प्रश्रय और निर्देश देगा या सत्ताधारियों का और कोई रास्ता है ही नहीं। अतः मार्क्सवाद की दृष्टि में सच्चा साहित्य, जीवित साहित्य सामाजिक क्रान्ति के आधार पर वर्गहीन समाज की स्थापना में सहायक एक प्रबल अस्त्र है।[१] मार्क्सवाद की दृष्टि में वही साहित्य प्रगतिवादी है जो वर्गहीन समाज की स्थापना में सहायक हो।

मार्क्स एवं एंगेल्स के अनुसार समाज का विकास दो धरातलों पर होता है—आर्थिक और वैचारिक। वैचारिक धरातल स्वतः अपने आप में पूर्ण नहीं है। अतः आर्थिक धरातल नींव रूप में कार्य करता है और उस पर भवन रूप में वैचारिक धरातल उपस्थित होता है। समाज के भौतिक धरातल में परिवर्तन होने पर वैचारिक धरातल भी उससे प्रभावित और परिवर्तित होता है।

---

१. लिटरेचर एण्ड आर्ट-कार्ल मार्क्स एण्ड एफ० एंगेल्स, पृ० ८।

वैचारिक धरातल पर जिन विषयों की संस्थिति होगी उनमें काव्य और कला को प्रमुख रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[1]

उक्त दोनों विचारकों के पश्चात् मार्क्सवाद की विशद व्याख्या प्लेखनाव एवं कॉडवेल ने प्रस्तुत की। प्लेखनाव का मत है कि कृतिकार को सारी प्रेरणा एवं अनुभूति श्रमिक एवं सर्वहारा वर्ग से ही प्राप्त होनी चाहिए। उसके अनुसार काव्य अथवा कला की उत्पत्ति समाज में आर्थिक जीवन से ही होती है। इसकी तुलना में कॉडवेल की व्याख्या अधिक व्यापक एवं गहन है। वह मानता है कि कला का मोती समाज की सीपी से ही उद्भूत होता है। अर्थात् जिस प्रकार सीपी से मोती उत्पन्न होता है उसी प्रकार समाज से कला उत्पन्न होती है। अतएव इन्होंने भी काव्य और कला की उत्पत्ति एवं अन्ततः उसकी परिणति सामाजिक सोद्देश्यता में मानी जाती है। इस प्रकार काव्यकला के मूल्यों को सामाजिक और आर्थिक मूल्यों से सम्बद्ध करने में इन चिन्तकों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

प्रगतिवाद ने दर्शन के पक्ष को मार्क्स से इसलिए ग्रहण किया क्योंकि जिस धरातल पर प्रगतिवादी साहित्य अपने काव्य-सन्दर्भ को खोज रहा था उसका बहुत ही सशक्त आधार मार्क्सवादी विचारधारा में सहज ही उपलब्ध था और प्रगतिवादी साहित्यकार को इस विचार से निश्चय ही बहुत बल प्राप्त हुआ।

निष्कर्ष यह है कि मार्क्सवाद साहित्य को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप समाज में एक क्रांति लाने का साधन मानता है। यदि इसमें अभिव्यक्ति के सामतवादी और पूँजीवादी रूप भी सहायक हों तो वह उनका अपनी सिद्धि के लिए उपयोग करेगा।

मार्क्स-दर्शन का प्रभाव विभिन्न देशों की साहित्य-धाराओं पर विभिन्न रूपों में हुआ। चूँकि मार्क्स-दर्शन क्रांति के संगठित प्रयास का दर्शन है इसलिए साहित्य के क्षेत्र में भी इसने संगठित आंदोलन को बल दिया। संगठित आन्दोलन के रूप में प्रगतिवाद का उन्मेष भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कई वर्षों के बाद हुआ। लेकिन हिन्दी कविता इससे कई वर्ष पूर्व ही इस ओर (यथार्थ की ओर) अग्रसर हो चुकी थी। कवि श्री पंत के अनुसार—"अपने मित्र (कम्यूनिस्ट नेता पी० सी० जोशी) तथा भाई देवीदत्त पंत के सम्पर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कान्तार को, अपने ढीठ कल्पना पंखों से,

---

१. पंत का काव्य—प्रेमलता वाफना, पृ० २८२।

साहसपूर्वक अत्यन्त उत्साह तथा हर्षानुभूति के साथ पार कर सका, (तब, जब हिन्दी में संभवतः इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कविता कहलायी) और कालाकाँकर के गाँव का वातावरण पाकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में अपनी उस नवीन जीवन-दृष्टि की प्रक्रियाओं को उन्मुक्त रूप से वाणी दे सका।···आज भी जब नव मानवतावाद की दृष्टि से मैं जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ, तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयंसिद्ध प्रतीत होती है।"[1]

पंत जी छायावाद के सर्वात्मवादी दर्शन से गांधी दर्शन और मार्क्स दर्शन की ओर उन्मुख हुए जो उनकी आन्तरिक प्रेरणा के अनुरूप उनके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास है। एक आदर्श मानव-समाज की कल्पना ने उन्हें समय-समय पर विभिन्न जीवन-दर्शनों की ओर आकर्षित किया है। 'युगवाणी' में युग की मनोवृत्ति का आभास देने के लिए उन्होंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयास किया है और मार्क्सवाद ही उनकी दृष्टि में 'युग का गद्य' है। इस प्रकार 'युगवाणी' का कवि मार्क्स दर्शन के लिए भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा प्रवर्तित आंदोलन का ऋणी नहीं है। निराला का भी 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि श्रेष्ठ यथार्थवादी कविताएँ संघ की स्थापना से पहले की हैं। बाद की रचना 'कुकुरमुत्ता' पर अवश्य ही आंदोलन का प्रभाव है। दिनकर जी भी संघ की स्थापना से पहले ही यथार्थवादी रचनाएँ लिख रहे थे और प्रेमचन्द जी तो सन् १९१८-१९ में ही 'बोलशेविस्ट उसूलों' के कायल हो चुके थे।[2] भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से पहले अपनी अनुभूति के बल पर मार्क्स की मनोभूमि तक पहुँचने वाले रचनाकारों एवं उसकी स्थापना के बाद मार्क्स दर्शन में दीक्षित होने वाले रचनाकारों में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के रचनाकारों की आस्था मानवतावाद में है एवं द्वितीय प्रकार के रचनाकारों की आस्था रूढ़िबद्ध मार्क्सवाद एवं साहित्यिक दलबन्दी में है। इस तथ्य के विश्लेषण में पंत जी कहते हैं कि—"प्रेमचन्द जी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुण्ठाओं से भरा तुच्छ, आत्मपीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य की परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुञ्ज-पुञ्ज क्षोभ-भरी वास्तविकता का चित्रण

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११५।
२. समालोचक, नम्बर, १९५९, पृ० ९।

कर आत्मतृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्द जी का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष करता हुआ विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आगे बढ़ाने वाला व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोकमांगल्य के नवअंकुरित बीज मिलते हैं।"[1]

साहित्य पर मार्क्स-दर्शन का स्थायी प्रभाव समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प है। मानव-संस्कृति एवं जीवन-निर्माण सम्बन्धी धारणाओं पर भी इसका गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा है। कला के क्षेत्र में स्थायी महत्त्व पाने वाला हर आन्दोलन जन-जीवन से सम्पृक्त होकर कला में आता है और वह सदा इसी रूप में अभिव्यक्ति की नयी और उदात्त शैलियों एवं प्रणालियों का विकास करता है। इसी अर्थ में साहित्य के क्षेत्र में चलने वाला आंदोलन साहित्यिक और सार्थक दोनों हो सकता है। मार्क्स-दर्शन मानव-संस्कृति के उपादानों को स्थायी और शाश्वत ही नहीं वरन् सतत वर्द्धिष्णु और प्रगतिशील मानता है। मार्क्स ने पूँजीवादोत्तर संस्कृति को समाजवादी मानवतावाद की संज्ञा दी है। 'मानवतावाद' इस संस्कृति की मूल भावना का व्यंजक है जो पूँजीवाद-युग तक विकसित सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इस युग के श्रेष्ठ कलाकारों का दृष्टिकोण निरपवाद रूप से मानवतावादी रहा है, 'समाजवादी' से आर्थिक, सामाजिक आधार का स्वरूप द्योतित होता है। इस नये जीवन-दर्शन ने कवि को जीवन को देखने की नवीन दृष्टि एवं नवीन जीवन-बोध दिया तथा यह भी निर्विवाद है कि प्रगतिशील काव्य में मार्क्स-दर्शन का प्रभाव जीवन की ऊष्मा समाविष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ।

गांधीवाद— गांधी-दर्शन को व्यापक अर्थ में गांधीवाद की संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार मार्क्स ने जन-मानस को नवीन जीवन-दृष्टि प्रदान की उसी प्रकार गांधी जी ने भी नवीन जीवन-बोध दिया, दोनों में अन्तर व्यक्तिगत दृष्टि-कोणों का है। एक भौतिकवादी है तो दूसरा अध्यात्मवादी।

गांधी जी एक महापुरुष के रूप में राष्ट्रीय और संस्कृति के उन्नायक के रूप में हमारे सामने आये। उनके जीवन-दर्शन से प्रभावित साहित्य की मूल प्रेरणा को हम राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कह सकते हैं। गांधी-युग की चेतना पूर्व-गांधीयुग की चेतना से कई अर्थों में भिन्न है जिसका स्पष्ट प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। पूर्व-गांधीयुग सुधारवादी था, वह अतिनैतिकता का समर्थक

---

१. शिल्प और दर्शन (चरण चिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११६-११७।

था। भक्तिकाव्य के बाद रीतिकाव्य में जो मानवतावादी विद्रोही स्वर दब गया था वह गांधीयुग में पुनः अपनी सशक्त अभिव्यक्ति पा सका। इस प्रकार हमारे साहित्य पर गांधी जी का जो प्रभाव पड़ा उससे पूर्व-गांधीयुग से भिन्न एक नयी परम्परा हमारे साहित्य में प्रतिष्ठित हुई।

गांधी-दर्शन का मूल सत्य और अहिंसा है। सत्य का ही दूसरा नाम उन्होंने परमेश्वर माना है तथा समस्त सृष्टि में एक ही तत्त्व की व्याप्ति स्वीकार कर ईश्वर और मनुष्य की तथा मनुष्य और अन्य जीवधारियों की एकता स्वीकार की है।[1] उन्होंने सबके ऊपर सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा की। इसलिए कलाकार के कर्त्तव्य की व्याख्या करते समय उन्होंने ईश्वर के बजाय मनुष्य के प्रति उसे उत्तरदायी बताया। विशिष्ट जनों के लिए सूक्ष्म कला के स्थान पर सर्व-जन-सुलभ कला को प्रश्रय दिया। उनके इस दृष्टिकोण का प्रभाव साहित्य की भाव-दिशा पर गहनता से हुआ। अपूर्णता में मानवत्व के दर्शन, नारी का मानवी रूप इसका प्रमाण है। गांधी जी की अहिंसा सामाजिक न्याय के आधार पर खड़ी थी, सत्याग्रह और असहयोग को उन्होंने अपने अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था और पौराणिक एवं परम्परागत ईश्वर के स्थान पर जनता-जनार्दन की स्थापना की थी। व्यक्ति के सत्य और समाज के सत्य, स्त्री के सत्य और पुरुष के सत्य में किसी प्रकार के विरोध को गांधी जी ने प्रश्रय नहीं दिया, जबकि हमारे समाज में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए भिन्न नैतिक मान प्रचलित थे। मध्ययुगीन सन्तों ने भी मायाविनी नारी से दूर रहने को कहा। गांधी जी का दृष्टिकोण इससे भिन्न है—"स्त्री के प्रति गांधी जी ने कभी घृणा नहीं दिखायी, उसने यह भी नहीं किया कि केवल मातृ-रूप की वन्दना की। पत्नी भी आवश्यक थी, पुत्री, बहिन अर्थात् संसार के मानवीय सम्बन्ध सब आवश्यक थे। स्त्री से घृणा करना, अपने आप से घृणा करना है, अपना अज्ञान दिखाना है। स्त्री को स्वतन्त्रता न देने के कारण ही वह विकृत हो गयी है।"[2] इस प्रकार के स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण की ओर हमारे साहित्यकार अनायास ही आकृष्ट हो गये तथा गांधी-दर्शन से प्रेरित विशाल साहित्य का प्रणयन हुआ। आलोच्य काल के कवियों में प्रमुखतः मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल

१. साहित्य कोश—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २५७।
२. भारतीय चिन्तन—रांगेय राघव, पृ० १०५।

स्नेही, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामाधारी सिंह दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी तथा लेखकों में प्रेमचन्द, गणेशशंकर विद्यार्थी, जैनेन्द्र कुमार इत्यादि की कृतियों में गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। 'प्रसाद' और महादेवी ने गांधी-युग की चेतना को सांस्कृतिक धरातल पर गम्भीरता के साथ ग्रहण किया। हमारे आलोच्य कवि पंत ने भी गांधी दर्शन से प्रभावित होकर गांधीवाद को काव्य की वाणी प्रदान की है—इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन हम प्रसंगानुकूल आगे करेंगे।

सामाजिक यथार्थ—प्रगतिवादी कविता में सामाजिक यथार्थ का प्रतिफलन अत्यन्त व्यापक रूप में हुआ है। इस काल के कवियों की सामाजिक चेतना अत्यन्त प्रखर थी। कुछ की सामाजिक चेतना तो इतनी विकसित है कि उन्हें सीधे सीधे मार्क्सवादी कवि कहा जा सकता है और कुछ प्रगतिशील भी हैं और मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। परन्तु उन्हें मार्क्सवादी नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार इन सभी प्रगतिवादी कवियों को क्रमशः सजग मार्क्सवादी (या मानववादी) और सहज मार्क्सवादी कह सकते हैं। पहली श्रेणी मे नागार्जुन, केदार, शैलेन्द्र, शील, रामविलास शर्मा आदि कवियों को रखा जा सकता है और दूसरी में पंत, निराला, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र आदि।

"सामाजिक यथार्थवाद साहित्य में न तो निर्जीव 'औसत' का ही वर्णन चाहता है और न समाज में सर्वथा विसदृश 'व्यक्ति' का ही। वह व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखना चाहता है। ऐसे चरित्रों की रचना करता है जो वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी विशेषता अक्षुण्ण रखते हैं।"[१]

समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य को साहित्य का सर्वप्रथम और सर्वोपरि विषय मानता है। एक सोवियत लेखक रियुरिकोव इस यथार्थवाद के मानववादी रूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"समाजवादी यथार्थवाद यथार्थवाद का सर्वश्रेष्ठ रूप है, जो मानव जाति के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ विचारों—समाजवादी विचारों—के आलोक में कला को जीवन की अनेकरूपता और जटिलता को प्राप्त करने की संभावनाएं देता है। इस यथार्थवाद को सच्चे मानववाद से अलग नहीं किया जा सकता। कला वह है जो मनुष्य को प्रेरणा

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८४१।

देती है, उसका आह्वान करती है, संघर्ष और निर्माण के पथ को ज्यादा सही रूप में देखने में उसकी मदद करती है।"[१]

प्रगतिवादी कविता में सामाजिक यथार्थ का रूपायन ग्राम्य-जीवन, मजदूर वर्ग, नारी, मध्य-वर्ग, शोषक वर्ग (सामंत, पूँजीपति आदि), लोक-जीवन, राष्ट्रीयता आदि विभिन्न रूपों में हुआ है। ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्र इस कविता ने अंकित किये हैं। वहाँ के जीवन की कुत्सा के वास्तविक चित्र उपस्थित किये हैं। पंत जी ग्रामीण जनों के बारे में कहते हैं—

ये जीवित हैं या जीवन्मृत
या किसी काल-विष से मूर्च्छित
ये मनुजाकृति ग्रामीण अगणित
स्थावर, विषण्ण, जड़वत् स्तंभित[२]

भगवतीचरण वर्मा ने 'भैंसागाड़ी' शीर्षक रचना में भी इसी प्रकार के ग्रामीण यथार्थ के चित्र खींचे हैं—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुल पाँच कोस की दूरी पर
भू-की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर
मैं कहता हूँ खँडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम
जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुबह-शाम
पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना, बस यह लोगों का एक काम[३]

ग्रामीण जीवन के कुत्सा और विषाद के अतिरिक्त प्रगतिवादी कविता ने ग्राम्य जीवन में स्थित मनुष्यत्व के मूल तत्त्वों, भावी संस्कृति के अविकृत उपादानों को उनके जीवन की उन्मुक्तता और मस्ती के रूप में चित्रित किया है। 'ग्राम्या' में 'धोबियों का नृत्य', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नृत्य' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। धोबियों का नृत्य देखिए—

उड़ रहा ढोल धामिन, धातिन
औ हुड़क घुडुकता ढिम ढिम ढिम

सोवियत लिट्रेचर १९६३ का १२वाँ अंक (रियुरिकोव का 'रीयल ह्यूमनिज्म' लेख)।
[illegible]या (कठपुतले)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२।
'भैंसागाड़ी)—भगवतीचरण वर्मा, पृ० ६३।

मजीर खनकते खिन खिन खिन
मद मस्त रजक, होली का दिन
लो छन छन छन छन
छन छन छन छन
थिरक गुजरिया हरती मन[1]

कहारों के नृत्य में कवि पंत को लोक-संस्कृति के दर्शन होते हैं—

खोल गये संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर
जन संस्कृति का विम्ब स्फीत सौन्दर्य-स्वप्न दिखलाकर
युग-युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अन्तर
जन-मानव-गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तन पर।[2]

इन प्रगतिवादी कवियों ने गाँवों में रहने वाले कृषकों की दीन हीन परिस्थिति का यथार्थ चित्रण करते हुए उनकी करुण गाथा को वाणी प्रदान की है। इस परिस्थिति का एक यथार्थ चित्र देखिए—

विश्व विवर्तनशील अपरिवर्तित वह निश्चल
वही खेत गृह द्वार वही वृष, हँसिया और हल
स्थावर स्थितियों का शिशु स्थावर स्थाणु कृषिवल
दीर्घसूत्र अति दुराग्रही, सशंक और वृषल[3]

पंत की ही 'वे आंखें' कविता किसान के दलित जीवन को चित्रित करती हैं—

अन्धकार की गुहा सरीखी उन आँखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण दैन्य दुःख का नीरव रोदन
लहराते वे खेत दृगों में हुआ बेदखल वह अब जिनसे
हँसती थी उसके जीवन के हरियाली जिनके तृन तृन से
आँखों में ही घूमा करता वह उसकी आँखों का तारा
कारकुनों की लाठी से जो गया जवानी में ही मारा

१. ग्राम्या (धोबियों का नृत्य)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३१।
२. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४७।
३. युगवाणी—(कृषक)—पंत, पृ० ३३।

बिका दिया घर द्वार महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी
रह-रह आँखों में चुभती वह कुर्क हुई बरधों की जोड़ी[1]

निराला ने किसान के खेत सहित उसके जीवन का एक चित्र इस प्रकार अंकित किया है—

डाले बीज चने के जौ के और मटर के
गेहूँ के, अलसी, राई-सरसों के कर से
ऐसे बाह-बाह की वीणा बजी सुहाई
पौधों की रागिनी सजीव सजी सुखदाई
सुख के आँसू दुखी किसानों की जाया के
भर आये आँखों में खेती की माया से
हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई
मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई
खुली चाँदनी में डफ और मजीरे लेकर
बैठे गोल बांध कर लोग बिछे खेतों पर
गाने लगे भजन कबीर के, तुलसीदास के
धनुषभग के और राम के बनोवास के[2]

इस प्रकार ग्रामीण कृषक जीवन का चित्रण करते हुए एवं अन्य पक्षों पर भी दृष्टिपात करते हुए लगभग वहाँ के सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत किये हैं। शिव कुमार मिश्र के अनुसार "जन सामान्य का दैनन्दिन जीवन, उनके तिथि-त्यौहार, क्षण भर के लिए अपनी विपदाओं को भूल कर उसमें खो जाने वाला उसका उत्साह, सांझ होते ही हथेलियों में जलपात्र धरे गाँव की बहुओं, कुमारियों का पाँति बांध कर मन्दिरों की ओर धीरे धीरे गाते हुए जाना, सेंधुर लपेटे गाँव के टूटे-फूटे मन्दिरों के टूटे-फूटे महावीर और उनकी पूजा-अर्चना, सावन की झड़ी लगते ही चौपालों पर आल्हा के साथ ढोलक पर पड़ने वाली थप, तुलसीदास की रामायण का अखण्ड पाठ, कतकी या दर्गा, मुँह अँधेरे गलियारों को पार करती हुई बैलगाड़ियों में जुते बैलों के गले में बँधी घण्टियों की विशृ-ङ्खलित टुनटुनाहट, ऊँघते हुए बच्चे, प्रसन्न ग्रामीणाएँ, हाँक लगाते युवा-अधेड़ गाड़ीवान, चित्रकूट के बोड़म यात्री, बरगद के नीचे छोटे लोगों की जमा

१. ग्राम्या (वे आँखें)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४।
२. नये पत्ते (देवी सरस्वती)—निराला, पृ० ५८।

महफिल में पेशवाज पहने पतुरियों का नाच और दारू का दौर, चैती बिरहा की कलेजे को चीर देने वाली आवाज, भूत-प्रेत की बनावटी कहानियों की शिवालियों पर होने वाली लम्बी चर्चाएँ—तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन की सारी भूमिकाएँ आकर्षक छवियों में प्रगतिशील कविता की विशिष्ट उपलब्धियों के रूप में इन कवियों के द्वारा सामने लायी गयी हैं।"[१] इस संदर्भ में पंत जी द्वारा अंकित ग्राम्य नारी और वहाँ के लड़कों का चित्र दर्शनीय है—

है मांस पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज
वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति
यद्यपि चिर दैन्य अविद्या के तम से पीड़ित
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नागरी की—यह ग्राम वधू निश्चित[२]

× × ×

मिट्टी के मटमैले तन अधफटे कुचले जीर्ण वसन
ज्यों मिट्टी के ही बने हुए ये गँवई लड़के भू के धन
कोई खण्डित कोई कुण्ठित, कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित
टहनी-सी टाँगें, बढ़ा पेट टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित[३]

गाँव के दलित किसानों के साथ ही नगर के मजदूरों पर हो रहे शोषण पर भी इन कवियों की दृष्टि गयी है। निराला की निम्नलिखित पंक्तियों में सड़क पर विशाल अट्टालिका के सामने पत्थर तोड़ती मजदूरिन का दयनीय रूप-चित्र उभरता है :—

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार

१. आलोचना, १९३३—शिवकुमार मिश्र, पृ० ७७।
२. ग्राम्या (ग्राम नारी)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०।
३. वही (गाँव के लड़के)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २७।

श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार-बार प्रहार
सामने तरुमालिका, अट्टालिका, प्राकार
चढ़ रही थी धूप
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप
उठी झुलसाती हुई लू
रुई ज्यों जलती हुई भू
गर्द चिनगी छा गयी, प्रायः हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर[1]

उपर्युक्त यथार्थ चित्रों के अतिरिक्त मध्यवर्ग, पूँजीपति वर्ग, नारी आदि के भी यथार्थ चित्र प्रगतिवादी कवियों ने प्रस्तुत किये हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

गत संस्कृति का दास : विविध विश्वास विधायक
निखिल ज्ञान-विज्ञान नीतियों का उन्नायक
उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक
प्रभु सेवक, जन-वंचक वह निज वर्ग प्रचारक[2]

मध्य वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग है। अनेक सामाजिक स्तरों में विभाजन इस वर्ग की विशेषता है। उपर्युक्त उद्धरण में कवि ने उनकी सामाजिक स्थिति का चित्र अंकित किया है। पूँजीपति वर्ग के प्रति निम्न प्रकार से अभिव्यक्ति हुई :—

वे नृशंस हैं! वे जन के श्रम-बल से पोषित
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित
दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत[3]

---

१. अनामिका (वह तोड़ती पत्थर)—निराला, पृ० ८१।
२. युगवाणी—(मध्यवर्ग)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३२।
३. वही (धनपति), पृ० ३१।

पूँजीवादी व्यवस्था के विकास का चित्रण गिरिजाकुमार माथुर ने इस प्रकार किया है :—

अब बढ़ता है सामाजिक चक्र और आगे
युग में है दिखने लगा गैस का उजियाला
चल पड़े भाप से नयी मशीनों के पहिये
बन यन्त्र-क्रांति के अग्रदूत·········
फिर नयी शक्ति का यन्त्र उठा
उद्योग और व्यापारों का फैला प्रसार
पूँजी की कंचन बेल बढ़ी
देशों की सीमाएँ सिमटीं
आरम्भ हो गयी नयी दौड़ बाजारों की[1]

प्रगतिवादी कविता में जहाँ एक ओर ग्रामीण यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली है वहीं दूसरी ओर सामयिक बोध के प्रति सचेतनता के फलस्वरूप राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के यथार्थ चित्र भी अंकित हुए हैं। गुलाम भारत का एक समग्र चित्र 'भारत माता' के रूप में इन पंक्तियों द्वारा चित्रित हुआ है :

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग-युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने घर में प्रवासिनी
तीस कोटि संतान नग्न तन
अर्ध क्षुधित शोषित निरस्त्र जन
मूढ़ असभ्य अशिक्षित निर्धन
नत मस्तक तरुतल निवासिनी
भारत माता ग्रामवासिनी[2]

रूस की क्रांति प्रगतिवादी कवियों के काव्य-सृजन की महती प्रेरणा रही है। रूस की सर्वहारा वर्ग की यह क्रांति हिन्दी साहित्य के प्रगतिवादी आंदोलन से काफी पहले हो चुकी थी। प्रायः सभी प्रगतिवादी कवियों ने रूस की क्रांति का अभिनन्दन अपनी कविताओं में किया है। पंत जी कहते हैं—

---

१. धूप के धान (पहिये)—गिरिजाकुमार माथुर—पृ० २०।
२. ग्राम्या (भारतमाता)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४७।

रक्त क्रांति के शोणित के सागर से उठ कर
चमक रहा है लोहिताक्ष नक्षत्र नवोदित
नव्य लोक यह जिससे श्रेणिमुक्त समतल में
विचरण करती वर्गहीन मानवता निर्भय
नवशोषित से स्पन्दित, नव शिक्षा से जागृत
विगत विभेदों, घृणित निषेधों से विमुक्ति मन[1]

और दिनकर जी के शब्दों में—

जय विधायके अमर क्रांति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त कुसुम धारणि जगतारणि, जय नव शिवे भवानी ।
अरुण विश्व की काली जय हो
लाल सितारों वाली जय हो
दलित, बुभुक्षु विषण्ण मनुज की
शिखा रुद्र मतवाली जय हो
जगज्ज्योति जय जय, भविष्य की राह दिखाने वाली
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली[2]

सुमन जी की प्रसिद्ध कविताएँ—'दस हफ्ते दस साल बन गये', 'मास्को अब भी दूर है' और 'लाल सेना का गीत'—इसी युद्ध की पृष्ठभूमि पर रची कविताएँ हैं । नवीन जी की 'धन्य सभी रूसी जनगण' (हम विषपायी जनम के), रामविलास शर्मा की 'जल्लाद की मौत' (तार सप्तक), नरेन्द्र शर्मा की 'चेतावनी' (हंसमाला), 'नील लहरों के पार', बुलावा (हंस, अगस्त, १६४२), अंचल की 'लाल रूस के प्रति' (हंस, सितम्बर, १६४२) आदि रचनाएँ भी सोवियत भूमि पर आक्रमण और वहाँ की जनता की विजय के सन्दर्भ में ही लिखी गयी थीं ।

प्रेम—प्रेम को साहित्यिक भाषा में रागात्मकता भी कहते हैं । यह रागात्मकता मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों में निहित हो अथवा अन्यान्य मानवीय सम्बन्धों में । प्रेम-सम्बन्धों की स्निग्धता, रागात्मकता में निहित रहती है । प्रगतिशील दृष्टिकोण यौन-भावना को प्रेम का एक प्रधान रूप मानता है, पर प्रेम के अन्य रूपों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकृति देता

---

१. रजतशिखर (उत्तरशती)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७३ ।
२. सामधनी (दिल्ली और मास्को)—दिनकर, पृ० २० ।

है। प्रगतिवादी कवियों द्वारा मानव-प्रेम तथा दाम्पत्य प्रेम प्रधानता से गृहीत हुआ है। यह कविता किसानों, मजदूरों, बुद्धिजीवियों और साधारण जनता की कविता है, इसलिए इसके प्रणय-वर्णन पर भी उसकी इस वर्ग-सम्पृक्ति का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। हिन्दी कविता ने पहली बार राजाओं, सामन्तों, अवतारी पुरुषों आदि को छोड़कर साधारण जनों के प्रेम को अङ्कित किया। निराला की 'तोड़ती पत्थर' जैसी कविताएँ दोनों के प्रति कवि हृदय की सच्ची व मार्मिक अनुभूति की प्रकाशक हैं। पंत जी की 'ग्राम्या' में 'ग्राम कवि', 'ग्राम', 'ग्रामचित्र', 'कठपुतले', 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बूढ़ा', 'मजदूरनी के प्रति' आदि कविताएँ कवि के व्यापक मानव-प्रेम व सहानुभूति की सूचक हैं। 'अंचल' की किरण-बेला की 'दोपहर की बातें', 'वह मजदूर की अन्धी लड़की' आदि कविताएँ भी इस दृष्टि से सुन्दर हैं। श्री जगदीश गुप्त की 'गंगा के तट पर एक खेत'[1] व श्री चन्द्र प्रकाश सिंह की 'चार महीने'[2] कविताएँ भी दोनों के प्रति कवि की मार्मिक अनुभूति हैं। प्रगतिवादी कवि जाति-भेद, ऊँच-नीच में विश्वास नहीं करता, इसलिए इससे सम्बन्धित उद्गार भी उसकी कविता में दृष्टिगत होते हैं—

बह्मन का लड़का
मैं उसको प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह
मेरे घर की पनिहारिन वह
आती है होते तड़का
उसके पीछे मैं मरता हूँ।[3]

प्रेम और सौन्दर्य प्रगतिवाद में वायवीय या अतीन्द्रिय नहीं दिखायी देता। उसका रूप भौतिक और उसके आकर्षण का कारण भौतिक है। प्रेम-पात्र का दैवीकरण उसके भौतिक सौन्दर्य का सूक्ष्मीकरण प्रगतिवाद में नहीं आ पाया है। हाँ, छायावादी प्रेम की पावनता और शिवत्व की भावना अवश्य आगे बढ़ी है। पर वह भौतिक आधार पर ही विकसित हुई।[4] रहस्यवाद

---

१. प्रतीक—जुलाई, १९५१।
२. प्रतीक—मार्च, १९५२।
३. नये पत्ते (प्रेम संगीत)—निराला, पृ० ३८।
४. आधुनिक हिन्दी कविता—विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ४०८।

से मुक्ति भी इस कविता के प्रेम-वर्णन की विशेषता है। इस सम्बन्ध में एक उल्लेख्य तथ्य यह है कि प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में प्रकृतवाद और फ्रायड के प्रभावस्वरूप कुछ कवियों ने नारी और उसके साथ प्रेम के कुछ अश्लील और भोंड़े चित्र अङ्कित कर प्रगतिवाद के नाम पर चलाया परन्तु प्रगतिवादी आलोचकों के तीव्र प्रहार तथा इनकी अप्रगतिशीलता ने इस प्रवृत्ति को रोक दिया। वैसे भी इस प्रकार की रचनाएँ प्रगतिशील नहीं कही जा सकतीं।

आत्मा या ईश्वर का कोई स्थान न होने के कारण इन कवियों का प्रेम भी पूर्ण पार्थिव है। परम्परागत ईश्वर-प्रेम की तो चर्चा व्यर्थ है। अब वृन्दावन का रास भी उन्हे स्थूल वासनाओं का प्रकाशन मात्र लगता है—

ओ कलाकार !
यदि और न कुछ
तुम कर सकते
स्वप्नों का ही निर्माण करो।
पर ऐसे स्वप्न नहीं
जिनके वृन्दावन में
कुञ्जों में यमुना के तट पर
खेलें खुल कर
वन्दिनी वासनाएँ उर की।[1]

प्रगतिवादी कवियों ने प्रेम को जीवन के अनेक सत्यों में से एक सत्य के रूप में ग्रहण किया है इसीलिए काम को भी जीवन की एक वास्तविकता के रूप में स्वीकारा है और फलस्वरूप प्रेम के प्रति उनकी दृष्टि स्वस्थ और संतुलित है। जीवन में वह किस रूप में और किस सीमा तक उचित है इसकी यथार्थ और परिष्कृत अभिव्यक्ति पंत जी ने की है—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं, प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर।

---

१. प्रतीक, जुलाई, १९५१—सिद्धनाथ कुमार।

क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान।
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण।[1]

प्रेम की शुचिता एवं संयम के कारण अनेक कविताएँ सुन्दर बन पड़ी हैं जैसे सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सुहागन का गीत'[2] तथा गिरिजाकुमार माथुर की 'चूड़ी का टुकड़ा' कविता। चूड़ी का टुकड़ा कवि को अपने दाम्पत्य-प्रणय के सुखद क्षणों की याद दिलाता है—

आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में।
मैं वैसा-का-वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें
दूज-कोर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
सेज सुनहली
कसे हुए बंधन से चूड़ी का झर जाना।
निकल गई सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा।[3]

प्रकृति—प्रगतिवादी कविता में भाव-सापेक्ष और उसमें भी ग्राम-जीवन से सम्बद्ध प्रकृति का चित्रण अधिक हुआ है। मानव-निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन बहुत कम हुआ है। कवि का ध्यान प्रकृति के सौन्दर्य और आनन्द का वर्णन करते हुए तुलनात्मक रूप में मानवीय संसार की विरूपता और विषाद की ओर गया है अथवा उनकी कविताओं में प्रकृति अपने कुण्ठानाशक और प्रेरणा-दायक रूप में सामने आती है। इन्होंने प्रकृति को जीवन-संघर्ष से पलायन

---

१. ग्राम्या (द्वन्द्व प्रणय)—पंत, पृ० ८६।
२. गिरिजाकुमार माथुर—तारसप्तक (१६४३), पृ० १६।
३. तारसप्तक (१६४३)—गिरिजाकुमार माथुर, पृ० १६।

करने वालों की शरणस्थली के रूप में न चित्रित कर उसे जीवन-चित्रण में प्रकृति के कठोर रूपों का भी सौन्दर्याङ्कन हुआ है परन्तु अधिकांश प्रकृति-चित्र कोमल और सुन्दर ही हैं। छायावादी कवियों की भाँति इस कविता में प्रकृति केवल कुछ विशिष्ट गिने-चुने दृश्यों तक ही सीमित नहीं रह गयी वरन् इन कवियों ने साधारण दृश्यों में भी सौन्दर्य के दर्शन किये। अपनी व्यापक दृष्टि द्वारा इन्होंने अनेकरूपा प्रकृति के चित्र खींचे हैं। साँझ के झुटपुटे में छिपता हुआ काँसों का झुरमुट, खेतों में फैली ग्रामश्री, झंझा से झकझोरा जाता नीम, अँगुली की कंघी से कलँगी सँवारते बगुले, काँसों की झण्डिया फहराते ईखों के खेत, दहकते पालश, गंगा के सबेरे और संध्याएँ, स्वीट पी और गुलदावदी के फूल,[1] सरोवर में खिले कमल, पके हुए खेतों के सुनहले आँचल, आम के बौर की सुगन्ध[2] आदि प्रकृति के अनेक साधारण और असाधारण चित्र प्रगतिवादी कवियों ने अंकित किये हैं।

अब हम कुछ प्रकृति-चित्र देखेंगे। मानव-निरपेक्ष प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रण के कुछ उदाहरण यदा-कदा प्रगतिवादी कविता में मिल जाते हैं। पंत की कविता 'झंझा में नीम' में प्राकृतिक स्थिति का प्रभावशाली गत्यात्मक चित्र है:

सर सर मर मर
रेशम के-से स्वर भर
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चंचल
श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष में
हिल-हिल उठते प्रतिपल
वृक्ष शिखर से भू पर
शत-शत मिश्रित ध्वनिकर
फूट पड़ा लो निर्झर
मरुत-कम्प अर।
झूम झूम झुक झुक कर

---

१. युगवाणी और ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत।
२. नये पत्ते, देवी सरस्वती—निराला पृ० ५८।

भीम नीम तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर थर थर
करता सर सर
चर मर[1]

प्रगतिवादी कवियों के अधिकांश प्रकृति-चित्र सीधे-सरल गाँव के चित्र हैं। निराला जी की 'देवी सरस्वती' और पंत जी की 'ग्रामश्री' कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं। ग्राम्य-प्रकृति का मुख्य आकर्षण वहाँ के खेत हैं :

रोमांचित-सी लगती वसुधा आयी जौ गेहूँ में बाली
अरहर सनई की सोने की किंकणियाँ हैं शोभा शाली
उड़ती भीनी तैलाक्त गंध फूली सरसों पीली पीली
लो हरित धरा से झाँक रही नीलम की कलि, तीसी नीली[2]

निराला ने 'देवी सरस्वती' में बदलती ऋतुओं के संदर्भ में श्वेत, किसान-जीवन और उनकी संस्कृति से सम्बद्ध सुन्दर चित्र खींचे हैं। वसन्त का एक चित्र देखिए :

नव पल्लवित वसन्त धरा पर आया सुखकर
फूटी तुम नव किसलयदल से वृत्त-वृत्त पर
कूजित पिक-उर मधुर-कण्ठ, कुण्ठा सब टूटी
मुक्त समीरण से धीरता धरा की छूटी
पके खेत सोने के जैसे अंचल लहरे
नव मनोज्ञ के मनोभाव लोगों में छहरे
प्रति संध्या समवेत हुए ग्रामीण सभ्य जन
ढोलक और मजीरे पर करते हैं गायन
फाग हो रहा उठा रहे हैं धुन धमार की
होली, चैती, लेज, गा रहे हैं सवाँर की
बौरे आमों की सुगन्ध धरती पर छाई
नये वर्ष का हर्ष धरा चाँदनी सुहाई
रबी कटी आम के तले खलिहान लगाया
चना, मटर, जौ, गेहूँ, सरसों कट कर आया[3]

---

१. युगवाणी (झञ्झा में नीम)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७५।
२. ग्राम्या (ग्राम श्री)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३५।
३. नये पत्ते (देवी सरस्वती)—निराला, पृ० ६३।

यह प्रकृति-चित्र लोक-जीवन और लोक-संस्कृति से संयुक्त चित्र है। प्रगतिवाद ने प्रकृति के क्षेत्रों में बिखरे असीम जीवन उत्साह को देखा। प्रकृति का एकान्त रूप नहीं, जन-संकुल जीवन का रूप उसे पसन्द आया। गाँव, खेत, खलिहान, विविध मौसम, नदी, नाव, आस-पास के परिचित पेड़-पौधे प्रगतिवादी काव्य के उपकरण हुए। प्रगतिवादी कवि दूर की किसी काल्पनिक वन्यछवि में नहीं भटकता, वह अपने गाँव या नगर के बीच और आस-पास फैले हुए जाने-पहचाने प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष-विषाद को चित्रित करता है।[१]

सौन्दर्य—प्रगतिवादी कविता में सौन्दर्य का अलौकिकीकरण अथवा अध्यात्मीकरण करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है, क्योंकि सौन्दर्य-चित्रण भी यथार्थवादी विचारधारा से प्रेरित होकर किया गया है। बाह्य रूप-सौन्दर्य स्वयं में ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है जिसे रहस्य अथवा अध्यात्म की अपेक्षा नहीं है। लोक-कलाओं का ग्राम-जीवन की ओर अधिक ध्यान होने के कारण ग्राम-पात्रों के रूप-सौन्दर्य का चित्रण अधिक सूक्ष्मता से हुआ है। छायावाद की कविता में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म के प्रति अधिक मोह रहा, किन्तु इस कविता-धारा में व्यापक जीवन-दृष्टि में परिवर्तन आ जाने के कारण यथार्थ का आग्रह बढ़ गया। अप्सरा के सौन्दर्य-गान करने वाले कवि पंत का स्वर निम्न प्रकार से परिवर्तित हो गया :

इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर।[२]

इस प्रकार कविता में वायवीयता की जगह पार्थिव सौन्दर्य का महत्त्व हो गया। कवि की सौन्दर्य-दृष्टि मानव व प्रकृति दोनों ही क्षेत्रों में पहुँची। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कदाचित् कुछ अधिक उद्दीपन, दृश्य-चित्र, वातावरण-निर्माण, अलंकार-विधान व प्रतीक-स्थापन इस कविता में हुआ। इसके अतिरिक्त इस कविता में विचारों का उत्कर्ष अपेक्षाकृत अधिक हुआ और कला-शिल्प का कम।

---

१. साहित्य संदर्भ और मूल्य—रामदरश मिश्र, पृ० ३८।

२. युगवाणी—पंत, पृ० १७।

निष्कर्ष—प्रगतिशील कविता ने हिन्दी कविता की महान् मानवतावादी और क्रांतिकारी परम्पराओं को विकास के एक नये स्तर पर पहुँचाया। डॉ० रांगेय राघव के शब्दों में—"प्रगतिशील साहित्य वर्ग-संघर्ष को मानकर, मनुष्य के सर्वाङ्गीण चित्र को प्रस्तुत करने वाला नया मानवतावाद है, जो समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करके पुरानी श्रेष्ठ विरासत को अपने भीतर लेता हुआ वर्गहीन समाज बनाता है और व्यक्ति और समाज के बीच में उन समस्त व्यवधानों को तोड़ देता है जो उन्हें विकास में एकचित्त होने से रोकते हैं और इसीलिए वह हवा के नहीं बल्कि जगत् और शोषित समाज के समीप जाता है और कठोर सत्यों में से जीवन की शक्ति ग्रहण करता है।"[1]

कला पक्ष

प्रगतिशील कविता, मूलतः भौतिक, यथार्थपरक और बौद्धिक है। यह कविता सामाजिक, राष्ट्रीय और समष्टिमूलक है। प्रगतिवादी कविता के समर्थक शिवदानसिंह चौहान का कहना है कि "जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणाएँ देता है, मनोवृत्तियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता, और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील ही तो है।"[2]

वास्तव में इस कविता में शैली-शिल्प का सौन्दर्य अपेक्षाकृत कम है क्योंकि यह काव्यान्दोलन छायावाद की सूक्ष्मता के विरुद्ध उठा था। कल्पना की अतिशयता की प्रतिक्रियास्वरूप इन कवियों ने काव्य में कल्पना को महत्त्व नहीं दिया। कल्पना के स्थान पर बौद्धिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया। छायावाद की लाक्षणिक शैली के स्थान पर बोल-चाल की भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर प्रगतिवादी कवियों ने कवि और पाठक के बीच की खाई को समाप्त कर दिया। प्रगतिवादी कवि अध्यात्म के क्षेत्र में नहीं जाता, क्योंकि इस सम्प्रदाय में आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया जाता। अतः

---

१. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड—डॉ० रांगेय राघव, पृ० ३४६।

२. साहित्य-सन्देश (आधुनिक काव्यांक) जनवरी-फरवरी १९५४, पृ० ३२६—शिवदानसिंह चौहान।

आध्यात्मिक भावनाओं को मूर्त्त रूप देने के लिए जिन धूमिल प्रतीकों की अपेक्षा रहती है वे प्रगतिवादी काव्य में नहीं मिलते। प्रगतिवादी प्रकृति की रमणीयता पर दृष्टिपात नहीं करता क्योंकि प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होना वह जीवन से पलायन मानता है। अतः प्रकृति को रमणीय रूप देने के लिए मानवीकरण, ऐन्द्रिक चित्रण आदि शैली के सूक्ष्म उपकरणों का भी अभाव है।

छायावाद का जन्म अभावग्रस्त वातावरण में हुआ था। उन कवियों ने जीवन के इस अभाव की पूर्ति अपने कल्पनालोक में की, इस कारण उनके अप्रस्तुत-विधान या प्रतीक-विधान में हर्षोल्लाससूचक उपकरण अधिक हैं। छायावादी कवियों ने प्रायः प्रकृति के क्षेत्र से उपमान लिये हैं। उन्होंने यौवन और प्रणय के गीत अधिक गाये हैं। प्रगति कवि जीवन के अभाव, कुत्सा और क्रांति का कवि है इसलिए उसके प्रतीक वैसा ही वातावरण प्रस्तुत करते हैं। यथार्थपरक, बौद्धिक और आलोचनात्मक शिल्प होने पर भी प्रगतिवादी कवियों ने उस शिल्प के अनुरूप अभिव्यक्ति के सौन्दर्य पर बराबर ध्यान दिया।

प्रतीक-योजना—प्रगतिवादी कवियों का प्रतीक-विधान उस वातावरण के अनुकूल है जिसको वे अपनी कविता में उपस्थित करना चाहते हैं। उस समय के जीवन और मनोदशा के अनुकूल उन्होंने कुछ इस प्रकार प्रतीकों का चयन किया :

अर्थ-दस्यु —पूँजीपति
आग —विप्लव
काले बादल —क्रांति का वातावरण
हथौड़े —सर्वहारा की चोट
विषधर —पूँजीपति महाजन
लाल सितारा —रूसी झण्डा
रक्त —बलिदान
नई फसल और नया सवेरा—साम्यवादी समाज-व्यवस्था
धरती का पुत्र —कृषक
गिद्ध, जोंक —पूँजीपति इत्यादि

ये कवि स्पष्ट और प्रत्यक्ष कथन में अधिक विश्वास रखते हैं इसलिए प्रतीक-योजना के प्रति इन्होंने अधिक रुचि नहीं दिखायी है। जिन प्रतीकों का प्रयोग किया भी है वे छायावादी और प्रयोगवादी प्रतीकों की भाँति दुरूह एवं अस्पष्ट नहीं हैं बल्कि परम्परागत अथवा सामान्य हैं। कुछ उदाहरण देखिये :

चरमर चरमर चूँ चरर मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी[1]

यहाँ भैंसागाड़ी सामाजिक प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुई है जो सामंती व्यवस्था से पीड़ित, शोषण-जर्जर, परिवर्तनहीन ग्राम-समाज का प्रतिनिधित्व कर रही है।

वह बुड्ढा
खड़ा द्वार पर लाठी टेके।
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर[2]

यह बुड्ढा पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

अबे सुन बे गुलाब
भूल मत पायी गर खुशबू रंगो-आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट[3]

इस उदाहरण में गुलाब को कवि ने 'कैपिटलिस्ट' के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है, जिसे स्वयं ही स्पष्ट भी कर दिया है।

अलंकार-विधान—प्रगतिवादी कविता में वाणी को अस्वाभाविक रूप से अलंकृत करने की रोमानी मनोवृत्ति नहीं रही। इसका समर्थन पंत जी की बहु-उद्धृत पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं :

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार[4]

प्रायः अलंकार विधान में इन कवियों ने नवीन उपमान भी प्रस्तुत किये हैं। छायावादी कवियों की भाँति प्रकृति के रमणीय व कोमल उपमान ही न ग्रहण कर इन कवियों ने भाव की यथार्थता के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न

---

१. मानव (भैंसागाड़ी)—भगवतीचरण वर्मा, पृ० ६१।
२. ग्राम्या—पंत, पृ० १६।
३. कुकुरमुत्ता—निराला, पृ० १२।
४. ग्राम्या (वाणी)—पंत, पृ० १०३।

करने वाले यथार्थ जगत् के कुरूप-सुरूप सभी प्रकार के उपमान ग्रहण किये हैं। जैसे :—

तुम तो अस्तगत समाज की छाती पर कोल्हू-से बैठे[1]

यह उक्ति पूँजीपतियों के लिए है। 'कोल्हू' भारीपन के लिए समाज में प्रसिद्ध है फिर इसमें यह व्यंजना भी है कि तुम जनता का तेल निकाल लेते हो फिर भी छाती से नहीं हटते। इस प्रकार यह नवीन सार्थक और व्यंजनापूर्ण उपमान है। एक अन्य उदाहरण देखिये :

साँझ हो गयी,
जहरीले नीले अजगर-सा
धुआँ, निकलने लगा
रसोईघर की मटमैली चिमनी से[2]

उपमान की नवीनता यहाँ भी द्रष्टव्य है—धुएँ को जहरीले नीले अजगर-सा कहा है।

प्रगतिवादी अलंकार विधान की यही विशेषता है कि वह अयत्नज और सहज है, यथार्थ जीवन की वस्तुओं से सम्बन्धित है, इसलिए उसके उपमान सुन्दर, स्वप्निल और गौरवपूर्ण न होकर सामान्य हैं। शब्द-चमत्कार का भी उनमें अभाव है।

अप्रस्तुत विधान—इस कविता के अप्रस्तुत विधान की दृष्टि मूल रूप से यथार्थपरक एवं बौद्धिक है। छायावाद की भाँति भावात्मक नहीं है। जिस प्रकार विचारों और वस्तु के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए उसी प्रकार शिल्प के क्षेत्र में भी हुए, फलतः भाषा, छन्द, अलंकार, रूपविधान आदि को भी जनवादी साँचे में ढाल कर नवीन रूप प्रदान किया गया। अतः इस काव्यधारा के अधिकांश कवियों ने अप्रस्तुत विधान को भी जनवादी साँचे में ढाल कर उसका नया संस्कार किया है। छायावाद की प्रतिक्रिया होने के कारण इन कवियों ने उसके अप्रस्तुत-विधान की सूक्ष्मता, अमूर्तता, प्रतीकात्मकता और कल्पनात्मक-दृष्टि का धारणात्मक सतह पर तो विरोध किया है, किन्तु इस काव्य के अप्रस्तुत विधान में कहीं-कहीं सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियाँ उभर आयी हैं।

---

१. हंस—अप्रैल, १९४१—अंचल।
२. नीला अजगर—कविता-प्रतीक-दिसम्बर, १९५१—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

यथार्थपरक होने के कारण प्रगतिवादी कविता का अप्रस्तुत-विधान स्थूल है एवं इस यथार्थ की अभिव्यक्ति अधिकांश रूप में मूर्त्त अप्रस्तुतों द्वारा हुई है तथा वह अप्रस्तुत व्यावहारिक एवं साधारण जन-जीवन से ग्रहण किये गये हैं। अधिकतर इस कविता का अप्रस्तुत विधान मार्क्स-दर्शन पर आधृत वर्गीकृत-संवेदना का अनुवर्ती मात्र बनकर रह गया है। डॉ० नगेन्द्र ने भी इन कवियों के अप्रस्तुत-विधान को 'वर्ग-चेतना-युक्त'[1] कहा है। जहाँ कहीं अप्रस्तुत-विधान में यथार्थाङ्कन की अतिवादिता है तथा दृष्टि बौद्धिक और आलोचनात्मक है वहाँ काव्य में सौन्दर्य और सौष्ठव का ह्रास हुआ है, परन्तु जहाँ स्वस्थ और संतुलित अप्रस्तुत योजना की गयी है वहाँ सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति लक्ष्य की जा सकती है। यथा—

और तब चुप हो रहे कौन्तेय,
संयमित करके किसी विध शोक दुष्परिमेय,
उस जलद-सी एक पारावार,
हो भरा जिसमें लबालब, किन्तु जो लाचार
बरस तो सकता नहीं, रहता मगर बेचैन है[2]

इसमें मूर्त्त के लिए मूर्त का सुन्दर अप्रस्तुत-विधान हुआ है जिसका आधार है साधर्म्य। युधिष्ठिर को उस जलद के समान कहा गया है जिसमें पारावार लबालब भरा है तथा बरसना चाहकर भी वह बरस नहीं सकता और बेचैन है। इस अप्रस्तुत द्वारा युधिष्ठिर के हृदय के असीम दुःख, वेदना, पश्चात्ताप और बेचैनी आदि भावों की कवि ने सौन्दर्यात्मक ढंग से व्यंजना की है।

ऊपर हमने अप्रस्तुत विधान में नवीनता एवं परिवर्तन की बात कही है। पंत के गुञ्जनोत्तर काव्य में, विशेषतया 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में जहाँ काव्य की विषय-वस्तु में परिवर्तन हुआ है और वहाँ अप्रस्तुत-विधान भी बदला है। कहीं पुराने अप्रस्तुत नवीन संदर्भ में व्यंजित हुए हैं तो कहीं यथार्थ स्वरूप और भाव-चित्रण के अनुरूप नयी अप्रस्तुत-योजना की गयी है। उदाहरणार्थ :—

मानव की चिरसहधर्मिणी
युग-युग से मुख अवगुण्ठित

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६२।
२. कुरुक्षेत्र—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० १२।

स्थापित घर के कोने में
वह दीपशिखा-सी कम्पित[1]

इसमें कवि ने 'दीपशिखा' अप्रस्तुत को नवीन संदर्भ में प्रयुक्त किया है। अर्थात् ऐसी भारतीय नारी जिसका स्थान घर के कोने में है। इस सन्दर्भ में इस अप्रस्तुत का प्रयोग पहले नहीं हुआ। जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र से सामान्य, साधारण और यथार्थ अप्रस्तुत इस कविता में पर्याप्त रूप से गृहीत हुए हैं। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है :—

कोई खण्डित कोई कुण्ठित
कृश बाहु पसलियाँ रेखांकित
टहनी-सी टाँगें बढ़ा पेट
टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित।[2]

ग्रामीणों की दुर्दशा, दयनीय स्थिति, दुर्बलता और क्षीणता की व्यंजना यथार्थ अप्रस्तुतों द्वारा हुई है जिससे चित्र सजीव हो उठा है। एक अन्य उदाहरण देखिये—

अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी-सा जीवन है
संज्ञाहीन, अर्थहीन
बेकार चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है।[3]

यहाँ भी यथार्थ दृष्टि से नियोजित व्यावहारिक जीवन से अप्रस्तुत गृहीत हुआ है। जनता की यथार्थ स्थिति को दर्शाने के लिए जन-जीवन की उपमा रद्दी की टोकरी से की गयी है तथा जो चिरे-फटे बेकार टुकड़ों की भाँति फेंक दिया गया हो। चूँकि इन कवियों की काव्य-दृष्टि जीवन-दृष्टि से भिन्न थी इसलिए दृष्टि की यह भिन्नता उनके अप्रस्तुतों में भी विद्यमान है। साथ ही इनके अप्रस्तुतों पर दृष्टिपात करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि इस कविता में कला का नितान्त अभाव है।

बिम्ब—बिम्ब आरम्भ काल से ही कविता के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं परन्तु आधुनिक काल में उन्हें कुछ अधिक महत्त्व मिला है। प्रगतिवादी कविता में

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४८।
२. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २७।
३. हंस—दिसम्बर, १९४२—केदारनाथ सिंह।

अनेक प्रकार के बिम्बों का प्रयोग हुआ है परन्तु आधिक्य प्रस्तुत, यथार्थवादी दृष्टि संवेदना से सम्बन्धित सामाजिक जीवन के क्षेत्रों से गृहीत बिम्बों का ही है। छायावादी कविता में जहाँ धूमिल और काल्पनिक बिम्बो का आधिक्य है वहाँ प्रगतिशील कविता में स्पष्ट और यथार्थवादी बिम्बों का प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त छायावादी कवियों ने अपने बिम्बों का चयन प्राकृतिक क्षेत्र से अधिक किया है। प्रगतिवादी कविता ने बिम्ब-चयन सामाजिक क्षेत्र से किया है जिसमें ग्राम-जीवन और ग्राम-संस्कृति अधिक मुखरित हुई है। दोनों काव्य-धाराओं के बिम्ब-विधान में यह अन्तर दोनों के सौन्दर्य-बोध में अन्तर के कारण है। नयी सौन्दर्य-दृष्टि में सौन्दर्य के केवल शाश्वत और विशिष्ट रूपों को ही महत्त्व नहीं मिला वरन् उसके साथ ही सरलपन, साधारणता और निरलंकारिता में भी सौन्दर्य के दर्शन किये गये। छायावादी सौन्दर्य-बोध निर्झर, इन्द्रधनुष, ज्योत्स्ना, मेघ, हिमखण्डों पर ही विचरण करता था। इसके विपरीत प्रगतिशील सौन्दर्य-बोध ने कंकड़-पत्थर, सूखे पत्ते, झाड़ी, खेत, गाँव, कोयले की खानों में भी सौन्दर्य देखा। जैसे—

पीले पत्ते टूटी टहनी, छिलके कंकड़-पत्थर
कूड़ा-कर्कट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर[१]

प्रगतिशील कविता में बिम्ब-चयन के कुछ अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

बाग में बाहर थे झोपड़े
दूर से जो दिख रहे थे अनघड़े
जगह गंदी रुका सड़ता पानी
मोरियों में जिन्दगी की लन्तरानी
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेल्हरों के पैरों की थी गड्डियाँ[२]

यह सामाजिक जीवन-क्षेत्र से लिया गया दृष्टि-बिम्ब है। सामाजिक जीवन-क्षेत्र से ही लिया हुआ एक अन्य गतिशील बिम्ब देखिए—

सरकाती पट
खिसकाती लट

१. युगवाणी—पंत, पृ० ३५।
२. कुकुरमुत्ता—निराला, पृ० २१।

शरमाती झट
वह नमित नयन से देख उरोजों के युग घट[1]

प्रकृति से गृहीत एक सुन्दर दृष्टि-बिम्ब देखिए—

सुन्दर मधुऋतु, सुन्दर है गुंजित दिगन्त का हरित प्रसार
ताम्र, रजत, मरकत विद्रुम के विविध किसलयों का मृदुभार[2]

प्रकृति-बिम्ब के ही अन्तर्गत ध्वनि, स्पर्श और गंध बिम्बों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

ध्वनि बिम्ब : बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी वी-टी-टुट्-टुट्[3]
× × ×

स्पर्श बिम्ब : तुम जलद, ऊर्ण जलद
तुम धूम जलपूर्ण जलद[4]
× × ×

गंध बिम्ब : वह विजन चाँदनी की घाटी छाई मृदु वनतरु-गंध जहाँ
नींबू आड़ू के मुकुलों के मद से मलयानिल लदी वहाँ[5]

दृष्टि और स्पर्श दोनों संवेदनाओं का एक मिश्रित बिम्ब देखिए—

पल्लव में नवल रुधिर
पत्रों में मांसल रंग खिला[6]

इन प्रकृति-बिम्बों के अतिरिक्त प्रगतिशील कविता में पौराणिक बिम्बों का प्रयोग भी हुआ है :

कामधेनु-सी कांग्रेस अब
सुरसा जैसा मुँह बाये है[7]

---

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १७।
२. युगवाणी (मधु के स्वप्न) —पंत, पृ० ६८।
३. युगान्त (संध्या)—पंत, पृ० १४।
४. युगवाणी (जलद)—पंत, पृ० ७६।
५. युगान्त (वह विजन चाँदनी की घाटी)—पंत, पृ० २८।
६. वही (चंचल पग)—पंत, पृ० २४।
७. हंस—जुलाई, १६४८—केदारनाथ सिंह।

यह एक प्रभावशाली बिम्ब है जिसमें कामधेनु और सुरसा कांग्रेस के प्रति जनता की पहले की धारणा और उसके वास्तविक रूप की असंगति को व्यंजित किया गया है।

शैली—साधारणतः शैली शब्द का प्रयोग काव्य-रूप के अर्थ में किया जाता है। कविता प्रबन्धात्मक होती है या गीतात्मक। दूसरे वह वर्णनात्मक, भावात्मक और विचारात्मक होती है। कविता के पहले रूप को हम काव्य-रूप और दूसरे को शैली के अन्तर्गत रख सकते हैं। काव्यरूप के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, काव्यरूपक, गीत, मुक्तक, कविता आदि रूप सम्मिलित हैं। आधुनिक युग में बिना छंद के तुक के आधार पर जो मुक्तक लिये जाते हैं उन्हें भी मुक्तक का एक रूप कह सकते हैं। एक अन्य प्रकार की कविताएँ जो न गीत के अन्तर्गत आती हैं और न मुक्तक के अन्तर्गत उन्हें कविता कह दिया जाता है।

प्रगतिशील कविता के काव्यरूपों की दृष्टि प्रायः सभी काव्यरूपों में कवियों ने काव्य सृष्टि की है। इसके अतिरिक्त गीतों की अनेक शैलियों का भी सफल प्रयोग किया है। परम्परागत शैलियों के अलावा लोकगीत, प्रयाण-गीत आदि नवीन शैलियों का प्रयोग भी हुआ है जो इन कवियों की लोक-चेतना का परिचायक सिद्ध हुआ है।

भाषा—किसी भी काव्यधारा की भाषा और उसके शिल्प पर उसके कथ्य और उसके मूल दृष्टिकोण का निर्धारक प्रभाव स्वाभाविक है। प्रगतिवादी कविता की भाषा के स्वरूप-निर्माण पर भी निःसन्देह उस समय की जनवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। 'जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख' की प्रवृत्ति हमें सर्वत्र इस कविता में दिखायी देती है। इस कविता की भाषा-सम्बन्धी कुछ चर्चा हम पीछे 'प्रगतिवाद की मुख्य प्रवृत्तियों' में कर आये हैं।

प्रगतिवादी कविता का भाषा सम्बन्धी आदर्श है ऐसी भाषा जो कवि की अनुभूतियों और भावनाओं को सुन्दर ढंग से व्यक्त कर सके तथा पाठक के लिए सुबोधगम्य हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस कविता में भावों की गहनता, ऊँचाई और सौन्दर्य का सर्वथा अभाव रहा हो। हमें इस काव्य की काव्य-रचनाओं में भाषा के कई भिन्न स्वर देखने को मिलते हैं। जो रचनाएँ सीधे शोषितों को आवाहन कर लिखी गयी हैं उनमें भाषा का एक स्वर है जो

गम्भीर चिन्तन की शैली से युक्त है और अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों पर विचार करती हैं तथा बुद्धिजीवी वर्ग के लिए लिखी गयी हैं उनमें भाषा का स्वर दूसरा है। फिर भी सामान्यतः इस कविता की भाषा एक सामान्य भाषा है जिसका मूलाधार साधारण बोलचाल की भाषा है जिसमें संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू शब्दों से लेकर लोक-भाषा के अनेक शब्द गृहीत हुए हैं। "ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित तद्भव और देशज शब्दों में चोखो, उजात, घुट्टा, चैता, सरग, दम, पट्टी, घिन, अरंभ, नकबजन, कुरिया आदि अनेक शब्दों का प्रयोग प्रगितिशील कविताओं में धड़ल्ले के साथ हुआ है। वास्तव में भक्तिकाल के बाद प्रगतिशील कविता की भाषा ही फिर जन-भाषा के इतने नजदीक आयी।"[१]

छन्द—छन्दों को मान्यता देते हुए भी प्रगतिशील कवियों ने उन्हें बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया है। वैसे उन्होंने कविता की छन्द-बन्धन से मुक्ति की भी कई बार उसी प्रकार कामना की है, जिस प्रकार कि वे जनता की मुक्ति की कामना करते हैं।[२] छंदों के प्रयोग में कवियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता बरती है। छंदों का कोई विशेष नियम नहीं दिखायी देता। पंत जी ने इस कविता के प्रारम्भ में ही कहा था।

खुल गये छंद के बन्ध, प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त और युगवाणी बहती अयास[३]

परन्तु स्वाभाविक रूप से आने वाली छान्दसिकता का बहिष्कार प्रायः किसी भी प्रगतिशील कवि ने नहीं किया। प्रारंभिक काव्य-रचना अधिकांश छंद-बद्ध है और परवर्ती प्रगतिवादी कविताओं में मुक्त छंद का प्राधान्य है तथा कहीं-कहीं पूर्ण छंद-मुक्ति की प्रवृत्ति भी मिलती है। छंद-रचना में भाव-प्रवाह, लय और संगीत को भी इन कवियों ने स्थान दिया है। लोकगीतों की लय का भी अनेक कविताओं में सुन्दर प्रयोग हुआ है।

प्रगतिशील कविता में भी पूरी आधुनिक हिन्दी-कविता की तरह ही, मात्रिक छंदों की अधिकता है।[४] उनमें ६ मात्राओं से लेकर ३२ मात्राओं तक के लगभग सभी परम्परागत मात्रिक सम, अर्द्धसम और मिश्रित छंदों का प्रयोग

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा, रामकुमार सिंह, पृ० ६५।
२. वही, पृ० ६८५।
३. युगवाणी (नव-दृष्टि)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३।
४. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ४७१।

मिलता है। इन प्रयोगों में से कई ऐसे छंद-प्रयोग भी हैं, जो तुलनात्मक रूप से नवीन हैं। उर्दू की कविता की बहरों और हिन्दी के छोटे-छोटे छन्दों का, जिनका पूर्ववर्ती काव्य में अभाव रहा, सर्वप्रथम प्रयोग प्रगतिशील काव्य में ही किया गया।[1]

प्रगतिशील कविता में मुक्त छंद का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है। इन छन्दों की विशेषता यह है कि परम्परागत छंद के नियमों से युक्त होने पर भी इनमें निश्चित लयाधार होता है। निराला ने अधिकतर वर्णिक लयाधारों पर आधारित मुक्त छंदों का प्रयोग किया है।[2] परन्तु प्रगतिवाद में अधिकतर कवियों ने मात्रिक लयाधारों पर आधारित मुक्त छंदों का ही प्रयोग किया है। सप्त मात्रिक लयाधार पर आधारित छंद का उपयुक्त उदाहरण निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' के निम्नलिखित उदाहरण में भी इसी छंद का प्रयोग है :

		मात्राएँ
वह कौन रो	। ता है वहाँ।	७, ७
इतिहास के	। अध्याय पर।	७, ७
जिसमें लिखी	। है नौजवा।)	
नों के लहू	। का मोल है।)	७, ७, ७, ७
प्रत्यय किसी	। बूढ़े कुटिल।)	
नीतिज्ञ के	। व्यवहार का।)	७, ७, ७, ७

अष्टक पदों पर आधारित छंद हिन्दी में काफी प्रचलित हैं। इसके उदाहरण पंत जी की 'ग्राम्या' (पृ० १७, १८) में देखे जा सकते हैं। उनकी 'ग्राम युवती' से अष्टमात्रिक

	मात्राएँ
सरकाती पट	८
खिसकाती लट	८
शरमाती झट	८
वह नमित दृष्टि से देख उरो-)	
जों के युगघट)	८, ८, ८

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प—कैलाश वाजपेयी, पृ० २४२।

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ४२६-४३६।

हँसनी खिल खिल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़े। हों स्रोत सरल।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी कविता का छंद वैविध्य प्रगतिवादी कविता में भी विद्यमान है।

निष्कर्ष—प्रगतिवादी कविता के इस शिल्पगत वर्णन से लक्षित होता है कि यद्यपि इस काव्यधारा ने शिल्पवादिता को महत्ता के साथ प्रश्रय नहीं दिया तथापि उसने शिल्प के प्रति उपेक्षा भी नहीं दिखायी। शिल्प के क्षेत्र में भी उसकी उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें जनवादी भाषा-शैली, परंपरागत और नवीन शैलियों का प्रयोग, विराट्, बिम्ब, व्यंग्य का व्यापक क्षेत्र तथा यथार्थपरक अप्रस्तुत-विधान प्रमुख हैं।

पंत के प्रगतिवादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य

एक ओर जब साहित्य में रूप-विधान बदलने लगता है—जिसके अन्तर्गत विधा, शैली, शब्द-चयन, सौन्दर्यबोध, अभिव्यंजना के प्रकार आदि हैं—तब उसके साथ-साथ भाव-बोध, रस-बोध, अर्थ संकेत एवं मान्यताओं में भी अनिवार्यतः बदलाव आने लगता है और दूसरी ओर अन्तर्मन अथवा चेतना का नवीन स्फुरण अथवा विकास कला एवं अभिव्यक्ति के रूप को भी अपने आप बदल देता है।[1] लेखन-प्रक्रिया को संचालित तथा नियन्त्रित करने में मुख्य हाथ लेखक की रुचि, स्वभाव तथा प्रतिभा-जन्य अन्तः संस्कारों का रहता है जिसे हम उसकी विशिष्ट दृष्टि कह सकते हैं, जिससे वह अपनी सृजन-प्रक्रिया के लिए विशिष्ट सामग्री चुन कर अपनी कृति के रूप में संयोजित करता है।.... जो दूसरी अन्य विधायिनी शक्ति लेखक की सृजन-प्रक्रिया को निरूपित करती है वह लेखक के युग तथा उसकी परिस्थितियों का प्रभाव है। जब मैं अपनी सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे लगता है कि मेरी रचनाओं को मेरी परिस्थितियों की चेतना ने बहुत हद तक प्रभावित किया है।[2] छायावाद से प्रगतिवाद की ओर पंत जी का प्रयाण उनके इस कथन की पुष्टि करता है।

प्रगतिशील कविता ने प्रथम स्रष्टा तो यद्यपि त्रिशूल जी को ही कहा जा सकता है तथापि हिन्दी के पहले प्रगतिशील कवि होने का गौरव पंत जी को

१. कला और संस्कृति—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६४।
२. मेरी लेख प्रक्रिया—पंत—पृ० १२२-१२३।

ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि पंत जी ही ऐसे कवि थे, जिन्होंने हिन्दी में प्रगतिशील काव्य-सृजन की वास्तविक परम्परा का प्रवर्तन किया। फिर वे अपने अन्य समसामयिक प्रगतिशील कवियों (जैसे दिनकर और नवीन) की अपेक्षा प्रगतिशील आन्दोलन की मूल सृजनात्मक चेतना से भी अधिक सम्पृक्त थे।[1]

परिस्थितियों की चेतना के फलस्वरूप आलोच्यकाल तक आते-आते पंत की सौन्दर्यवादी भावभूमि में भी एक विशेष परिवर्त्तन लक्षित होता है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि कालाकाँकर में ग्रामवासियों के अभावग्रस्त जीवन का अज्ञात प्रभाव मेरे सौन्दर्य तथा आदर्शप्रिय मन में प्रच्छन्न रूप से अवश्य ही पड़ने लगा था। मार्क्स के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत परिचय मुझे जोशी से भी मिल चुका था। प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रांति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही, वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन भावात्मक दर्शन (Philosophy of positivism) को जन्म दिया, उस सब की सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गयी। अपने उस युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने अपने बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुरूप, तब 'युगान्त' नामक अपने काव्य-संग्रह में प्रारम्भिक अभिव्यक्ति दी।[2] उस समय अपने काव्य-विषयक दृष्टिकोण के इस परिवर्तन की प्रक्रिया का स्पष्ट निदर्शन एवं कविता के नये लक्ष्यों और दायित्वों का उल्लेख उन्होंने 'रूपाभ' की भूमिका में किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है एवं एक प्रकार से प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र सिद्ध हुई। इसमें उन्होंने कहा है कि—"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गयी है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना

१. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—डॉ० रंजीत, पृ० १४८।
२. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०।

पड़ रहा है।[1] यही कारण है कि इस युग में कवि ने लोक-मंगल की प्रखर इच्छा से अभिप्रेत होकर अपनी रचना-भूमि का पुनः संस्कार किया तथा उसकी चिन्तनधारा मानवतावादी भावभूमि के अनुसंधान में संलग्न हुई। सवेदना, कथ्य और शिल्प सभी स्तर पर धीरे-धीरे परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। आलोच्यकाल में रचित पंत जी के प्रगतिशील कविता के प्रमुख संकलनों में युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या उल्लेख्य हैं।

काव्य-परिचय—

युगान्त :

गा कोकिल, बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन-
झरें जाति-कुल, वर्ण पर्ण घन-
व्यक्ति राष्ट्र-गत राग द्वेष-रण[2]

युगान्त संधि-स्थल की रचना है। कवि पंत ने स्वयं कहा है कि "'युगान्त' में निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अभी समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है"[3] इसीलिए कवि कोकिल से जीर्ण-पुरातन के विध्वंस और नूतन के सृजन का संदेश सुनाने के लिए कहता रहा है। दिनकर जी लिखते हैं—"युगान्त ने इतिहास के एक युग का अन्त भले ही संकेतित न किया हो, किन्तु उससे कवि के अपने जीवन का एक युगान्त अवश्य सूचित हुआ, क्योंकि यही वह काव्य है जिसमें कवि की दृष्टि निश्छल रूप से, पहले पहल सपनों से निकल कर सत्य की भूमि पर आ गयी।"[4] जिस युग के अन्त से कवि का तात्पर्य है वह है सामन्त युग और पूँजीवाद युग। साहित्यिक दृष्टि से छायावाद का युगान्त भी। "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"[5]

---

१. रूपाभ—पंत का संपादकीय, वर्ष १, अंक १, जुलाई १९३८।
२. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०।
३. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४५।
४. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० १०१।
५. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।

इस संग्रह में १९३४ से १९३६ तक की रचनाएँ संकलित हैं। इसका प्रकाशन सन् १९६६ में हुआ। इसमें अधिकांश रचनाएँ सामाजिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं जो जागरण-प्रवृत्ति प्रधान हैं अर्थात् इनमें कवि प्राचीनता को ओर से हटकर नूतनता का आह्वान करता है। प्रकृति-चित्रण की रचनाएँ भी हैं परन्तु इसका प्रकृति-चित्रण वीणा से गुंजन वाला प्रकृति-चित्रण नहीं है, उसमें चिन्तन की प्रधानता है, यहाँ कवि प्रकृति के एक-एक कण को क्रांति का अग्रदूत समझता है। प्रणय से सम्बन्धित केवल एक कविता है जो सम्पूर्ण संकलन को रसमय करने की शक्ति रखती है। पंत जी का मर्यादित हृदय यहाँ अधिक अधीर और बन्धनमुक्त हो गया है। प्रणय-व्यापार का यहाँ खुल कर वर्णन हुआ है। 'वसन्त', 'तितली', 'छाया', 'बाँसों का झुरमुट', 'सन्ध्या' आदि प्रकृति-सौन्दर्य की आकर्षक रचनाएँ हैं।

'युगान्त' तक आते-आते पंत जी अपनी भाव-चेतना में हुए व्यापक परिवर्तन का संकेत इन शब्दों में देते हैं—" 'युगान्त' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था जिसे 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र' अथवा 'गा कोकिल बरसा पावक कण' ··· आदि रचनाओं में मैंने वाणी दी है। इस नवीन भावबोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव-युग' का कलात्मक रूप-मोह ('पल्लव' की भूमिका जिसका निदर्शन है) पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आंदोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश से ऐसा आन्दोलित रहा कि 'पल्लव', 'गुंजन' की सूक्ष्म-कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को परिवर्तित एवं परिणत रूप में, संभवतः 'अतिमा-वाणी' के छन्दों में, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ।"[१] इस प्रकार इस संग्रह में भाव-वैभव की विशदता है। कलात्मक रूप-मोह का आग्रह कम होने पर भी कला की दृष्टि से युगान्त का अपना महत्त्व है। 'पल्लव' की विशद कलाकारिता न होते हुए भी भावना वैसी ही कोमल कान्त है। सौन्दर्य-बोध इस स्तर पर भी विद्यमान है, केवल उसके विषय और आयाम बदल गये हैं। यह सौन्दर्य-बोध यहाँ यथार्थ के जीवन्त स्पर्श के लिए लालायित है। इसकी रचनाओं के सम्बन्ध में डॉक्टर नगेन्द्र का विचार इस प्रकार है— "युगान्त की कविताएँ चिन्तन-प्रधान हैं, ३४-३५ में लिखी हुई प्रायः सभी कविताओं में एक दार्शनिक गाम्भीर्य मिलेगा—साथ ही, इन समस्त

---

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १११-११२।

कविताओं में एक सूत्र गुम्फित मिलेगा, एक अन्तर्धारा मिलेगी जो कवि के तात्कालिक विचारों और भावनाओं से सम्बन्ध रखती है। इन सभी में मानव-जगत् की मंगलाशा ओतप्रोत है। 'पल्लव' का करुण क्लिष्ट भाव जो गुंजन में जाकर समझौते का रूप धारण कर चुका था, युगान्त में आकर पूर्णतया मांगलिक कामनाओं का वाहक बन गया है। इन कृतियों में कवि जगत् के जीर्ण उद्यान में मधु-प्रपात लाने की शुभाकांक्षा बार-बार करता हुआ देखा जाता है। उसका तृप्त हृदय मानव-हित से पूर्ण हो गया है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन का पूर्णता स्थापित करने की शुभेच्छाओं से आकुल है।"[1] वास्तव में यही शुभेच्छा युगान्त में प्रतिफलित हुई है। भाव-चेतना के साथ ही कला-शिल्प में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन है—"गुंजन में जो कला तितली के पंख लेकर उड़ी थी, वह युगान्त में आकर मांसल हो गयी है। उसके लघु गीत अब पृथु एवं बलिष्ठ हो गये। जैसा कवि ने स्वयं लिखा है 'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमल कान्त कला का अभाव मिलेगा। भाषा में, 'ज्योत्स्ना' के गीतों की रुनझुन नहीं है। उसमें एक सबल ओज है। कवि को यहाँ अवांछित काट-छाँट की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिए युगान्त की भाषा में वांछित महाप्राणता है। उसकी व्यंजना-शक्ति अत्यन्त विकसित एवं सशक्त है।"[2]

इस प्रकार 'वीणा' से 'युगान्त' तक कवि का विकास प्रकृति से मानव और कल्पना से चिन्तन की ओर नारी-कला से पौरुष-कला की ओर है। परन्तु उसमें सौन्दर्य-भावना की प्रधानता है और अन्त में उसका दृष्टिकोण भूत और आत्मा के समन्वय की ओर उन्मुख होता है, जिस पर गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है, जिसमें भूत में चेतना और शरीर में आत्मा, समाज में व्यक्ति की ओर आकर्षण है और नवयुग के निर्माण की मांगलिक भावना के आधार ये ही केन्द्र हैं।"[3]

युगवाणी— बापू! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान!
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण![4]

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ११३।
२. वही—पृ० ११६।
३. सुमित्रानन्दन पंत—गोपाल कृष्ण कौल (संकलित), शचीरानी गुर्टू, पृ० १३८।
४. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।

'युगान्त' की अन्तिम कविता 'बापू' के प्रति है और 'युगवाणी' का आरम्भ 'बापू' कविता से हुआ है। "गांधी जी ने न केवल पंत की काव्य-भूमि को अपने प्रकाश से दीपित किया है वरन् उसके चैतन्य प्रकाश से पंत की अन्तर्जगत् आध्यात्मिक आस्था को सबल और जीवन्त करके राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की पूर्ति की ओर लगा दिया।"[1] 'युगान्त' में कवि छायावाद की सौन्दर्य-भावना और गांधीवाद को आध्यात्मिक चेतना के साथ था। सौन्दर्य और अध्यात्म के लिए भूतल का आधार न मिलने के कारण उसके मन में असन्तोष था। वह अभाव का अनुभव करता था, निदान उसे नहीं मिल रहा था। इसी समय युगवाणी में कवि को मार्क्सवाद का अवलम्ब मिल गया। 'युगवाणी' की पृष्ठभूमि में वास्तव में दो विचारधाराओं का संघर्ष स्थापित किया गया है। कवि स्वयं बापू के आदर्शों की ओर झुका हुआ है और उसका मस्तिष्क धीरे-धीरे मार्क्स की ओर झुक रहा है। 'युगवाणी' में इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय कवि चाहता है। वह वैयक्तिक अन्त-र्जगत् को गांधी के आदर्शों से और स्थूल बाह्य जगत् को मार्क्स के सिद्धान्तों से अनुप्राणित करना चाहता है। 'युगवाणी' इन्हीं के समन्वय की भूमि है।[2]

'युगवाणी' में १९३७-३८ में कालाकाँकर प्रवास के समय रचित कविताएँ सकलित हैं। इसका प्रकाशन सन् १९३९ में हुआ। इस संग्रह के सन्दर्भ में दिनकर जी का यह कथन द्रष्टव्य है—" 'युगवाणी' पहली बार सन् १९३९ ई० में निकली जब पंत जी श्री अरविन्द के प्रभाव में नहीं आये थे, फिर भी तब से लेकर आज तक उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे समझने में युगवाणी कुञ्जी का काम देती है। जो लोग पंत-काव्य को ऐतिहासिक क्रम से नहीं देखते हैं उनके मनों पर यह प्रभाव है कि पंत जी पहले कल्पना के कवि थे, तब वे मार्क्सवादी हो गये और अन्त में मार्क्सवाद से भी निराश हो जाने पर मन से वे पाण्डिचेरी में निवास करने लगे हैं। किन्तु यह मत मुझे निराधार मालूम होता है।......पंत के विचारों में आकस्मिक परिवर्तन कभी नहीं आया। कम-से-कम उनके विचारों में क्रांति जैसी कोई घटना नहीं घटी हुई है। वे स्वाभाविक गति से वर्द्धित और विकसित होते रहे हैं।"[3]

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० २९६।
२. पंत—आधुनिक कवि—फूलचन्द्र पाण्डेय, पृ० १६४।
३. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० १०१।

इस संग्रह में कवि ने युग-वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान की है—"मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयास किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किञ्चित् मात्र आभास इसमें मिल सका तो अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा।"[1]

इसके अतिरिक्त मैंने मार्क्सवाद के लोक संगठन रूपी आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।[2] सम्पूर्ण युगवाणी में प्रायः दो प्रकार की कविताएँ हैं। पहला वर्ग प्रगतिवादी सिद्धान्तों से सम्बन्धित है और दूसरा प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं से पूर्ण है। इस विषय में स्वयं कवि का कथन द्रष्टव्य है—"युगवाणी में प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक कविताओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती है,—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचार-धाराएँ मिलती हैं—

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

(३) पिछले युगों के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों को तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव, जनसमाज का पुनर्सङ्गठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार।

(५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता, राग भावना का विकास तथा नारी-जागरण।"[3]

युगवाणी के कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में पंत जी का कहना है कि—"युगवाणी को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा कि उसमें काव्यात्मकता का अभाव है, प्रत्युत उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचारभावना प्रधान है। युग के खण्डहर पर युगवाणी का काव्य-सौन्दर्य प्रभात के ईशत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला प्रेमी, ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटा कर, सहज ही देख सकते हैं।"[4] उनका विचार है कि "जब हम कला को

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, (विज्ञापन)
२. वही—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४।
३. वही, पृ० २।
४. वही, पृ० १।

जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं, तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। 'युगवाणी' में यह बात कई तरह व्यक्त की गयी है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है।"[1] इसलिए युगवाणी नयी दृष्टि की सूचना तो देती है पर नये काव्य-विकास के उपकरणों को यथेष्ट मात्रा में 'आकलित' नहीं करती। कदाचित् इसीलिए वह 'गद्य गीत' के नाम से अभिहित की गयी है। वह केवल मार्क्स और गांधी के व्यक्तित्व और उनके आदर्शों का आभास देकर रह गयी है। गांधी युग की सक्रियता, विद्रोह, संघर्ष आदि के तत्त्वों को आत्मसात् नहीं कर पायी है।

ग्राम्या

> यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित[2]

'ग्राम्या' का प्रणयन युगवाणी की पृष्ठभूमि में ही हुआ है। इसमें दिसम्बर, १९३९ से फरवरी, १९४० तक की रचनाएँ संकलित हैं, जिसका प्रकाशन भी १९४० में ही हुआ। इस काव्य संग्रह के साथ ही कवि की काव्य-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण काल-खण्ड समाप्त होता है। इसमें ग्राम्य-जीवन की यथार्थता, वहाँ की प्रकृति, वहाँ की अनेक समस्याओं का चित्रण हुआ है। गाँवों की दीन-हीन अवस्था, रीति-रिवाज, ग्रामीणों की निश्छल, भोली भावनाओं पर भी कवि की दृष्टि गयी है। इस प्रकार जीवन्त यथार्थ के चित्रण का प्रयास हुआ है। इस काव्य-संग्रह पर समीक्षात्मक दृष्टिपात करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"युगवाणी प्रगतिवादी पंत का सिद्धान्त वाक्य था, ग्राम्या उनका प्रयोग। युगवाणी में पंत जी अपने नवीन सिद्धान्तों की रूपरेखा निश्चित कर रहे थे। सिद्धान्त अमूर्त होते हैं। इसलिए युगवाणी में रस से पुष्ट मांस नहीं है। ग्राम्या तक वे सिद्धान्त स्थिर कर चुके थे और अब उन्होंने उसके प्रयोग के लिए एक मूर्त आधार चुन लिया है। स्वभावतः ग्राम्या की स्नायुओं में कवित्व का गाढ़ा रस प्रवहमान है, उसके अङ्ग भरे हुए और यौवन पीन हैं।"[3] वस्तुतः ग्राम्या में पर्याप्त कवित्व है और इस दृष्टि से इसे युगान्त और

---

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
२. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।
३. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३६।

युगवाणी की पूरक कह सकते हैं। युगवाणी के अमूर्त सिद्धान्तों को मूर्त करने में ग्राम्या एक सीमा तक सफल हुई है। उसका रूप-विन्यास केवल विचार-प्रधान न होकर साहित्यिक है। इसके साथ यह तथ्य ही द्रष्टव्य है कि ग्रामीणों के प्रति कवि की अनुभूति मात्र बौद्धिक है। इसकी स्वीकृति कवि ने स्वयं ग्राम्या के 'निवेदन' में की है—इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम जीवन में मिल कर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गयी हैं।[१] क्योंकि ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।[२] अर्थात् यथार्थ को भी कवि ने आदर्श के अनुबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। दूसरे शब्दों में परिवर्तित सौन्दर्य दृष्टि द्वारा कवि ने ग्राम्य-जीवन का संस्कार करना चाहा है। उनका लक्ष्य ग्राम-जीवन का सौन्दर्य-निरूपण न होकर वहाँ की कुत्सा को व्याख्यायित करना है। इसीलिए इसकी कविताएँ व्यंग्यपरक हैं।

पंत जी के शब्दों में—" 'ग्राम्या' के भावपक्ष में—जिसे मैंने कोरी भावुकता से बचाकर सहानुभूतिपूर्वक, मान्यताओं के प्रकाश में सँवारा है—लोक-जीवन के कलुष पंक धोने के लिए नवमानव की अन्तर पुकार है।" 'कला-पक्ष' के सम्बन्ध में उनका कहना है कि—" 'ग्राम्या' में ग्राम-जीवन के भाव-क्षेत्र के अनुरूप कला-शिल्प वर्तमान है।"[३] वास्तव में यदि हम इस दृष्टिकोण से उनकी इन कविताओं को मूल्यांकित करें तो उचित होगा। जैसा कि कुछ आलोचकों को इनमें कला-ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर हुए हैं। भाव-क्षेत्र के अनुरूप कला-शिल्प का प्रयोग कला की विशिष्टता ही है। 'ग्राम्या' की कविताओं के कला-सौन्दर्य को निरूपित करते हुए दूधनाथ सिंह जी कहते हैं—"ग्राम्या की कविताएँ पंत जी के सारे प्रयासों में अप्रतिम हैं, उनकी सहजता, अनुभवगत सक्षमता और यथार्थ का गहरा, सर्वसुलभ और यथातथ्य चित्रण सहसा चकित कर देते हैं। व्यंजना की अन्यतम गहराइयों में प्रवेश करके अर्थों की अनेक दिशाएँ संकेतित करने वाले कवि का अभिधा के सीधे-सादे वर्णनात्मक धरातल पर उतर आना निश्चय ही प्रशंसनीय है……। …… 'ग्राम्या' या 'युगवाणी' का

---

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, (निवेदन)।

२. वही।

३. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११३।

काव्य-सौन्दर्य उसके यथार्थ की व्यथा में अंकित है। पहली बार भारतीय जन-समूह को इतने निकट से और इतनी निर्मम तटस्थता से देखने का प्रयास सम्पूर्ण भारतीय कविता में हुआ है। ……'ग्राम्या' की कविताएँ अभिव्यक्ति और भाषा या शिल्प-तंत्र के स्तर पर ओज भरे ऐश्वर्य का निराकरण करती हैं। इस तरह कथ्य के अनुरूप ही पंत जी ने एक नयी भाषा, शिल्प-तंत्र और प्रणाली का आविष्कार किया है।"[1]

मार्क्सवाद : गांधीवाद और पंत—कविश्री पंत मार्क्स एवं गांधी दोनों की विचारधाराओं से प्रभावित हुए। परन्तु उन्होंने इन विचारधाराओं को उनके मूल रूप में आत्मसात् न कर उन्हें अपने जीवन-दर्शन एवं काव्य-विचार के अनुरूप ग्रहण किया है। इन प्रभावों के विषय में उनका कथन है—"मैं, अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन-सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामंतकालीन परिस्थितियों के कारण, जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है। दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उनके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं, और मार्क्स के दर्शन की पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण जो वर्ग-युद्ध और रक्त-क्रान्ति में परिणत हुई है, ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।"[2] मार्क्सवाद का स्वागत मुक्त हृदय से करते हुए उन्होंने गांधी से उसके समन्वय की आवश्यकता अनुभव की। समन्वय के सत्य को स्वीकार करते हुए दोनों दर्शनों का महत्त्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—"हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का बोध सापेक्ष है, परम सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म-दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन-शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है। सामंतकालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन-मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।"[3] इस विचारधारा के साथ ही पंत मार्क्स के भौतिक दर्शन को इस रूप में स्वीकार करते हैं कि स्थूल के अस्तित्व के साथ सूक्ष्म की सत्ता भी

१. तारापथ की भूमिका (सम्पूर्णता का कवि)—दूधनाथ सिंह, पृ० ३३-३४।
२. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५३।
३. वही, पृ० ५३।

है और द्वन्द्वात्मक नियम दोनों पर लागू होंगे। इन दोनों के परस्पर द्वन्द्व से नवीन सत्यों का निरूपण होता है। ऐसी उनकी मान्यता है।

आलोच्य-काल कवि के आत्म-मंथन का काल था। उसका मन समाज की भौतिक उन्नति के लिए लालायित था और इसके लिए वह समाधान ढूँढ़ रहा था। इसीलिए मार्क्स के प्रति उसके प्रशंसा-भाव जगे परन्तु उसके अमिश्रित भौतिकवाद के दर्शन से उसे विरक्ति हुई इसलिए वह गांधी की ओर झुके। गांधी जी को उन्होंने राजनीति नहीं बल्कि संस्कृति के नेता के रूप में देखा और साथ ही, यह भी देखा कि वह राजनीति के अखाड़े का प्रयोग भी मनुष्य के आन्तरिक गुणों के विकास के लिए करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण कवि को अत्यन्त उचित प्रतीत हुआ। उनके प्रयोगों को देखकर विश्व के चिन्तक भी यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे कि गांधी जी मानवीय समस्याओं का तात्कालिक समाधान नहीं चाहते। वे तात्कालिकता से ऊपर उठ कर कुछ ऐसी बातों की खोज कर रहे थे जो मानवता को कुछ शाश्वत परिष्कार दे सके। मार्क्स ने मनुष्यों को सुधारने के लिए सत्ता की शक्ति का प्रयोग किया। गांधी जी मनुष्य के भीतर प्रवेश करके उसे वहीं से जाग्रत करने का प्रयत्न किया। मार्क्स के अनुसार मनुष्य की भौतिक आवश्यकता ही एकमात्र ध्येय थी। परन्तु गांधी जी ने आध्यात्मिक आवश्यकता को भी महत्त्वपूर्ण बताया और कहा कि दोनों आवश्यकताओं का समाधान साथ-साथ होना चाहिये। 'मनुष्य की भीतर से जागने' वाली बात पंत को श्रेष्ठ लगी और इसके लिए उन्हें राजनीति और अर्थनीति की अपेक्षा संस्कृति अधिक काम्य प्रतीत हुई—'आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित' (ग्राम्या) सांस्कृतिक उत्थान द्वारा समाज के परिष्कार के लिए 'लोकायतन' की महत् योजना उनकी इसी विचारधारा का परिणाम है।

पंत जी गांधी जी के प्रति इसलिए आग्रहशील रहे कि उनके द्वारा प्रतिष्ठित जीवन-मूल्य कवि की मानसिकता के अनुकूल हैं। उनकी मानसिकता क्रान्ति के उस रूप को कदापि स्वीकार नहीं करती जिसकी अन्तिम परिणति रक्तपात में हो। वे जिस परिवर्तन की कामना करते हैं, उसमें मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना निहित है। इसीलिए उन्होंने गांधी जी की कल्याणकारी भावधारा एवं मार्क्स के क्रान्तिकारी भावधारा का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया। कवि के शब्दों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है—"मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन-रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक

ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।……पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[१]

मार्क्स से प्रभावित होने के कारण कुछ आलोचकों ने उन्हें मार्क्सवादी की संज्ञा दी परन्तु सत्यता यह है कि किसी भी एकाकी विचारधारा के प्रति पंत ने अपनी पक्षधरता स्थिर नहीं की। मार्क्सवाद को उन्होंने किस सीमा तक ग्रहण किया है, इसकी पुष्टि स्वयं उन्हीं के कथनों द्वारा होती है, जिनका उल्लेख आवश्यक है—

(१) "मेरा काव्य प्रथमतः इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। जो लोग युग-संघर्ष तक ही सीमित रह कर उसे केवल बाहरी राजनीतिक, आर्थिक स्तरों पर ही देख सकते हैं उनकी बात मैं नहीं करता। आज के विराट् मानवीय संघर्ष को वर्ग-संघर्ष तक ही सीमित करना विगत युगों की स्वर्ण चेतना तथा ऐतिहासिक अंधकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया मात्र है।……उन अर्थों में मैं मार्क्सवादी कभी नहीं रहा।"[२]

(२) "मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त) आदर्शवाद में है, जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है, किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्ग-युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा।"[३]

(३) "मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रान्ति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ।"[४]

वस्तुतः मार्क्स के गम्भीर, आर्थिक, सामाजिक सिद्धान्तों तथा विचार-निर्णयों को 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में सहज ही वाणी प्राप्त हुई है जिनसे सम्भवतः हिन्दी में प्रगतिवाद का नया चरण आरम्भ हुआ।

---

१. युगवाणी (दृष्टिपात)—सुमित्रानन्दन पंत।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
३. वही (प्रस्तावना), पृ० ८३।
४. वही, पृ० ६६।

भावपक्ष

यथार्थ-बोध —छायावाद के वैचारिक सौन्दर्यात्मक मंच से उतर कवि युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में जीवन के कठोर सत्य की ओर अग्रसर हुआ है। आलोच्यकाल पंत जी की सम्पूर्ण काव्य-यात्रा का महत्त्वपूर्ण काल-खण्ड रहा है। इन्हीं दिनों कल्पना-लोक से उतर कर उन्होंने जन-साधारण के कष्टों को समीप से देखा। सौन्दर्य एवं सामंजस्य के अभिलाषी कवि के मन में इन कठोर सत्यों का साक्षात्कार कर परस्पर-विरोधी भावों का संघर्ष उत्पन्न हो गया तथा वह इन समस्याओं का समाधान खोजने में प्रयत्नशील हुआ—"इस युग में जीवन के वातावरण तथा रहन-सहन का निरीक्षण-परीक्षण मैं अधिक अच्छी तरह कर सका और अपने आर्थिक-राजनीतिक विचारों तथा सांस्कृतिक भावना और कवि-कल्पना की पृष्ठभूमि में उसे ग्रहण कर उसके पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार करने लगा। मेरे सौन्दर्य-प्रेमी हृदय को गाँवों की अत्यन्त दयनीय दुरवस्था को देखकर अनेक बार कठोर आघात भी लगे हैं और मेरा विचार-जगत् क्षुब्ध तथा विचलित होता रहा है। अनेक रूप से मैंने अपने व्यक्तिगत तथा लोक-जीवन के अवसाद को उस काल की रचनाओं में वाणी दी है......प्रकृति-निरीक्षण, अध्ययन तथा ग्राम-जीवन की विपन्नता का विश्लेषण, कालाकाँकर के निवास-काल के मेरे प्रमुख जीवन-आलम्ब रहे हैं।"[1] देहात में पंत जी के सम्मुख एक सर्वथा नवीन एवं अपरिचित संसार उद्घाटित हुआ जिसने उनके तरुणालोचित स्वच्छन्दतावादी स्वप्नसृष्टि को परिवर्तित कर दिया। कवि जीवन को अब यथार्थ दृष्टि से देखने लगा। जीवन के यथार्थ चित्रों का आकलन प्रथम बार उनकी कविताओं में दृष्टिगत हुआ। युगान्त में श्रमिक जनता की अभावग्रस्तता का यथार्थ चित्र देखिए—

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग।[2]

'युगान्त' तथा 'युगवाणी' नामक संग्रहों में मुख्यतया साधारणीकृत भाववादी रूप में प्रस्तुत कल्पनाओं एवं विचारों को 'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में जीवन्त ठोसपन तथा यथार्थ परिस्थिति के साथ अनुभवजनित सम्बन्ध प्राप्त

---

१. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५३।
२. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४।

हुआ है।[१] छायावाद के दिशाहीन शून्य आकाश में उड़ान भरने वाली कवि की कल्पना को अब ठोस जनपूर्ण धरती का आधार मिल गया। वह कह उठता है—

देखो भू को
जीव प्रसू को
हरित-भरित
पल्लवित-मर्मरित
कूजित-गुंजित
कुसुमित
भू को[२]

अब कवि की आँखों के सामने दारिद्र्य, दुःख एवं अज्ञान के भयानक एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित होते है। वह जहाँ भी दृष्टि डालता है, उसे अत्याचार एवं बल-प्रयोग दिखायी देता है। निराशाग्रस्त लोगों की आँखों के आँसू भी अब उसे दिखायी देते है। इन लोगों के आनन्द-शून्य जीवन के यथार्थ चित्र कवि ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत किया है। युगवाणी की **'कृषक'** शीर्षक रचना में अभागे, शोषित किसान का दीन-हीन यथार्थ रूप-चित्र अंकित किया है—

विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
वही खेत गृह द्वार वही वृष, हँसिया औ हल।
× × ×
वह संकीर्ण, समूह-कृपण, स्वाश्रित, पर पीड़ित,
अति निजत्व-प्रिय, शोषित, लुण्ठित, दलित क्षुधार्दित।[३]

यथार्थवादी अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से इस संग्रह की **'नर की छाया'** शीर्षक रचना महत्त्वपूर्ण है। नारी-दशा की वास्तविकता देखिए—

वह नर की छाया नारी!
चिर नमित नयन, पद विजड़ित

---

१. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० १४५।
२. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १७।
३. वही, पृ० ३३।

वह चकित, भीत हिरनी-सी
निज चरण-चाप से शंकित
मानव की चिरसहधर्मिणी,
युग-युग से मुख अवगुण्ठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप-शिखा-सी कम्पित[1]

चतुर्थ पंक्ति का 'सहधर्मिणी' शब्द ध्यातव्य है। उसके बाद की पंक्ति में 'युग-युग से अवगुण्ठित' की असंगति में यह शब्द अद्भुत व्यंग्य की सृष्टि करता है। इसी प्रकार अन्त की दो पंक्तियों में 'स्थापित' और 'दीपशिखा-सी कम्पित' में व्यंग्य है। पंक्तियों का भाव है कि कँपती लौ वाले दीपक को हवा से बचाने के लिए कोने में रख दिया जाता है, उसी प्रकार स्त्री को कोने में छिपा कर रख दिया जाता है कि कहीं बाहर आने से वह नष्ट न हो जाय। 'स्थापित' शब्द के भारीपन में जो व्यंग्य-भाव है तथा हवा से बचाने में जो उपहास का स्वर है वह इस भावार्थ से अधिक तीव्र प्रभाव की सृष्टि करता है। साथ ही, अन्याय के प्रति कवि का आक्रोश भाव भी व्यंग्य और उपहास में ही सन्निहित है।

यथार्थवादी शैली की दृष्टि से 'ग्राम्या' कवि की प्रमुख कृति है। इसकी अधिकांश रचनाएँ यथार्थवादी हैं। 'ग्राम्या' के नायक हैं—सजीव जन। इस संग्रह में हम देखते हैं यथार्थपूर्ण प्रतिनिधिकता और जीवन्त साकारता। अनिमेष नेत्रों से चारों ओर देख, तथ्यों को कुशलता से छानबीन, कलापूर्ण ढङ्ग से समझ-बूझ और उसका साधारणीकरण कर कवि हमारे सामने जैसे कृषकों के पोर्ट्रेटों की एक प्रभावोत्पादक चित्रशाला ही प्रस्तुत कर देता है।[2] ग्रामों में रहने वाले दीन-हीन, कुत्सा, मलिनता और दरिद्रता से आक्रान्त तथा शोषण से पीड़ित जीवन की परिभाषा को भी लज्जित करने वाले हैं। ऐसे ही ग्राम का चित्र पंत जी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

यहाँ खर्व नर (वानर ?) रहते, युग-युग से अभिशापित
अन्न-वस्त्र पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित

× × ×

१. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० १४६।

२. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।

झाड़ फूँस के विवर-यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ? बुद्धि प्राण नारी नर ?[१]

ग्रामीण-जीवन के ऐसे ही दीनतामय चित्र कवि ने 'ग्राम बच्चे', 'वह बुड्ढा', 'वे आँखें', 'ग्राम युवती' आदि कविताओं में अंकित किये हैं। 'वे आँखें' रचना में घोर दुःख का मनोविज्ञान से परिपुष्ट और अत्यधिक सशंक चित्र अंकित हुआ है। दुःखी मानव की शब्दातीत वेदना से भरी हुई दृष्टि कवि की आत्मा को चीर देती है और वह कह उठता है—

अन्धकार की अतल गुहा-सी
अह उन आँखों से डरता मन[२]

यह आँखें व्यथित जनता के दुःख का प्रतिबिम्ब हैं जो दया के लिए मूक प्रार्थना कर रही हैं। इसी प्रकार, 'वह बुड्ढा' शीर्षक रचना भी यथार्थ शैली से पुष्ट है। यह कविता आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त सशक्त एवं भाव-परिपुष्ट कविताओं में से है। दरिद्र बुड्ढे की ऐसी मर्मस्पर्शी मूर्ति कवि ने अंकित की है कि वह हमारी आँखों के सामने सजीव हो उठती है—

खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
सिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी,
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।[३]

भारतीय ग्रामवासियों के विविध स्तरों के रेखांकन के क्रम में कवि जब प्रकृति के उल्लास भरे चित्रों के स्थान पर जन-साधारण के आनन्दशून्य जीवन का चित्रण करता है तो सुख-स्पन्दन से परिपूर्ण करने वाले उषःकाल का प्रतीक जो प्रारम्भिक कृतियों में कवि को अत्यन्त प्रिय रहा है सर्वथा भिन्न छटाओं में रँग जाता है। अब 'अकेला मौन प्रभात' एवं 'उदासी भरी सन्ध्या' कृषकों के जीवन की विभिन्न यथार्थ स्थितियों को चित्रित करते हैं। देखिए—

यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव-विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु, म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी।[४]

---

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४।
२. वही, पृ० २४।
३. वही, पृ० २४। ४. वही, पृ० १३।

पंत जी के इन यथार्थ चित्रों में उनके हृदय का योग नहीं है—इस तथ्य पर आक्षेप करते हुए डॉ० इन्द्रपाल सिंह अपने लेख 'प्रगतिवादी कवि पंत' में कहते हैं—"कवि ने ग्राम-जीवन को निकट से देखा है, भोगा नहीं है, इसलिए उसने उसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर दिया है, यहाँ तक कि धोबियों और चमारों के ध्वनि-चित्र और शब्द-चित्र अंकित करते हुए उनके द्वारा व्यंजित व्यंग्यों को ही उभारा है, किन्तु वह अपने हृदय का योग उसे नहीं दे सका है।"[1]

कदाचित् आलोचक ने 'ग्राम्या' की भूमिका पर जिसमें कवि ने ग्रामीणों के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति' की बात कही है, ध्यान दिये बिना यह आक्षेप किया है। यहाँ तो हृदय के योग का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

ग्राम्य-जीवन के यथार्थ चित्रों के आधार पर पंत ने सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराते हुए सामूहिक चेतना तथा विकास का मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में यथार्थ जगत् की स्थूल समस्याओं एवं साम्यवादी जीवन-दर्शन के प्रति पंत का आकर्षण तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न एक अस्थायी बौद्धिक जागरण-मात्र था, जो अधिक समय तक स्थिर न रह सका और वह पुनः अपने सहज रूप में हमारे सामने उपस्थित हुए। इसका विवेचन हम प्रसंगानुसार अपने अगले अध्याय में करेंगे।

नूतनता का आह्वान—'युगान्त' के साथ ही पंत जी प्राचीन जड़-रूढ़ रीतियों का अन्त कर देना चाहते हैं, इसीलिए उन्होंने नूतनता का आह्वान किया है। परिवर्तन एवं क्रांति के आकांक्षी कवि का कथन है—" 'युगान्त' की

---

१. कवि सुमित्रानन्दन पंत (सम्पादित) सम्पा० रामगोपाल सिंह और पी० जायसवाल, पृ० १५१।

२. 'ग्राम्या' की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किये हैं। 'ग्राम-जीवन' में मिलकर, उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम जनता को रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है और ग्रामों को सामन्त युग के खंडहर के रूप में।......शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन)—पंत, पृ० ५५-५६।

क्रांति भावना में आवेश है और है एक मनुष्यत्व के प्रति संकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहले परिवर्तन और फिर क्रांति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में बाहरी क्रांति की अभावात्मकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व को भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है। 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र', 'हे ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण' द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' में पल्लव-काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है—

गा कोकिल ! बरसा पावक कण !
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन[१]

के साथ ही हो पल्लव नवल मानवपन रच मानव के हित नूतनमय भी मैंने कहा है। यह क्रांति भावना जो साहित्य में अब प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है, मेरी ताज, कलरव आदि युगान्तकालीन रचनाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी हैं।''''युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रांति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती, उसे आत्मसात् करने का प्रयत्न करती है।[२] यथा—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान।
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।[३]

अथवा

मुझे स्वप्न दो मन के स्वप्न-आज बनो फिर तुम नवमानव।[४]

'युगान्त' में कवि निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त हो गया और नवीन युग का आरम्भ

१. मैं और मेरी कला—कवि सुमित्रानन्दन पंत में संकलित निबन्ध से उद्धृत, पृ० ३-४।
२. वही, पृ० ३-४।
३. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।
४. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५।

अवश्यंभावी है। इस संग्रह की लगभग सभी कविताओं में नूतनता के आह्वान का स्वर उपस्थित है। इसकी प्रथम कविता में नवयुग के सन्देश का स्वर देखिए—

निष्प्राण विगत युग मृत विहंग
जग नीड़ स्वप्न और साँसहीन
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन[१]

पंत जी चाहते हैं कि कवि के शब्द उज्ज्वल अग्निकणों की भाँति व्याकुल जन-हृदय में आशा की ज्योति जगा दें। ऐसे स्थलों पर वे कलाकार के सामाजिक कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कवि के उत्तरदायित्व की बात करते दिखायी देते हैं। वह कवि से चाहते हैं कि वह उसी प्रकार उच्च स्वर में और आह्वान-पूर्वक गाये जैसे स्वतन्त्र बिरहा गाता है—

गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग के संध्या की छवि
गा सके खगों-सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात फिर आवे रवि।[२]

जीवन को नवीन रूप में देखने को उत्सुक कवि को अपने स्वप्नों की साकारता के लिए रास्ता गांधी जी के विचारों में मिलता है और वह तुरन्त अपनी आशाओं और उमंगों को उनके साथ जोड़ देता है। गांधी जी को वह 'मानवतावाद के बीजारोपक', 'भावी संस्कृति के निर्माता', 'अंतस् के प्रबोध' कहते हुए मानते हैं कि गांधी जी का सर्वश्रेष्ठ सेवा-कार्य मानवतावाद, 'नवमानव संस्कृति' के विकास में ही निहित है। इसके अतिरिक्त वह यह भी मानते हैं कि नवीन संस्कृति को गतिहीनता और रूढ़िवाद से मुक्त, दिव्य-चेतना से मण्डित और महान् मानवतावाद के विचारों से पुष्ट होना चाहिए और यह केवल गांधी जी के उपदेशों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। गांधी जी नवीन संस्कृति के दूत हैं—

नव संस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य?[३]

---

१. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।
२. वही, पृ० ३२।
३. युगवाणी (बापू)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।

नवीनता के आह्वान के अनन्तर ही कवि ने प्राचीन रूढ़ियों पर प्रहार एवं नारी-स्वातन्त्र्य के स्वर को मुखर किया है। उनके अनुसार सामाजिक विषमता, धार्मिक, साम्प्रदायिक, वर्ण-विषयक तथा वांशिक अंधविश्वास और रूढ़िवादी परम्पराएँ मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक हैं। यह मानव को अलग-थलग कर देती हैं एवं उनमें अंधविश्वास और अविश्वास उत्पन्न करती हैं। इसीलिए वह आह्वान करते हैं—

आज मनुज को खोज निकालो !
जाति, वर्ण, संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो !
देश राष्ट्र के विविध भेद हर,
धर्म नीतियों में समत्व भर,
रूढ़ि रीतिगत विश्वासों की
अंध यवनिका आज उठा लो।[१]

कवि को लगता है कि रूढ़िग्रस्त किसानों का जीवन पूर्णतया अर्द्धशून्य, आश्रयरहित और लक्ष्यहीन है—

ये छाया तन, ये माया जन,
विश्वास मूढ़ नर नारीगण
चिर रूढ़ि रीतियों के गोपन
सूत्रों में बँध करते नर्तन[२]
× × ×
जहाँ दैन्य-जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन[३]

मानव के नव-निर्माण के मार्ग में बाधा डालने वाली सभी रूढ़िगत बातों का पंत जी विरोध करते हैं। उनके अनुसार धार्मिक कट्टरता ही सबसे घातक विष है, जो असंख्य मनुष्यों की चेतना को धुँधला कर देता है। 'ग्राम-देवता'

१. युगवाणी (बापू)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८६।
२. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २३।
३. वही, पृ० ६३।

(ग्राम्या) शीर्षक रचना में वह उस अंधविश्वास का डटकर विरोध करते हैं जो मन की इच्छाशक्ति छीन लेता है, उसके सुखमय एवं स्वाधीन जीवन-यापन में बाधा डालता है । भाव एवं आकांक्षाओं को निर्बाध रूप से प्रकट करने से उसे रोकता है । ऐसे 'ग्राम-देवता' को कवि 'तुम रूढ़िरीति की खा अफीम लो चिर विराम ।'[१] कह कर व्यंग्य करता है ।

ग्रामों के रूढ़ि रीतिग्रस्त दैन्य जीवन के साथ ही कवि की दृष्टि नारी की दयनीय एवं अधिकारहीन दशा की ओर भी गयी है और उन्होंने नारी-रक्षा के लिए भी अपनी आवाज उठायी । 'युगवाणी' की 'नारी' एवं 'नर की छाया' शीर्षक कविताओं में भाग्यहीन नारी का दयनीय चित्र उभरता है । इनमें कवि ने धार्मिक अंधविश्वासों में जकड़े भारतीय समाज पर प्रहार किया है । मध्य-युगीन नैतिकता के अन्तर्गत पूर्णतया पुरुष की इच्छा की अनुगामिनी एवं अपनी इच्छाओं और भावनाओं को भी उसी के अधीन रखने वाली वन्दिनी नारी का चित्र कवि ने 'नर की छाया' कविता में किया है—

पुरुषों ही की आँखों से
नित देख-रेख अपना तन,
पुरुषों ही के भावों से
अपने प्रति भर अपना मन

× × ×

वह नर की छाया नारी[२]

नारी-स्वातन्त्र्य की आवाज कवि नैतिक स्तर पर उठाता है । पुरुष के सम्मुख नारी की दासता की वह निन्दा करता है और युग-युग से चली आयी अन्यायपूर्णता और नारी की अधिकारहीनता के विरुद्ध उसके सम्मान एवं समान अधिकार की बात कहता है—

जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत
मुक्त करो जीवनसंगिनि को,
जननि देवि को आदृत,

---

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६१ ।
२. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२ ।

जग-जीवन में मानव के संग
हो मानवी प्रतिष्ठित ![1]

'ग्राम्या' में भी अनेक रचनाएँ नारी समस्या से सम्बन्धित हैं। यह मुख्य रूप से भारतीय ग्रामीण नारी की स्थिति का दिग्दर्शन कराती है। 'ग्राम युवती', 'ग्राम नारी', 'ग्राम वधू', 'स्त्री', 'आधुनिका', 'मजदूरनी के प्रति', 'नारी' शीर्षक कविताएँ विशेष रूप से नारी पर ही लिखी गयी हैं। इसके अतिरिक्त इस संग्रह की अन्य रचनाओं में भी इनकी समस्याओं का संकेत कवि ने किया है। उक्त कविताओं में नारी के अंधकारमय, आनन्दशून्य जीवन के यथार्थ प्रभावशाली चित्र अंकित हुए हैं। इन चित्रों में कवि ने अपने सौन्दर्य-विषयक आदर्श को वास्तविकता से सम्बद्ध किया है—सीधी-सरल ग्राम्य नारी में वह उच्चतम सौन्दर्य के दर्शन करता है। ग्राम-नारी और आधुनिका, दोनों की विरोधी स्थिति दिखाकर कवि नारी विषयक अपने आदर्श को प्रस्तुत करता है। यथा—

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म निष्ठ, अङ्गों की हृष्ट पुष्ट सुन्दर
× × ×
उसमें यत्नों से रक्षित, वैभव से पोषित
सौन्दर्य मधुरिमा नहीं, न शोभा सौकुमार्य,
वह नर की सहधर्मिणी, सदा प्रिय जिसे कार्य।
× × ×
वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति[2]

पंत जी ने नारी की इस प्रतिमा का अंकन नैतिक स्तर पर ही नहीं, अपितु सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी किया है। 'युगवाणी' में कवि 'अपनी चिरजीवनसंगिनी नारी' की स्वतन्त्रता का आह्वान करते हुए पुरुष द्वारा नारी की दासता की निन्दा करता है, परन्तु 'ग्राम्या' में वह इस बात पर दुःख प्रकट करता है कि वह समाज का एक अधिकारहीन सदस्य है। 'आधुनिका' शीर्षक कविता में कवि ने ग्राम-नारी के विरोध में उस नारी का चित्रण किया है जिसे बुर्जुआ समाज की संस्कृति एवं आचार-विचार ने कलुषित कर दिया

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५८।
२ ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २१।

है, वह मानवीय गौरव खोकर केवल प्रदर्शन की वस्तु बनकर रह गयी है, उसका एक चित्र देखिए—

लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली-सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता .रङ्ग-प्रणय धन पद मद, आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी ।[१] अस्तु ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि ने नवीनता का आह्वान कर मध्ययुगीन परम्परागत नैतिकता पर प्रहार किया है और जनता की चेतना को झूठे माया-जाल, ध्वंसावशेषों तथा अंधविश्वास से मुक्त कर नवजीवन लाने का प्रयास किया है ।

मानवतावाद—पंत जी मानवतावाद के पोषक सदैव से रहे हैं । आलोच्य-काल में कवि अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को क्रान्ति के आलोक में यथार्थ रूप से प्रस्तुत करते हुए नवमानव का अभिनन्दन करता है—

लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर, वीर जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक-शासित[२]

उनके मानवतावादी दृष्टिकोण पर गांधी जी के मानववाद का प्रचुर प्रभाव रहा है । 'युगान्त' की अन्तिम रचना 'बापू के प्रति' में वे उनके विचारों में अपने देशवासियों एवं समस्त मानवता के लिए स्वतन्त्रता का पथ ढूँढ़ते-से प्रतीत होते हैं । नवीन मानवतावादी संस्कृति के निर्माण के लिए गांधी जी के विचार ही ग्रहणीय हैं ।

पंत जी के अनुसार गांधी जी का सर्वोपरि सेवा-कार्य अहिंसा का पुनरुत्थान है जिसने जनता को दमन और हिंसा के लिए एक नया अस्त्र दिया और बताया कि घृणा का सामना घृणा से न करके प्रेम से करना चाहिए ।

'युगान्त' तक आते-आते कवि 'मानव' को सर्वथा यथार्थ धरातल पर ले आता है जबकि 'गुंजन' का 'मानव' यथार्थ सत्तासम्पन्न पार्थिव गुणों से पूर्ण

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३ ।
२. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५२ ।

जीवधारी के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। 'युगान्त' में वह 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' रूप में दृष्टिगत होता है। 'युगवाणी' में भी 'मानव' शीर्षक रचना संगृहीत है। इनमें मुख्य अन्तर यह है कि 'गुंजन' और 'युगान्त' में कवि ने मानव की समस्या को व्यक्तित्व के अस्तित्व की स्थितियों से पृथक् केवल भाववादी पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया है—यहाँ वह मानव की विश्व की पूर्णतम सृष्टि' की महत्ता पर ही रीझा है, जबकि 'युगवाणी' की 'मानव' कविता में वह मानव के अपूर्ण जीवन पर दुःख प्रकट करता है। जीवन की दरिद्रता, कुरूपता, अपमान, अंधकार, दुःख आदि पशुतुल्य स्थितियों का यथार्थ चित्रण करता है। मानव के इस अज्ञानमय जीवन का चित्रण कर कवि उसे जागृत एवं उज्ज्वल भविष्य की ओर प्रेरित करता है ताकि वह स्वतन्त्र एवं सुखी हो सके। यथा—

पशु जीवन के तन में
जीवन रूप मरण में
जाग्रत मानव।
सत्य बनाओ स्वप्नों को
रच मानवता नव,
हो नवयुग का भोर![1]

इस प्रकार 'युगवाणी' में प्रस्तुत मानवतावाद में सक्रियता के दर्शन होते हैं। भाव एवं कर्म के साम्य द्वारा कवि पृथ्वी पर नवमानव-संस्कृति से आलोकित मानव-निर्मित स्वर्ग की कल्पना करता है—

मुक्त जहाँ मन की गति जीवन में रति
भव मानवता में जग-जीवन परिणति
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हो जनवास, वसन, सुन्दर तन!
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित
नव-मानव-संस्कृति, किरणों से ज्योतित[2]

उक्त संग्रह की 'मध्य वर्ग', 'धनपति', 'कृषक', 'श्रमजीवी' आदि कविताओं में कवि ने मनुष्यों के भाग्यहीन जीवन के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उनके

१. युगवाणी – सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४।
२. वही, पृ० २४।

सामाजिक अस्तित्व को निकट से समझा है। यह उनके मानवतावाद के विकास का नवीन चरण है।

'धरा नव-मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित' होगी कहने के साथ ही पंत जी यह भी कहते हैं कि केवल साम्यवाद द्वारा ही धरती पर नव मानववाद की सृष्टि सम्भव है—

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।[1]

कवि के विचार में मानव के विकासशील जीवन का आधार समानाधिकार स्वतन्त्र जन-समाज होना चाहिये—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आधारित,
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।[2]

इस प्रकार कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण समानता पर प्रमुख रूप से आधारित है। किन्तु उनकी समानता संघर्ष से प्राप्त होने वाली नहीं है, उसके लिए हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है, तभी उनके अनुसार मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति सम्भव है।

मानवता के नव-जीवन का पथ आलोकित करने वाले मार्क्सवादी विचारों की भी पंत जी ने प्रशंसा की है। इसके लिए वे सर्वप्रथम मार्क्स का अभिनन्दन करते हैं—

धन्य मार्क्स! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।[3]

मानवतावाद सम्बन्धी मार्क्सवादी अनेक सिद्धान्तों का कथन पंत जी ने अपनी कविताओं मे किया है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,
पूरित होंगे जन के भवजीवन के निखिल प्रयोजन।

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३६।
२. वही, पृ० २४।
३. वही, पृ० ३८।

दिग्दिगन्त में व्याप्त निखिल युग-युग का चिर गौरव हर,
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर।[1]

× × ×

विकसित हो, बदले जब-जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, करगत सभ्यता समापन।[2]

'ग्राम्या' संग्रह में पंत जी का काव्य-नायक मानवतावादी मनुष्य का प्रतीक है। वह गहन सामाजिक अन्याय को सहता एवं पूर्ण जीवन के स्वप्न देखता है। इस संग्रह की 'ग्राम देवता' शीर्षक कविता हिन्दी में मानवतावादी विकास की प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रही है और मध्ययुगीन रूढ़िवादिता जो कि भारतीय ग्रामों में विशेष रूप से दृढ़मूल थी, के विरुद्ध कवि द्वारा छेड़े गये संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण आधार बिन्दु सिद्ध हुई है। 'ग्राम्या' की प्रायः सभी कविताओं में नवजीवन एवं उज्ज्वल भविष्य के विश्वास का स्वर झंकृत हुआ है। यह उज्ज्वल भविष्य तभी सम्भव होगा जब जन-जन में प्रेम के भाव जाग्रत एवं विकसित होंगे, जो सभी आत्माओं को शुद्ध कर उनमें सच्ची मानवता जाग्रत करेंगे। 'अहिंसा' शीर्षक कविता में पंत जी कहते हैं—

बन्धन बन रही अहिंसा आज जनों के हित,

× × ×

उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक[3]

कवि का प्रेम के प्रति भी यहाँ मानवतावादी दृष्टिकोण है, उनके अनुसार प्रेम एक ऐसी उच्चतम भावना है जो समस्त विश्व को शासित करती है। आज के युग की समस्या इस विश्व-प्रेम के भाव से सुलझ सकती है—

आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित,
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।[4]

मानवता को शुद्ध करने, जीवन को भारों से मुक्ति दिलाने एवं नवीन समाज की सृष्टि करने में प्रेम ही एकमात्र साधन है—इस विचार का समर्थन करने

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५० । २. वही, पृ० ४० ।
३. ग्राम्या—पंत, पृ० ९६ । ४. वही, पृ० ८९ ।

में पंत जी के मानवतावादी आदर्शों में भावात्मकता उत्पन्न हुई है। ऐसे स्थलों पर गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

इस प्रकार मानवतावाद का पोषण करते हुए पंत जी ने अपने काव्य में संसार के परिवर्तन के लिए जो आह्वान किया है वह सबसे पहले जनता के हृदय और चेतना में क्रान्ति लाने के उनके प्रयत्नों के रूप में आया है।

व्यंग्य—मध्ययुगीन रूढ़ि रीतियों एवं सामाजिक विकास में बाधा डालने वाली प्रायः सभी वस्तु पर पंत जी ने अपनी प्रगतिशील रचनाओं में प्रहार किया है। अपने कथन को तीव्रतर करने एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति को सशक्त बनाने के लिए उन्होंने वास्तविकता का व्यंग्योपहासपूर्ण रूपांकन किया है। 'युगवाणी' में कवि ने सैद्धांतिक निरूपण अधिक किया है इसलिए व्यंग्य की प्रवृत्ति अधिकांश रूप में 'ग्राम्या' संग्रह में प्रवृत्त हुई है। इस संग्रह की 'ग्राम-देवता' शीर्षक कविता इस दृष्टि से उत्तम कविता है। यह कविता दैनन्दिन के 'राम-राम' के साथ आरम्भ होने वाली और सर्वशक्तिमान् पाषाण देवता के प्रति विनोदपूर्ण प्रार्थना-माला के रूप में लिखी गयी है जिसमें निर्जीव मूर्ति के प्रति कवि का उपहासपूर्ण दृष्टिकोण प्रकट होता है। देखिए—

राम राम,
हे ग्राम देवता, रूढ़ि धाम !
तुम स्थिर परिवर्तन रहित कल्पवंत एक याम,
जीवन संघर्षण विरत, प्रगति पथ के विराम,
शिक्षक तुम, दस वर्षों से मैं सेवक, प्रणाम।[1]

'ग्राम्या' संग्रह की ही 'आधुनिका', 'ग्राम युवती', 'कठपुतले', 'वे आँखें', 'ग्राम वधू', 'सन्ध्या के बाद' आदि कविताओं में कवि ने सामाजिक रूढ़ि-रीतियों, अन्धविश्वासों, समाज एवं वर्ग-सभ्यता आदि पर विभिन्न प्रकार से व्यंग्य-प्रहार किये हैं। इस व्यंग्य-भाव का कारण है पंत की सौन्दर्य-दृष्टि में परिवर्तन। वह अपनी सौन्दर्य-दृष्टि द्वारा ग्राम-जीवन का संस्कार करना चाहते हैं। 'ग्राम्या' की कविताएँ कवि के ग्राम-जीवन से लगाव की द्योतक नहीं हैं वरन् उसके संस्कार की द्योतक हैं, इसलिए सभी जगह कवि की उक्तियाँ व्यंग्यपरक हैं। ग्राम्य नृत्यों में भी व्यंग्यात्मक अनुभूति की झलक है। वास्तव

1. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५७।

में 'ग्राम्या' शीर्षक का चयन ही कवि ने ग्रामों की कुरूपता को व्याख्यायित करने के लिए किया है।

प्रकृति – 'युगान्त' तक पहुँचते-पहुँचते पंत जी की काव्य-कला में परिवर्तन के साथ-साथ उसका आलम्बन भी परिवर्तित हुआ है। छायावाद में प्रकृति आलम्बन थी और प्रगतिवाद में मनुष्य आलम्बन हो गया। वैसे मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य सदैव से रहा है—

यह लौकिक औ प्राकृतिक कला
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा सृष्टि के साथ पला।[1]

परन्तु 'युगान्त' से प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गयी एवं मानव सामने आ गया। प्रकृति अब भी एक आदर्श दृष्टान्त के रूप में संश्लिष्ट है, अन्तर यह हुआ है कि प्रकृति की प्रतिमाएँ अब भाग्यहीन तथा अभावग्रस्त मानव-जीवन के अवलोकन के लिए पार्श्वभाग बन गयीं—

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य
किन्तु मानव जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज
कुसुम आतप खग।[2]

"पंत जी की प्रारम्भिक प्रकृति-विषयक रचनाओं की तुलना में 'युगान्त' के प्रकृति-चित्र आमतौर पर अधिक यथार्थ लगते हैं। आरम्भ में कवि संसार की ओर मानो ऐसी ऐनक के बीच में से देखता था, जो उसकी अनूठी कल्पना एवं भाववादी विचार-प्रणाली के रङ्ग में रँगी हुई थी, अब वह चतुर्दिक् की वास्तविकता को सीधे अपनी आँखों से निहारने लगा था।"[3]

कवि के प्रकृति-विषयक गीत के क्रम-विकास की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उनकी मानवतावादी प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर सशक्त होती गयीं। प्रेरणादायिनी प्रकृति क्रमशः पृष्ठभूमि में रहने लगी और उसमें

---

१. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३०।
२. वही, पृ० २४।
३. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० १०६।

ध्यान का केन्द्रबिन्दु अब मानव हो गया। पहले प्रकृति साध्य थी, अब मानवीय अनुभूतियों के सुस्पष्ट एवं सर्वाङ्गीण उद्घाटन का साधन मात्र बन गयी। प्रकृति के दिव्य महान् सौन्दर्य के स्थान पर अब कवि की दृष्टि जीवन-सार्थकता पर अधिक टिकती है।......

जो एक असीम, अखण्ड
मधुर व्यापकता,
हो गयी तुम्हारी
वह जीवन सार्थकता।[1]

पंत जी के लिए चिरनूतन, मानव से सदा सम्बद्ध रहने वाली प्रेरणा-दायिनी प्रकृति का सामंजस्य ही पूर्ण सौन्दर्य रहा है। ऐसा ही सामंजस्य वे मानव-जीवन में देखना चाहते हैं। इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ 'गुंजन' में हो चुका था, 'युगान्त' में इसका विकास हुआ और 'युगवाणी' में इसको प्रमुखता मिली। 'युगवाणी' की 'पतझर' कविता में पतझर ऋतु कवि के लिए केवल पतझर का ही प्रतीक नहीं है वरन् वह सृष्टि के नवीनीकरण का सन्देश लाती है। मानव के अज्ञानमय जीवन की तुलना पतझर से करते हुए कवि 'नये युगान्तर' का संकेत करता है। जैसे पतझर के बाद वसन्तोत्सव अवश्यम्भावी है वैसे ही अज्ञान के बाद ज्ञान का प्रकाश अवश्य विकीर्ण होगा, ऐसा कवि का विश्वास है—

पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगान्तर!
बीत गये बहु हिम बरसा, तप, विभव-पराभव,
जग जीवन में फिर वसन्त आने को अभिनव![2]

पतझर के उपरान्त प्रकृति के विकास एवं उसकी शोभा को देखकर कवि मानव जीवन के विकास एवं उसके सुख-वैभव की आशा का संकेत हमें देता है—

झरते हों, झरने दो पत्ते—डरो न किंचित्,
नव मुकुल मंजरियों से मन होगा शोभित।
सदियों में आया मानव जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगेगे नव मधु का वैभव वर।[3]

---

१. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२।
२. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४।
३. वही, पृ० १०।

कवि के लिए प्रकृति-सौन्दर्य अब केवल पल्लवों के मर्मर तक ही सीमित नहीं रह गया वरन् अब वह भू-विषयक एवं भू-उन्मुख हो गया है—

देखो भू को !
जीव प्रभू को !
हरित-भरित
पल्लवित-मर्मरित
कूंजित गुंजित
कुसुमित
भू को ![1]

बल्कि मानव सौन्दर्य के समक्ष प्रकृति-सौन्दर्य फीका पड़ गया है—

हार गयी तुम
प्रकृति !
रच निरुपम
मानव कृति

× × ×

पूर्ण हुई तुम, प्रकृति !
आज बन मानव की कृति ![2]

× × ×

मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक, सुन्दर[3]

इस प्रकार, 'युगवाणी' में आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली-ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय···सौन्दर्य देखेंगे, जिससे नव-प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं, जहाँ शाखा-प्रशाखाओं के अन्तराल से जिनमें अब भी कुछ विपर्ण पत्ते अँटके हुए हैं—छोटे-बड़े, तरह-तरह के भावनाओं के नीड़, जाड़ों की ठिठुरती-काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर नवीन कोपलों से छनते हुए नवीन

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६।
२. वही, पृ० ७८।
३. वही, पृ० १६।

आलोक तथा नवीन उष्णता का स्पर्श पाकर, फिर से संगीत मुखर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।[४]

इसका मुख्य कारण है चिन्तन के क्षेत्र में बौद्धिकता की ओर कवि का झुकाव। प्रकृति को निरपेक्ष सत्ता के रूप में न देख कर कवि उसे अब समाजगत मानव के परिपार्श्व में देखता है। उक्त संग्रहों में कुछेक रचनाएँ प्रकृति के वर्णनात्मक चित्रण से सम्बन्धित भी हैं। जैसे 'युगान्त' की 'बाँसों का झुरमुट', 'युगवाणी' की 'झंझा में नीम', 'दो मित्र' इत्यादि। इनकी विशिष्टता यह है कि इनकी शैली पंत की प्रारंभिक प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से सर्वथा भिन्न यथार्थवादी शैली है। यथा—

वृक्ष शिखर से भू पर
शत-शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर
मरुत,—कम्प, अर ! ... ...
झूम-झूम, झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्झर
सिहर-सिहर थर्-थर्-थर
करता सर मर
चर मर।[२]

'ग्राम्या' संग्रह में प्रकृति के अत्यन्त उत्कृष्ट चित्र एक के बाद एक अंकित हुए हैं। सुन्दरता एवं सरसता की दृष्टि से यह हमें पंत जी के प्रारंभिक गीत मुक्तकों की याद दिलाते हैं परन्तु 'ग्राम्या' की प्रकृति-विषयक रचनाएँ प्रकृति-विषयक विकास की दृष्टि से उन प्रारंभिक रचनाओं से मूलतः भिन्न हैं। इनमें 'बादं' 'चाँदनी' (छायावादी कविताएँ) कविताओं जैसी मीनाकारी नहीं है। इनमें प्रकृति का यथातथ्य रूपांकन हुआ है। वे सभी कविताएँ ग्राम-प्रकृति से सम्बन्धित हैं। कवि आनन्दोल्लसित नेत्रों से ग्रामश्री की शोभा को निहारता है। प्रभात के झिलमिलाते ओस-कण कवि को हीरक-हार-से प्रतीत होते हैं। गंगा के चाँद-किरण-स्नात प्रवाह को कवि मुग्ध दृष्टि से देखता है। नये पके फलों की गन्ध, खेतों में पक रहे अनाजों की सुवास एवं फूलों एवं घास की सुगन्ध

१. शिल्प और दर्शन—(दृष्टिपात)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३।
२. युगवाणी—पंत, पृ० ६३।

जैसे कवि को पागल किये देती है। प्रकृति के रम्य चित्रण के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटी, जिससे रवि की किरणें,
चाँदी की-सी उजली जाली।[1]

(२) ऐसे सोने के साँझ प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस रात
ले जाती बहा कहाँ गंगा
जीवन के युग क्षण—किसे ज्ञात ![2]

× × ×

(३) धूपछाँह के रंग की रेती
अनिल उर्मियों से सर्वांकित,
नील लहरियों में लोड़ित
पीला जल रजत जलद से बिम्बित।[3]

× × ×

(४) उषः निशा का प्रथम प्रहर : खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध, प्रभ्र बन सोया क्षण भर
दिन का भ्रम होता : पूनो ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़ कर !
चारु चन्द्रिका तप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है ज्यों जल में बिम्बित जग उज्ज्वल।[4]

'ग्रामश्री', 'गंगा', 'खिड़की से', 'रेखाचित्र', 'संध्या के बाद', 'स्वीट पी', 'पतझर', 'सौन्दर्य-कला' आदि इस संग्रह की प्रकृति-सम्बन्धी उल्लेखनीय कविताएँ हैं। इन कविताओं में पूर्ण प्रकृति सम्बन्धी कविताओं की भाँति कहीं भी दिव्य-

---

१. ग्राम्या (ग्रामश्री)—पंत, पृ० ३५।
२. ग्राम्या (गंगा)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४२।
३. ग्राम्या (संध्या के बाद)—पंत, पृ० ६३।
४. वही (खिड़की से)—पृ० ६८।

शक्ति का संकेत नहीं है, साथ ही, प्रकृति-सौन्दर्य पर मुग्ध होते हुए भी कवि कहीं भी मानव अथवा मानव-जीवन को नहीं भूला है। छायाकाल एवं प्रगति काल की प्रकृति-विषयक रचनाओं में यही विशिष्ट अन्तर है।

सौन्दर्य—पंत जी ने हिन्दी काव्य में सौन्दर्य-विषयक नये आदर्श प्रचलित किये। उनके प्रगतिवादी काव्य का विश्लेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"आज मूल्यांकन भिन्न हो जाने से सौन्दर्य का आदर्श बदल गया है। पुराना वासना-युक्त सौन्दर्य आज बासी हो गया है। आज तो जो प्रत्यक्ष है, जीवन-प्रद वही सुन्दर है।"[१]

छायावाद काल पंत की सौन्दर्य चेतना का काल था, यहाँ सौन्दर्य-सम्बन्धी चिन्तन में वायवी सूक्ष्मता थी, सौन्दर्य का अलौकिकीकरण था, इसके विपरीत प्रगतिवाद काल में यथार्थवादी विचारधारा के फलस्वरूप वायवीयता की जगह पार्थिव सौन्दर्य ने ले ली। भू एवं भू-जीवन के समस्त उपादानों में कवि को सौन्दर्य के दर्शन हुए, उसे अब असुन्दर भी सुन्दर लगने लगे। सौन्दर्य-सम्बन्धी अपने इस परिवर्तन का संकेत कवि ने 'युगवाणी' के 'दृष्टिपात' में इन शब्दों द्वारा किया है—"पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्यचकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य-संक्रांति की झाँकी आप 'युगवाणी' में भी पायेंगे।"[२] इस दृष्टि से इस संग्रह की 'दो लड़के' शीर्षक कविता उल्लेख्य है। इसमें कवि ने उन दो लड़कों का चित्रण किया है जिनके बाल बिखरे, शरीर साँवले, गठीले और अनावृत्त हैं। इनका खेल एवं किलकारियाँ कवि ऐसे सुनता है जैसे जीवन का मोहक संगीत सुन रहा हो। ये लड़के कूड़े में से फीते के टुकड़े, सिगरेट के डिब्बे, चमकीली पन्नियाँ आदि पाकर प्रसन्न हो रहे हैं। इनकी प्रसन्नता में कवि को जीवन का उच्च अर्थ एवं पूर्ण सौन्दर्य साकार हुआ प्रतीत होता है। उसे ऐसा आभास होता है मानो मानव से सुन्दर एवं पूर्णतर पृथ्वी पर और कुछ नहीं है, मानव दिव्यता से भी श्रेष्ठ है—

अस्थि-मांस के इन जीवों का हो यह जग घर
आत्मा का अधिवास न यह, वह सूक्ष्म अनश्वर !

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३१।
२. शिल्प और दर्शन (दृष्टिपात)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३।

न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर
जग का अधिकारी है वह जो है दुर्बलतर ![1]

यही संसार सुन्दर एवं पूर्ण होने पर लोकोत्तर सौन्दर्य की सृष्टि करेगा—

क्यों न एक हों मानव-मानव सभी परस्पर,
मानवता निर्माण करे जग में लोकोत्तर !
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने, मानव हित निश्चय ![2]

पंत जी कहते हैं कि "मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भागवत् जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत जीवन-आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव-जीवन के रक्त-मांस के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है वह जीवन-मंगल की द्योतक नहीं हो सकती।...मैंने 'युगवाणी' में रूप-मांस अर्थात् संस्कृति-शुद्ध जीवन ही को भागवत प्रकाश का मूर्त उपादान बनाया है।"[3] वह यह भी मानते हैं कि बाह्य तथा आंतरिक, आत्मिक तथा शारीरिक सौन्दर्य का अखण्ड, अभिन्न संगम ही यथार्थ में सुन्दर होता है। मानव-प्रतिभा द्वारा निर्मित समस्त आध्यात्मिक मूल्य जब तक जनता की सम्पत्ति बन जायेंगे तभी पृथ्वी पर सच्चे सौन्दर्य एवं सुख की सृष्टि संभव हो सकेगी। इस प्रकार इस काल में काव्य में कवि की सौन्दर्य-भावना व्यापक होकर मंगल भावना में परिणत हो गयी है, वह सौन्दर्य का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है।

निष्कर्ष—संक्षेप में, युग की माँग के अनुसार कवि आलोच्य-काल में स्वप्न-जगत् को छोड़कर धरती पर आया और वास्तविकता का निमंत्रण स्वीकार किया। उसके पश्चात् उसने जीवन की विकृति और वीभत्सता पर गहन दृष्टि डाली। किसान, मजदूर वर्ग के लिए उसके मन में बौद्धिक सहानुभूति जागृत हुई और उसने 'युगवाणी' दी, जिसमें उसने समाजवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण-विवेचन किया, तत्पश्चात् 'ग्राम्या' में उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', 'युगान्त' के बाद कवि की मानव-पूजा की

१. युगवाणी—पंत, पृ० २७।
२. वही, पृ० ३६।
३. शिल्प और दर्शन—(चरणचिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११३

कृतियाँ हैं जिसमें भावी संस्कृति की रूपरेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण कवि ने किया है। वस्तुतः जन-जीवन की निकटता ने कवि की सृजन-शक्ति को यथार्थवादी मोड़ प्रदान किया एवं उनके वैचारिक-सौन्दर्यात्मक दृष्टि-कोण को विकसित किया।

कलापक्ष

पंत जी की प्रगतिवादी रचनाओं की कला में कुछ आलोचकों को संदेह रहा है और वे पूर्ववर्ती रचनाओं की कला को श्रेष्ठ कहते रहे हैं, किन्तु हमारा मत है कि प्रगतिवादी रचना-काल में भी पंत जी की कला का निश्चित विकास हुआ है। इस काल में उनके काव्य को विचारों और भावों का नवीन सम्बल मिला है जिसके कारण कला में भी नवीनता आयी है। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस काल में उन्होंने शिल्पवादिता को महत्ता के साथ प्रश्रय नहीं दिया है, परन्तु उसके प्रति उपेक्षा भी नहीं बरती है। यथार्थपरक, बौद्धिक और आलोचनात्मक शिल्प के अनुरूप अभिव्यक्ति के सौन्दर्य पर उनका ध्यान सदैव रहा है।

उनके आलोचकों ने कहा कि 'युगवाणी' से 'उत्तरा' तक की रचनाओं में कला के ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। पंत जी ने इसे उनकी दृष्टि की विडम्बना कहते हुए अपने कलापक्ष की रक्षा इन शब्दों में की है—"कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नहीं मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं जिससे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' की अनेक पंक्तियाँ 'पल्लव' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणों से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। 'आज असुन्दर लगते सुन्दर' इस आधे चरण से आज के युग-जीवन की विछिन्न रूपरेखा आँखो के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नहीं ? 'बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम' में समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिंच जाता है। 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली' का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नहीं है।....'इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता'—'पल्लव' में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती। ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य-ग्रंथों से चुनी जा सकती हैं। मैंने अधिकांश उदाहरण 'युगवाणी' से इसलिए दिये हैं कि उसमें कला का एकान्त अभाव बताया जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है।... वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक

न्याय की पुकार थी, जिसने मुझे 'युगवाणी', 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया।'[१] उनके इस कलात्मक न्याय से सहमति प्रकट करते हुए 'तारापथ' की भूमिका में श्री दूधनाथ सिंह लिखते हैं—' निश्चय ही यह 'कलात्मक' न्याय 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' के मूल में हर जगह व्याप्त है।" चित्रण और ध्वनि, वातावरण की यथार्थता एवं सहजता की दृष्टि से इन संग्रहों की 'बापू', 'नवसंस्कृति', 'दो लड़के', 'वह बुड्ढा', 'कहारों का नृत्य', 'धोबियों का नृत्य', 'झंझा में नीम', 'ग्राम युवती', 'चोटी', ग्रामश्री' 'गंगा', 'खिड़की से', 'वे आँखें', 'स्वप्नर', 'मुझे स्वप्न दो', 'प्रकाश' आदि उच्च कलापूर्ण रचनाएँ समस्त पंत-काव्य की अप्रतिम उपलब्धि हैं एवं इस बात की साक्षी हैं कि कवि नये काव्य-रूपों के अन्वेषण में संलग्न था। उक्त कविताओं में उच्च सामाजिक आदर्श नये, पूर्ण काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

युगान्त से पंत जी सौन्दर्य-भूमि से यथार्थ-भूमि पर संक्रमित होते दृष्टिगत होते हैं। उनका यह संक्रमण शिल्प के क्षेत्र में भाषा, शैली, प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, छन्द इत्यादि कला-उपकरणों की दृष्टि से नवीन आयामों द्वारा प्रस्तुत हुआ जिनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

भाषा—सौन्दर्य एवं मनोहरता के आदर्श के विषय में पंत जी की परिवर्तित धारणा ने उन्हें नये काव्यात्मक अभिव्यक्ति-साधनों के अन्वेषण के लिए अनिवार्य रूप से प्रेरित किया और उनके काव्य की भाषा जन-भाषा की प्रकृति के निकट आ गयी। आलोच्य-काल की रचनाओं में कवि ने भाषा का पुनः संस्कार कर उसे अनपेक्षित कोमलता से मुक्त किया और उसे कठोर वास्तविकता की भूमि के योग्य बनाया। भाषा-सम्बन्धी यह परिष्कार 'युगान्त' में बहुत स्पष्ट नहीं है। 'युगवाणी' से नवीन भाषिक संरचना का स्वरूप स्पष्ट होता है। 'युगवाणी' की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है[२]। इस संग्रह की 'कृषक' शीर्षक कविता द्वारा भाषा-सम्बन्धी नवीनता का परिचय मिलता है, देखिए—

> वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी, वृष बान्धव कर्षक,
> ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।

× × ×

---

१. शिल्प और दर्शन (चरणचिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११५-११६।
२. शिल्प और दर्शन (दृष्टिपात)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३

कृतियाँ हैं जिसमें भावी संस्कृति की रूपरेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण कवि ने किया है। वस्तुतः जन-जीवन की निकटता ने कवि की सृजन-शक्ति को यथार्थवादी मोड़ प्रदान किया एवं उनके वैचारिक-सौन्दर्यात्मक दृष्टि-कोण को विकसित किया।

कलापक्ष

पंत जी की प्रगतिवादी रचनाओं की कला में कुछ आलोचकों को संदेह रहा है और वे पूर्ववर्ती रचनाओं की कला को श्रेष्ठ कहते रहे हैं, किन्तु हमारा मत है कि प्रगतिवादी रचना-काल में भी पंत जी की कला का निश्चित विकास हुआ है। इस काल में उनके काव्य को विचारों और भावों का नवीन सम्बल मिला है जिसके कारण कला में भी नवीनता आयी है। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस काल में उन्होंने शिल्पवादिता को महत्ता के साथ प्रश्रय नहीं दिया है, परन्तु उसके प्रति उपेक्षा भी नहीं बरती है। यथार्थपरक, बौद्धिक और आलोचनात्मक शिल्प के अनुरूप अभिव्यक्ति के सौन्दर्य पर उनका ध्यान सदैव रहा है।

उनके आलोचकों ने कहा कि 'युगवाणी' से 'उत्तरा' तक की रचनाओं में कला के ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। पंत जी ने इसे उनकी दृष्टि की विडम्बना कहते हुए अपने कलापक्ष की रक्षा इन शब्दों में की है—"कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नहीं मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं जिससे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' की अनेक पंक्तियाँ 'पल्लव' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणों से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। 'आज असुन्दर लगते सुन्दर' इस आधे चरण से आज के युग-जीवन की विभिन्न रूपरेखा आँखों के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नहीं? 'बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम' में समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिंच जाता है। 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली' का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नहीं है।···'इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता'—'पल्लव' में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती। ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य-ग्रंथों से चुनी जा सकती हैं। मैंने अधिकांश उदाहरण 'युगवाणी' से इसलिए दिये हैं कि उसमें कला का एकान्त अभाव बताया जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है।··· वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक

न्याय की पुकार थी, जिसने मुझे 'युगवाणी', 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया।'[१] उनके इस कलात्मक न्याय से सहमति प्रकट करते हुए 'तारापथ' की भूमिका में श्री दूधनाथ सिंह लिखते हैं —' निश्चय ही यह 'कलात्मक' न्याय 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' के मूल में हर जगह व्याप्त है।'' चित्रण और ध्वनि, वातावरण की यथार्थता एवं सहजता की दृष्टि से इन संग्रहों की 'बापू', 'नवसंस्कृति', 'दो लड़के', 'वह बुड्ढा', 'कहारों का नृत्य', 'धोबियों का नृत्य', 'झंझा में नीम', 'ग्राम युवती', 'चोटी', ग्रामश्री' 'गंगा', 'खिड़की से', 'वे आँखें', 'पतझर', 'मुझे स्वप्न दो', 'प्रकाश' आदि उच्च कलापूर्ण रचनाएँ समस्त पंत-काव्य की अप्रतिम उपलब्धि हैं एवं इस बात की साक्षी हैं कि कवि नये काव्य-रूपों के अन्वेषण में संलग्न था। उक्त कविताओं में उच्च सामाजिक आदर्श नये, पूर्ण काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

युगान्त से पंत जी सौन्दर्य-भूमि से यथार्थ-भूमि पर संक्रमित होते दृष्टिगत होते हैं। उनका यह संक्रमण शिल्प के क्षेत्र में भाषा, शैली, प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, छन्द इत्यादि कला-उपकरणों की दृष्टि से नवीन आयामों द्वारा प्रस्तुत हुआ जिनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

भाषा — सौन्दर्य एवं मनोहरता के आदर्श के विषय में पंत जी की परिवर्तित धारणा ने उन्हें नये काव्यात्मक अभिव्यक्ति-साधनों के अन्वेषण के लिए अनिवार्य रूप से प्रेरित किया और उनके काव्य की भाषा जन-भाषा की प्रकृति के निकट आ गयी। आलोच्य-काल की रचनाओं में कवि ने भाषा का पुनः संस्कार कर उसे अनपेक्षित कोमलता से मुक्त किया और उसे कठोर वास्तविकता की भूमि के योग्य बनाया। भाषा-सम्बन्धी यह परिष्कार 'युगान्त' में बहुत स्पष्ट नहीं है। 'युगवाणी' से नवीन भाषिक संरचना का स्वरूप स्पष्ट होता है। 'युगवाणी' की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है[२]। इस संग्रह की 'कृषक' शीर्षक कविता द्वारा भाषा-सम्बन्धी नवीनता का परिचय मिलता है, देखिए—

> व्रज मूढ़, जड़ भूत, हठी, वृष बान्धव कर्षक,
> ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।

× × ×

---

१. शिल्प और दर्शन (चरणचिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११५-११६।
२. शिल्प और दर्शन (दृष्टिपात)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३।

विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित यह निश्चल,
वही खेत, गृह-द्वार, वही वृष, हँसिया औ हल।[1]

'ग्राम्या' में यह नवीनता पूर्ण विकसित रूप में दृष्टिगत होती है। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं की भाषा गाँव के वातावरण के अनुरूप है--

गंजी को मार गया पाला,
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बन्दर,
अब मालिन की लड़की तुलसा।[2]

डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"पंत की काव्य-भाषा के इतिहास में 'ग्राम्या' का प्रकाशन एक घटना रही है।...पंत जी ने 'ग्राम्या' में आकर अपनी जन-कविताओं को एक सादी-सी साफ धोती पहना दी।"[3] वास्तव में इस संग्रह का भाषा-भण्डार अत्यन्त व्यापक है।

प्रगतिवादी काव्य के भाषा-भण्डार के अन्तर्गत पंत जी का शब्द-चयन उल्लेखनीय है। पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में इस काल के काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग क्रमशः घटता और तद्भव तथा अन्य भाषाओं अरबी, फारसी, अंग्रेजी लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया है। 'युगवाणी' की 'दो लड़के' शीर्षक कविता की भाषा को हम चलती हुई अथवा 'साधारण हिन्दी' की श्रेणी में रख सकते हैं जिसमें संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द सन्तुलित रूप से प्रयुक्त हैं। इस प्रकार के शब्द-चयन के फलस्वरूप यह कविता सरलता-सरसता एवं अभिव्यक्तिशीलता के गुणों से युक्त हुई है। 'ग्राम्या' की 'गाँव के लड़के' शीर्षक कविता की भाषा विशुद्ध हिन्दी के निकट है जिसमें पर्याप्त विस्तृत मात्रा में तद्भव शब्द, बहुप्रचलित तत्सम शब्द और अत्यन्त सीमित मात्रा में अन्य भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों में मृदंग, श्लेष, जीर्ण, संस्कृत, क्षुब्ध, बृहद्, विषण्ण इत्यादि, तद्भव तथा देशज शब्दों में सरकाती, कसमस, मेड़, गँवई, कमठा, रम्भाना, हुड़दङ्ग आदि, फारसी में खूब, गुस्सा, जमींदार, अरबी में फौरन,

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४५।
२. ग्राम्या (ग्रामश्री)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३६।
३. सुमित्रानदन्न पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६०।

मजलिस, अंग्रेजी में अफसर, पापी, स्वीट पी (अनेक फूलों के नाम) इत्यादि के प्रयोग भाषा को विभिन्नता के साथ व्यापकता प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त प्रचलित मुहावरों जैसे—आँखों का तारा, पैर की जूती, साँप लोटना, छाती फटना का प्रयोग भी उक्त संग्रहों में मिलता है। इसी संदर्भ में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि विषय के अनुरूप भाषा में परिवर्तन होता है। जहाँ ग्रामीण जीवन का चित्रण है वहाँ सीधी-सादी सरल हिन्दी का प्रयोग है। जैसे 'ग्राम्या' की 'चमारों का नाच', 'धोबियों का नृत्य', 'ग्रामश्री' आदि कविताएँ। इसी संग्रह की 'विनय' शीर्षक कविता में मानव सत्ता के सम्बन्ध में धार्मिक, दार्शनिक विवेचन है। इसलिए इसकी भाषा जटिल एवं तत्सम शब्द-बहुल है। बहुधा विषयानुरूप भाषा-सम्बन्धी यह परिवर्तन एक ही कविता में देखा जाता है। इस दृष्टि से 'युगवाणी' की 'दो लड़के' शीर्षक कविता को ले सकते हैं। कविता के पूर्वार्द्ध में कवि ने लड़कों के खेल का दृश्यांकन अत्यन्त सरल शब्दों द्वारा गद्यमय शैली में किया है। उत्तरार्द्ध में इस दृश्य को देखकर अपने चिन्तन-जगत् में उठ रहे महत् आदर्श-भावों की अभिव्यक्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों द्वारा जटिल शैली में की है।

भाषा-सम्बन्धी अन्य विशेषताओं में चित्रात्मकता और ध्वन्यात्मकता उल्लेखनीय हैं। प्रबल चित्रण-शक्ति द्वारा कवि ने स्थिर एवं गत्यात्मक दोनों प्रकार के चित्र बड़ी कुशलता से अंकित किये हैं। 'दो मित्र' शीर्षक कविता में दो चिलबिल के पेड़ों के स्थिर दृश्य का चित्रण कवि ने इस कुशलता से किया है कि साधारण व्यक्ति भी इसका मानसिक चित्र बना सकता है। यथा—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक-दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर।
दोनो पादप,
सह वर्षा तप
वे साथ ही बड़े
दीर्घ सुदृढ़तर।[1]

---

१. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६२।

गद्यात्मक दृश्य का एक चित्र देखिए—

झूम-झूम झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्झर
सिहर-सिहर थर्-थर्
करता सर मर
चर मर।[1]

उक्त चित्र ध्वनि-चित्रण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। मानो नीम की आवाज को कवि ने शब्दों में बाँध दिया हो। शब्दों की ध्वनि द्वारा कवि ने कुशलतापूर्वक अर्थ-व्यंजना की है। ध्वन्यात्मकता से युक्त अल्प शब्दों में सन्ध्या का चित्र देखिए—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी टुट्-टुट।[2]

इस काल के ध्वनि-चित्र प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों की ही भाँति भाव-परिपुष्ट हैं। इन ध्वनि-चित्रों की सहायता से कवि ने वैचारिक आशय के उद्घाटन एवं भावों और अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति की है। 'ग्राम्या' की धोबियों का गीत, 'चरखा गीत' कविताओं में विशिष्ट लय तथा ध्वनि आवर्त्तनों ने काव्यात्मक अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन का काम दिया है।

शैली—पंत के प्रगतिवादी काव्य की शैली को हम यथार्थवादी कह सकते हैं क्योंकि इस काल की कृतियों में उन्होंने सूक्ष्म सौन्दर्य की रेखाओं की अपेक्षा स्थूल रेखाओं, सूक्ष्म बिम्बों के स्थान पर ठोस बिम्ब एवं सीधी कथन शैली, कलात्मक मीनाकारी की अपेक्षा यथार्थ अंकन, कल्पना की जगह तथ्यों तथा सुसंस्कृत भाषा की अपेक्षा जनभाषा का प्रयोग किया है। 'युगान्त' की अपेक्षा 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की यथार्थवादी शैली अधिक स्पष्ट है। इसके बाद यथार्थवादी शैली का विकास पंत काव्य में नहीं हुआ।

यथार्थवादी शैली से सम्बन्धित दो प्रकार की रचनाएँ प्रगतिवादी काव्य-संग्रहों में मिलती हैं। एक तो वे जिनमें सिद्धान्त-कथन अथवा उपदेश हैं और

१. युगवाणी—पंत, पृ० ६३।
२. युगान्त—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २५।

दूसरी वे जिसमें किसी वस्तु अथवा स्थिति का वर्णनात्मक चित्रण हुआ है। प्रथम प्रकार की कविताओं की संख्या अधिक है। इनके अन्तर्गत 'युगवाणी' की 'नव-संस्कृति', 'युग-उपकरण', 'मार्क्स के प्रति', 'उद्बोधन', 'समाजवाद-गांधीवाद', 'भूत-दर्शन', 'साम्राज्यवाद', 'मध्यवर्ग', 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति' और 'ग्राम्या' की 'नारी' 'द्वन्द्व-प्रगमन', 'आधुनिका', 'भारतग्राम', 'सांस्कृतिक हृदय', 'संस्कृति का प्रश्न', 'अहिंसा', 'उद्बोधन' इत्यादि हैं। दूसरे प्रकार की कविताएँ उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ हैं जिनके अन्तर्गत 'दो लड़के', 'वह बुड्ढा', 'वे आँखें', 'ग्राम युवती', 'ग्राम वधू', 'नहान' आदि अनेक कविताएँ हैं।

यथार्थ शैली का प्रयोग कवि ने युग-जीवन और ग्राम्य जीवन के वैषम्य-पूर्ण कठोर धरातल को यथार्थ अभिव्यक्ति देने के लिए किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी पीठ कमठा-सी टेढ़ी
पिचका पेट, गढ़े कन्धों पर
फटी बिवाई से है ऐंड़ी।[1]

× × ×

वे कटि में चल करधनी पहन,
पाँवों में पायजेब, झाँझन,
बहु छड़े, कड़े, बिछिया शोभन,—
यों सोने-चाँदी से झंकृत,
जातीं वे पीतल गिलट खचित,
बहुभाँति गोदना से चित्रित।[2]

× × ×

खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती।[3]

---

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २९। २. वही, पृ० ४०।
३. वही, पृ० २५।

प्रतीक – चिर मनोहर प्रकृति के प्रतीकात्मक चित्रों के स्थान पर आलोच्य-काल में वास्तविक जगत् का चित्रण होने के कारण प्रतीकों का चयन भी कवि ने पार्थिव जगत् से किया है। पूर्ववर्ती कविताओं के चिर-परिचित 'इन्द्रधनुष', 'ज्योत्स्ना', 'उषा' आदि प्रतीकों का स्थान अब 'पीले पत्ते', टूटी टहनी', 'कंकर-पत्थर' आदि प्रतीकों ने ले लिया। इस प्रकार के प्रतीको द्वारा कवि को चतुर्दिक् की वास्तविकता का अर्थोद्घाटन करने एवं जीवन का कठोर अभिव्यक्त करने में सहायता मिली है।

'युगान्त' की 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र' में 'जीर्ण पत्र' प्राचीन रूढ़ियों के प्रतीक रूप में आये हैं। 'युगवाणी' की 'झंझा में नीम', 'पतझर', 'दो मित्र' आदि कविताएँ प्रतीकात्मक हैं। इनमें प्रकृति प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुई है। 'दो लड़के' शीर्षक रचना मे दोनों लड़के सीधी-सादी, भोली-भाली भारतीय जनता के प्रतीक हैं। 'ग्राम्या' मे 'वह बुड्ढा' कविता में 'बुड्ढा' दरिद्रता एवं दैन्य स्थिति का प्रतीक है। इसी प्रकार 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'कठपुतले', 'ग्राम-देवता', 'ग्राम नारी' आदि कविताएँ प्रतीकात्मक है। वस्तुपरक विवेचन के कारण यह समस्त प्रतीक स्थूल और प्रकट हैं।

प्रतीक-सम्बन्धी पंत जी की एक विशेषता यह रही है कि भिन्न-भिन्न समय पर एक ही काव्य-प्रतीक भिन्न आशयों द्वारा व्यक्त हुआ है। उदाहरणार्थ 'गंगा' प्रतीक को ले लें, इसका प्रयोग पंत जी छायावाद-काल से करते आ रहे हैं। प्रगति-काल में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में क्रमशः 'गङ्गा की साँझ' और 'गङ्गा' शीर्षक कविताओं में यह प्रतीक प्रयुक्त हुआ है। 'गङ्गा की साँझ' में कवि ने इस प्रतीक को काव्यात्मक ऊर्ध्वता से मुक्त कर जनभाषा के माध्यम से प्रयुक्त किया है[१]—

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
गंगा के उस पार
क्लान्त, पांथ, जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार![२]

१. 'गुंजन की गंगा की सन्ध्या का चित्र रंगों, प्रकाश एवं छाया की अलौकिक क्रीड़ा से ओत-प्रोत है।

२. युगवाणी—पंत; पृ० ३१।

'गंगा' शीर्षक कविता में गङ्गा नदी का सजीव, सत्य, काव्यमय चित्र प्रस्तुत करते हुए उसे विशाल जनसमुदाय का प्रतीक कहा है जो संसृति के मृत सैकत को प्लावित करने के लिए निःसृत होगी।

वह गंगा जन मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुद्बुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित, संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित।[1]

बिम्ब—पंत के प्रगति काव्य में जो प्रवृत्ति प्रतीक-चयन में रही बिल्कुल वही बिम्ब-चयन में भी लक्षित होती है। अर्थात् सौन्दर्यवादी ढङ्ग की बिम्ब-योजना का स्थान यथार्थवादी ढंग की बिम्ब-योजना ने ले लिया। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से बिम्ब-योजना सर्वथा नवीन उपादानों द्वारा हुई। यह बिम्ब ठोस, स्थूल एवं जीवन्त है। बिम्ब-सम्बन्धी अनेक उदाहरण हम पीछे 'प्रगतिवादी काव्य में कला-शिल्प और सौन्दर्य, में कलापक्ष के अन्तर्गत दे आये हैं। फिर भी अपने कथन की पुष्टि के लिए यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। देखिए—

(१) अब आधा जल निश्चल, पीला,—
आधा जल चंचल औ' नीला,—
गीले तन पर मृदु सन्ध्या तप
सिमटा रेशम पट-सा ढीला।[2]
× × ×

(२) तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्द्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी।[3]

(३) गंजी को मार गया पाला
अरहर के फूलों को झुलसा
हाँका करती दिन भर बन्दर,
अब मालिन की लड़की तुलसा।[4]

---

१. ग्राम्या—पंत, पृ० ४३। २. वही, पृ० ४२।
३. वही, पृ० ४८। ४. वही, पृ० ३६।

पहले उदाहरण में जो बिम्ब उभरता है वह सन्ध्या को नदी के गीले तन पर उड़े मृदु पट से उपमित करता है। अत्यन्त व्यंजक होने के साथ ही यह बिम्ब प्रभावोत्पादक भी है। दूसरे बिम्ब में भारतमाता को 'तरु तल निवासिनी' कहकर उसके समस्त दैन्य एवं सन्ताप को अभिव्यंजित किया गया है। तीसरे में ग्राम-जीवन में व्याप्त निरर्थकता की अभिव्यक्ति को बन्दर हाँकने के सहज बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस काल को बिम्ब-योजना भी जीवन के कठोर यथार्थ से सम्बन्धित है।

अलंकार—छायावादोत्तर काव्य में पंत जी ने अधिकांश रूप से निरलंकार वाणी की साधना की है। उनका विचार है कि नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं क्योंकि उनका रूप-चित्र सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। इसी से उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावकाव्य गौरव रखता है—

'तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार'

से भी मेरा अभिप्राय है कि संक्रांति-युग की वाणी के विचार ही उनके अलंकार हैं।[1] इसके अलावा बाद की इन रचनाओं में भाषा के गर्भित अर्थ एब्स्ट्रैक्ट हो जाने के कारण भी उनकी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित है। प्रारंभिक रचनाओं में जिस प्रकार भाषा रूप-चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य युगवाणी की 'युग उपकरण', 'नवसंस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार-चित्र उपस्थित करती हैं। 'पुण्य प्रसू', 'घन नाद', 'रूपतत्व', 'जीवन स्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। अलंकार-रहित कल्पना का सौन्दर्य देखिए—

यह सैकत तट पिघल-पिघल यदि बन जाता जल
बह सकती यदि धरा घूमती हुई दिगंचल,
यदि न डूबता जल, रह कर चिर मृदुल तरलतर,
तो मैं नाव छोड़, गंगा के गलित स्फटिक पर,
आज लोटता, ज्योति-जड़ित लहरों संग जी भर।[2]

---

१. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन)—पंत, पृ० ४३।
२. ग्राम्या—पंत, पृ० ७३।

कला-शिल्प सम्बन्धी उक्त उपादान के विषय में कवि की भविष्यवाणी है कि "आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणतत्त्व से स्वमर्मी होगी, नवीन विचारो के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतित हो जायेंगे।"[1]

छन्द—आलोच्य युग में पंत जी छन्द-सम्बन्धी अपनी पूर्ववर्ती मान्यताओं के विपरीत इस सम्बन्ध में किये गये निराला के नव-प्रयोगों पर रीझते हुए-से प्रतीत होते हैं।[2]

क्योंकि अब वे कहते हैं—

'खुल गये छन्द के बंध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त औ
युगवाणी बहती अयास।[3]

प्रगतिवादी रचनाओं में पंत ने छन्द को विशेष महत्त्व नहीं दिया। अपितु छन्द के बंधन से कविता की मुक्ति की कामना की है। परन्तु स्वाभाविक रूप से आने वाली छांदसिकता का बहिष्कार वे नहीं कर पाये हैं। प्रारम्भिक रचनाओं (युगान्त) में मात्रिक छन्दों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

उदाहरणार्थ—

तुम में कवि का मन गया समा,
तुम कवि के मन की हो सुषमा,
हम दो भी हैं या नित्य एक?
तब कोई किसको सका देख?[4]

उक्त छन्द 'पादाकुलक' छन्द का एक प्रभेद पदपादाकुलक है। इसमें आरंभ की दो मात्राओं के बाद चौकल के स्थान पर त्रिकल की योजना होती

---

१. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन), पृ० ४३।

२. छन्द बंध ध्रुव तोड़-फोड़कर पर्वत कारा
अचल अबाध, अमंद। रजत निर्झर-सी निःसृत-
गलित, ललित, आलोक राशि, चिर अकलुष, अविजित। (युगवाणी, पृ० ८५)।

३. युगवाणी—पंत, पृ० ३।

४. युगान्त—पंत, पृ० १९।

है। (पादाकुलक में प्रत्येक चरण चार-चार चौकलों से निर्मित होता है) और छन्द का चरणान्त द्विकल से होता है। प्रस्तुत छन्द में द्वितीय को छोड़कर शेष तीनों चरण पदपादाकुलक के हैं, जिनके अंत में दो-दो त्रिकल हैं।

अभिनव छन्द-रचना के अन्तर्गत पंत जी की वे रचनाएँ हैं जिसमें विशिष्ट भाव-स्थितियों ने स्वयं अपने आपको नियमित मात्राक्रम एवं अन्त्यक्रम आदि में मुखरित कर लिया है। इस प्रकार की छन्द-योजना सर्वथा मौलिक सृष्टि है—

बाँसों का झुरमुट	क १० मात्राएँ
संध्या का झुरमुट	क १० मात्राएँ
हैं चहक रही चिड़ियाँ	ख
टी-वी-टी-टुट्-टुट।[1]	क

इसके तीन चरण १० मात्राओं के हैं—इनका अन्त्यक्रम भी समान है। तृतीय चरण मात्राक्रम तथा अन्त्यक्रम दोनों में भिन्नता उत्पन्न करता है।

मुक्त छन्द वह छन्द-विशेष है जो भाषा, गण, यति, तुक, गुरु-लघु आदि के समस्त छन्दःशास्त्रीय बंधनों से सर्वथा मुक्त होता हुआ भी प्रत्येक पंक्ति के रूपगत आंतरिक ऐक्य पर बल देने के कारण संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखता है—यही तत्त्वजन्य सभी रूपों में स्वच्छन्द रखता हुआ भी उसे छन्द की संज्ञा प्रदान करता है। पंत जी ने छायावादोत्तर कृतियों में इस छन्द का पर्याप्त प्रयोग किया है। जहाँ कहीं मुक्त छन्द की रचना है वहाँ उसके चरणों का क्रमायोजन मात्राश्रित लय-खण्डों के आधार पर हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वह मग में रुक, ।	क ८ मात्राएँ
माना कुछ झुक, ।	क ८ मात्राएँ
आँचल सँभालती, । फेर नयन मुख ।	ख ५, ५, ८ मात्राएँ
पा प्रिय पद की । आहट;	ग ८,४ मात्राएँ
आ ग्राम युवक, ।	घ ८ मात्राएँ
प्रेमी याचक, ।	घ ८ मात्राएँ
जब उसे ताक । ता है इकटक, ।	घ ८,८ मात्राएँ
उल्लसित, ।	ङ ५ मात्राएँ

१. युगान्त—पंत, पृ० १६।

चकित, । ङ ३ मात्राएँ
वह लेती मूँद पलक पट ![1] ग ८, ६ मात्राएँ

अष्टक के आधार पर निर्मित यह मात्रिक छन्द अन्त्यानुप्रास-युक्त होता हुआ भी स्वच्छन्द है; अन्त्यानुप्रास के साथ यति-विराम भावानुकूल क्षणिक विराम उपस्थित करता है, किन्तु उससे छन्द की गति अवरुद्ध नहीं होती।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'युगवाणी' से पंत जी ने कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि "इस ह्रास और विश्लेषण युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज में ही व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है, अतएव उससे अधिक कला-नैपुण्य की आशा रखनी ही नहीं चाहिए।"[2] छन्दों के विविध प्रयोग और सादे चित्रों का बाहुल्य 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मिलता है, पर सजावट की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। भाषा की रंगीनी एवं कल्पना का विलास नहीं है। विषय-परिवर्तन के साथ भाषा भी स्थूल हो गयी है परन्तु भावाभिव्यक्ति में वह पूर्ण सक्षम है।

यद्यपि 'युगवाणी' की शैली में सौन्दर्य-युग (छायावाद) की रचनाओं जैसा सूक्ष्म और उदात्त सौन्दर्य नहीं, फिर भी उसमें बुद्धि-रस का चैतन्य-प्रकाश है जो सरलता से चित्रांकन और विश्लेषण करता है। यही शैली 'ग्राम्या' में आकर भावात्मक होकर ग्राम्य-जीवन का दर्शन कराती है। इसमें लोक-रस की प्रधानता है और भाषा में ग्राम-चित्रों को प्रस्तुत करने की ऐसी शब्दों की योजना है जिनसे ग्राम-जीवन ध्वनित हो उठे। शैली भावात्मक है एवं उसमें विश्लेषण और सूक्ष्मता तक पहुँचने की क्षमता है। वस्तुतः आधुनिक युग के हिन्दी-काव्य-साहित्य में लोक-जीवन पर ऐसी पुष्ट-स्फुट कविताएँ अन्यत्र नहीं मिलेंगी। इन्हीं रचनाओं द्वारा कवि ने प्रगतिवाद का प्रतिनिधित्व किया तथा यही उसकी इस काल की उपलब्धि है।

———

१. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १७।
२. शिल्प और दर्शन (पर्यालोचन) पृ० ४२।

पंत के नवचेतनावादी काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य

भावधारा में परिवर्तन—मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद तथा अनात्मवाद में पंत जी का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सका। उनके संस्कारी व्यक्तित्व को जीवन के भौतिक मूल्य तप्त नहीं कर सके, क्योंकि पंत के कोमल-प्राण व्यक्तित्व में उस काठिन्य का अभाव है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। संस्कारी व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है। पंत की विचारधारा में परिवर्तन और ईश्वर तथा आत्मा की ओर उन्मुख होने का यही मुख्य कारण है। इसलिए 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्ण किरण' में अभिव्यक्त उनका परिवर्तित दृष्टिकोण कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पंत की पंचम दशक की कविता के वैचारिक-सौन्दर्यात्मक आदर्शों में सर्वोत्तम-ग्रहीता, असंगति और विरोधाभास उभर आये हैं जो भारतीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की विचारधारा द्वारा पूर्णतया अपनाये हुए थे, भारतीय समाज में उक्त वर्ग की दोमुँही भूमिका इनमें प्रतिबिम्बित होती थीं जो गठन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण सम्भव हुई थीं। स्वामी विवेकानन्द, गांधी जी और श्री अरविन्द घोष का अनुगमन करते हुए पंत जी ने पंचम-षष्ठ दशकों की अपनी कविता में भारतीय सभ्यता के असाधारणत्व और विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देने का प्रयत्न किया—यह सभ्यता मानो बुर्जुआ समाज के वर्ग-कलहों सहित सभी असंगतियों की औषधि थी। भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारकों की तरह पंत जी ने भी अपनी मातृभूमि के आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक पतन का प्रधान कारण प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं की विस्मृति तथा पश्चिम के प्रति अंध एवं आलोचनारहित दृष्टिकोण ही को माना है।[1] उन्होंने लिखा भी है कि "आज संसार संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार से व्याप्त है··· हम या तो मध्ययुगीन

1. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविताओं में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० १६१।

कुहासे में भटक रहे हैं या हर बात में पश्चिम का अंधानुकरण कर रहे हैं।"[1] इसीलिए नवीन जीवन-मूल्यों को खोजने के लिए कवि आध्यात्मिक तथा भौतिक सिद्धान्तों के रागात्मक मिलन की ओर उन्मुख हुआ। 'उत्तरा' की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि "आज हमें वास्तविकता एवं आदर्शों, भौतिकता एवं आध्यात्मिक मूल्यों तथा पुराने एवं नये विचारों का पुनरुत्थान करना, उनमें गहराई लाना तथा उनका मिलाप करना चाहिए।"[2] यह प्रस्तावना " पंत प्रणीत 'नवचेतनावादी काव्य' के वैचारिक-सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों का समर्थन करने वाला घोषणा-पत्र ही है।[3] पंत जी 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'लोकायतन' तक की कृतियों को चेतनावादी काव्य के विभिन्न सोपानों के रूप में स्वीकार करते हैं।

कवि की विकसनशील प्रतिभा सदैव युग-सत्यों से प्रभावित होती रही है। 'उत्तरा' की भूमिका में वे कहते हैं—"लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।"[4] उच्च मानवीय नैतिक मूल्यों में उनका आरम्भ से ही विश्वास है, अपने मौलिक रूप में वे आस्थाशील कवि हैं। पंत की काव्य-यात्रा में 'ग्राम्या' की रचना के बाद का काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी अन्तराल में वे अपने दृष्टि-बिन्दु को स्थिर करने में प्रवृत्त हुए तथा विचारधारा में परिवर्तन भी इसी समय से आरम्भ हुआ। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'ग्राम्या' के प्रणयन तथा सन् '४२ के आन्दोलन के बाद मेरी विचारधारा में एक परिवर्तन आने लगा और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन ग्रन्थों में अधिक रमने लगा था। मुझे प्रतीत होने लगा था कि पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिए। किन्तु सौन्दर्य एवं संस्कृति का व्यापक स्वरूप क्या हो और पूर्ण विकसित समाज की स्थापना कब, कैसे किस रूप में

१. शिल्प और दर्शन (चरणचिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२६।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७४।
३. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविताओं में परम्परा और नवीनता-ई० चेलिशेव, पृ० १६२।
४. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७०।

संभव हो सकेगी, जिसमें सौन्दर्य आत्मोन्नयन तथा लोक जीवन की प्रगति का साधन बन सके, यह द्वन्द्व मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता था।[1]

अपनी प्रारंभिक और मध्यवर्ती कृतियों में सौन्दर्य की भूमि पर संचरण करते रहने पर भी पंत में आध्यात्मिकता की चेतना विद्यमान थी, इसलिए इस परिवर्तन को आकस्मिक नहीं समझना चाहिए · आगे चलकर यह आध्यात्मिक चेतना एक निश्चित दर्शन का सहारा पाकर क्रमशः परिपुष्ट होती गयी। इस चेतना के उदय के सम्बन्ध में पंत ने लिखा है—"मार्क्स के अध्ययन के बाद सम्पन्न लोक-जीवन का स्वप्न मेरी विचारधारा का एक अंग बन गया था। किन्तु यह स्वप्न केवल राजनीतिक-आर्थिक मान्यताओं की वृद्धि तथा भौतिक उपकरणों के विकास द्वारा ही पूर्ण होगा, इस पर से मेरा विश्वास उठने लगा था। बाह्य रूप से एक सुव्यवस्थित तथा समृद्ध तंत्र में रहने पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से उन्नत न हो सके और यदि उसमें उच्चतम मानवीय गुणों का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियों से जूझने के लिए यन्त्र-मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य अवस्था तथा सन्तुलन स्थापित करना पड़े तो ऐसा समाज या तंत्र और जिसके भी योग्य हो मनुष्य के रहने योग्य नहीं कहा जा सकता।"[2] मानसिक एवं आत्मिक उन्नति से ही उच्चतर मानवीय गुणों का विकास संभव है—उसकी पुष्टि पंत जी ने इस प्रकार की है—"भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और मानसिक-आत्मिक दृष्टि से रिक्त अकिंचन मनुष्य संभवतः मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।"[3] कवि का दृढ़ विश्वास था कि जीवन को सम्पूर्णता और सर्वाङ्गीणता तभी उपलब्ध हो सकती है जब उसे एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल भी प्राप्त हो। इसी की खोज के अनन्तर कवि अरविन्द-दर्शन के सम्पर्क में आये।

अरविन्द दर्शन से अपने सम्पर्क के बारे में पंत जी ने 'उत्तरा' की भूमिका में यह बताया है कि 'ग्राम्या' के प्रणयन के बाद सन् १९४२ के आस-पास उनका परिचय इस दर्शन से हुआ जिसने उनमें नवीन अनुभूतियाँ जाग्रत कीं। वे कहते हैं कि "अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था, मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा

---

१ साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६२।

३. वही, पृ० ६२।

आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के भागवत जीवन (द लाइफ-डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खण्ड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है।"[1] इस कथन में कवि ने जिन नवीन अनुभूतियों की ओर संकेत किया है वे उन्हें अरविन्द-दर्शन से सम्पर्क होने के पहले से अनुभूत हो रही थीं। हाँ, अरविन्द-दर्शन में उन्हें अवलम्ब मिला और वे अधिक पुष्ट होती गयीं।

पंत जी की भावधारा में इस परिवर्तन को लक्ष्य कर एवं इसे सहज स्वाभाविक बताते हुए श्री दूधनाथ सिंह ने 'तारापथ' की भूमिका में लिखा है—"यह परिवर्तन फिर एक नये प्रकार के भाव-पट की सूचना देता है। कवि की अनुभूति वस्तु-जगत् को समेटती हुई उस बौद्धिक चेतना से ऊपर उठ कर एक सूक्ष्म अतिमानवीय चेतना को ग्रहण करने लगती है। इस परिवर्तन के पीछे भी कवि की वही व्याकुलता और अनुभूति का अपार असन्तोष और प्रसार कारण है। लेकिन उसमें भी एक संगति है। अर्थात् वह भी सकारण है। शुद्ध भावनात्मक काव्य की जगह विचारात्मकता का यह आग्रह पंत जी के लिए नया नहीं है। उसके सूत्र 'गुञ्जन' या 'युगान्त' की कविताओं या 'पल्लव' की 'शिशु' और 'मौन निमन्त्रण' तथा 'परिवर्तन' जैसी लम्बी कविता में आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं। लेकिन यह आग्रह शुद्ध विचार-काव्य का ही आग्रह नहीं है। उसमें चिन्तन के अन्तराल हैं, जहाँ कविता के माध्यम से अन्दर की कर्मण्यता और काव्य-समृद्धि तथा संस्कारों की गहन संवेद्यता अनायास ही प्रकट होती चली है।"[2] इस प्रकार इस चरण के काव्य का विकास स्वाभाविक होने पर भी कुछ लोगों को ग्राम्या के बाद 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' आदि की कविताएँ अस्वाभाविक लगीं। इसका मुख्य कारण कवि-मानस एवं पाठक अथवा आलोचक के मानस के विकास की असमानता है। यहाँ हमारा अभीष्ट इस विवाद में न पड़ इस सोपान के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन करना है। इस चरण के काव्य में कवि अध्यात्म के उस दायरे की ओर गमन करता है जहाँ समन्वय, सार्थकता और नवनिर्माण को वाणी मिली है। यहाँ उस सूक्ष्म चेतना का विकास हुआ है, जो 'सौन्दर्य चेतना' और 'बौद्धिक-चेतना' की अगली कड़ी है। यह चेतना

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८१, उत्तरा की प्रस्तावना।
२. तारापथ की भूमिका—दूधनाथ सिंह, पृ० ३७।

प्राचीन अध्यात्म से इस अर्थ में भिन्न है कि यह उस युग की विरक्ति के स्थान पर अनुरक्ति का सन्देश देती है। प्राचीन अध्यात्म मुक्ति का समर्थक, यह सामाजिक कल्याण का। उसमें स्वर्ग के स्वप्न देखे जाते थे, इसमें पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतारने की कल्पना है। 'स्वर्णकिरण' में पंत जी ने इस 'सूक्ष्म-चेतना' की व्याख्या की है। 'स्वर्णधूलि' में इसे सामाजिक जीवन में लागू करके दिखाया है तथा 'उत्तरा' और 'अतिमा' में उस आनन्द का वर्णन किया है जो सिद्धि के सफल होने पर प्राप्त होता है। इसके आगे 'कला और बूढ़ा चाँद' में उस सूक्ष्म बोध को प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिसके लिए शब्द सक्षम नहीं हैं। 'लोकायतन' महाकाव्यात्मक कृति है जिसमें सौन्दर्य सृष्टि से लेकर बौद्धिक चेतना और लोकमंगल की गहन दृष्टि नियोजित है। यहाँ इतना और कह दें कि लोकमंगल की कामना पंत जी के समस्त काव्य का एक अन्तःसंगत उपादान है।

इस चरण के काव्य में वीणाकालीन चापल्य एवं रहस्यात्मकता, पल्लव-कालीन सौन्दर्यात्मकता, 'युगान्त' के विद्रोही स्वर एवं 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के-से यथार्थ का अभाव है। यहाँ प्रौढ़ि की गम्भीरता, जीवन का व्यापक-बोध एवं आनन्दानुभूति है। पंत जी के स्वर्णकाव्य का लक्ष्य मनुष्यत्व को जागृत करना है। साहित्य-स्रष्टा के सामाजिक दायित्व को निभाते हुए उन्होंने मानव चेतना और मानव-बुद्धि को जगाने का प्रयास किया है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में जीवन-सत्य का सम्यक् बोध है जो स्वर्णज्योति का हास बन गया है। इनमें 'ज्योत्स्ना' कालीन मानवतावादी चेतना का व्यापक प्रस्फुटन हुआ है। इस प्रकार इन कविता-संग्रहों के रूप में पंत जी की काव्य-साधना में एक नयी धारा प्रकट हुई जिसे उनके काव्य-विकास के अन्तर्गत 'नवचेतनावादी कविता' की संज्ञा मिली। इस 'नवचेतनावादी कविता' के अन्तर्गत हम जिन कृतियों पर दृष्टिपात करेंगे वे क्रमशः इस प्रकार हैं—'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अतिमा', 'वाणी', 'कला और बूढ़ा चाँद' तथा 'लोकायतन'।

काव्य-परिचय

स्वर्णकिरणः—युगों का तमस हरण, करे यह स्वर्ण किरण।
धरा पर ज्योति भरण, हँसी लो स्वर्णकिरण।[1]

---

१. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४३।

परिवर्तित भावधारा के फलस्वरूप जिस नवीन चेतना का उदय हुआ उसकी पहली किरण 'स्वर्णकिरण' है, जिसकी आभा में कवि ने अपनी काव्य-यात्रा के तृतीय सोपान पर चरण रखा। कवि पंत के काव्य के पीछे उनके जीवन की परिवर्तित स्थितियों ने प्रबल प्रेरक का कार्य किया है। इस समय कवि के जीवन की दीर्घ-अस्वस्थता ने कवि की चेतना को एक विशेष दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित किया। यद्यपि चिन्तन की यह धारा इसके पूर्व भी कवि के मानस में प्रवाहित थी, किन्तु क्षीण रूप में। अब वह वेगवान् और बद्धमूल हो गयी है। कवि ने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है, उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है।[1] 'स्वर्णकिरण' से कवि ने अपने चेतना काव्य का युगारम्भ माना है। इसका प्रकाशन सन् १९४७ में हुआ। इसमें ज्योत्स्ना (आदर्श) और ग्राम्या (यथार्थ) की चेतनाओं का संघर्ष तथा मंथन अंकित हुआ है। यहाँ कवि ने मानवता के सांस्कृतिक समन्वय की चर्चा की है।

दीर्घ अस्वस्थता के कारण कवि निराश हो चुका था। इन्हीं दिनों श्री अरविन्द के 'दिव्य जीवन' (लाइफ डिवाइन) के सम्पर्क में आने पर उनमें नवीन आशा का संचार हुआ और अपने मन की शंकाओं का समाधान भी उन्हें इस ग्रन्थ में मिला। वे बहिर्चेतना से अन्तर्चेतना की ओर मुड़ गये। स्वर्णकिरण' की भूमिका में कवि ने लिखा है—"अपनी दीर्घ अस्वस्थता के पश्चात् स्नेही पाठकों का स्वर्ण-किरणों से अभिनन्दन करने में मुझे हर्ष हो रहा है। उनके वातायनों में स्वर्ण-करिण प्रवेश पा सकी तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।"[2] इस संग्रह के सम्बन्ध में डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय लिखते हैं—" 'स्वर्णकिरण' मृत्यु के क्षणों में जागृत अमरता का अभिवादन है। धीरे-धीरे मन में उतरते हुए विश्वास का गायन है। रहस्यमय प्रकाश का अभिनन्दन है। रुग्ण की विषण्ण मानसिक स्थिति में सहसा रहस्यमय अनुभूतियों का स्पर्श उसे एक नवीन दृष्टि देता है और तब कवि चराचर को उसी दृष्टि से देखने लगता है। सर्वत्र स्वर्णिम किरण के दर्शन होने लगते हैं। पंत जी का नूतन काव्य इसी आध्यात्मिक मानसिक स्थिति का वस्तुसत्ता पर होने वाले प्रक्षेपण की अभिव्यक्ति है।"[3] नवीन चेतना को प्रतीकार्थ में हम ऊर्ध्व चेतना की ओर संचरण भी कह सकते

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र—पृ० १६८।
२. स्वर्णकिरण की भूमिका—सुमित्रानन्दन पंत।
३. पंत का नूतन काव्य और दर्शन—डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ५५८।

हैं। जिस अन्तर्चेतना की बात हमने ऊपर कही है उसे पंत जी ने इस संग्रह में बहुत महत्त्व दिया है। वे कहते हैं कि "'स्वर्णकिरण' में मैंने अंतर्जीवन, अंतश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्त्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिल्कुल ही भूल गये हैं। वैसे सामान्यतः उसमें बहिरन्तर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गयी है।"[१]

'स्वर्णकिरण' की अधिकाश कविताएँ आध्यात्मिक हैं जो मनः चेतना से सम्बन्धित हैं। 'स्वर्ण' शब्द को कवि ने चेतना के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस चेतना के द्वारा कवि ने मृत्यु में अमरता, निराशा में आशा और अपूर्णता में पूर्णता के दर्शन किये हैं, जिसके द्वारा उसे नवीन अलौकिक सौन्दर्य की अनुभूति हुई। अपनी इस अनुभूति को कवि ने इस संग्रह में नाना प्रकार से अभिव्यक्ति दी है। इन आध्यात्मिक कविताओं के अतिरिक्त कुछ कविताएँ आत्मगत भी हैं तथा कुछ का धरातल सामाजिक है और कुछ प्रकृति से सम्बन्धित कविताएँ भी हैं। आध्यात्मिक कविताओं में श्री अरविन्द के दर्शन की व्याख्या हुई है। इस सग्रह की आरम्भिक रचना 'अभिवादन' में ही अरविन्दवादी दृष्टिकोण को स्पष्टता मिली है। चेतना के ज्योति स्पर्श से मृत जीवन में किस प्रकार चैतन्य व्याप्त हो जाता है, इसका सुन्दर काव्यमय वर्णन कवि ने किया है— प्रारम्भ में दिया गया उद्धरण देखिए। 'अशोक वन' और 'स्वर्णोदय' इस संग्रह की उत्कृष्ट कविताएँ हैं जिनमें अरविन्द दर्शन के लगभग सभी तत्त्वों को मूर्त्त करने का प्रयास किया गया है। दर्शन की शुष्कता होने पर भी काव्य-सौन्दर्य का समस्त निखार इन कविताओं में मिलता है।

स्वर्णधूलि :— आशा का प्लावन बन बरसो
नव सौन्दर्य प्रेम बन सरसो
प्राणों में प्रतीति बन हरसो
अमर चेतना बन नूतन
बरसो हे घन।[२]

यह काव्य-संग्रह स्वर्णकिरण का समकालीन है और इसकी कविताओं का आधार समाज है। स्वयं कवि ने स्वर्णधूलि के विज्ञापन में कहा है कि इसका धरातल सामाजिक है। आदर्श समाज की परिकल्पना में यत्र-तत्र अरविन्द-दर्शन

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८६।
२. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६६।

के सिद्धान्तों को मुखर किया गया है। अर्थात् अरविन्द-दर्शन के व्यावहारिक रूप को सामाजिक आधार दिया गया है। उक्त पद्यांश में कवि घन से आशा, प्रेम और सौन्दर्य की नूतन अन्तर चेतना बन कर बरसने की प्रार्थना कर रहा है ताकि एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।

इस संग्रह की कविताओं का धरातल सामाजिक तो है परन्तु उनमें केवल वस्तुवाद का ही स्वर मुखरित नहीं हुआ है अपितु वे आध्यात्मिक अनुभूति से अनुप्राणित हैं। कवि समस्त मानवता का आध्यात्मिक उत्कर्ष देखना चाहता है और अरविन्द-दर्शन के व्यावहारिक पक्ष के प्रस्तुतीकरण के कारण सामाजिक व्यवस्था में भी अरविन्द के विचारों को ही प्राथमिकता मिली है इसके अतिरिक्त 'सामंजस्य', 'आजाद', 'लोकसत्य', 'मृत्युञ्जय', 'आशंका', 'चौथी भूख', 'पैगम्बर', 'छाया', 'मुक्ति बंधन' आदि कविताओं का स्वर सैद्धान्तिक है। इनमें से एकाध पर ही अरविन्द-दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है। अरविन्द-दर्शन को जो स्थान 'स्वर्णकिरण' में मिला है, वह इनमें नहीं है।

उत्तरा :— बदल रहा अब स्थूल धरातल
परिणित होता सूक्ष्म मनस्तल
विस्तृत होता बहिर्जगत् अब
विकसित अन्तर्जीवन अभिमत[1]

'उत्तरा' काव्य-संग्रह का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ। इसमें उत्तरकालीन रचनाएँ संगृहीत होने के कारण इसे 'उत्तरा' शीर्षक दिया गया। स्वर्णकिरण से उद्भूत विचारधारा जो स्वर्णधूलि में विकसित हुई, उत्तरा तक आकर पूर्ण पुष्ट हो गयी है। इसमें अन्तश्चेतना के अभिवादन और आमंत्रण के गीत संचित हैं। 'उत्तरा' शीर्षक कविता का उक्त उदाहरण देखिए। इस प्रकार के भाव को ध्वनित करने के लिए कवि ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। 'युग विषाद' 'युगछाया', 'युग संघर्ष', 'जागरण गान', 'गीत विहग', 'उद्बोधन' आदि कविताओं में जिस नवमानवता की ओर संकेत किया है उसकी पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता का गम्भीर पुट है। उन्हें हृदयंगम करने के लिए सहृदय को वैसे ही मानस-आवेष्टन की आवश्यकता है जैसे आवेष्टन में कवि ने उसे अंकित किया है।[2]

---

१. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।
२. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (उत्तरा में पंत का अध्यात्मवाद) सम्पादक—शचीरानी गुर्टू, पृ० ३३४।

'स्वर्णकिरण' की रचनाओं में कवि सिद्धान्तवादी रहा है किन्तु 'उत्तरा' की अधिकांश रचनाओं का स्वर भाववादी है। इन रचनाओं में कवि ने अपनी अनुभूति और प्रेरणाओं को भावजगत् में उतार कर यह आकांक्षा व्यक्त की है कि मनुष्य अन्तर्जगत् के विकास की ओर ध्यान दें।

'उत्तरा' के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने लिखा है कि " 'उत्तरा' को सौन्दर्यबोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ। उसके अनेक गीत जो चिदम्बरा में सम्मिलित हैं, अपने काव्यतत्त्व तथा भाव चैतन्य की ओर समय आने पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। उत्तरा के पद नवमानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षाओं से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती।"[१] 'उत्तरा' का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि इसमें कवि ने मार्क्स और एंजिल्स के दर्शन के समक्ष भारतीम दर्शन के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।[२]

उत्तरा में अरविन्द-दर्शन भाव के स्तर पर अवतरित हुआ है। यहाँ कवि बाह्य के साथ आन्तरिक क्रान्ति का भी पक्षपाती है—"मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रान्ति का भी पक्षपाती हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युगशिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे 'विश्व-संघर्ष' के युग में सांस्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जागृत चैतन्य मानव का कर्त्तव्य समझता हूँ। अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को धरा शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ मिलेंगी।"[३] कवि के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि वह नव-चेतनावादी कृतियों में अतिशय रूप से अरविन्द दर्शन के इस सिद्धान्त से प्रभावित रहा है जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्बाह्य सभी उस ब्रह्म का विकास है। स्थूल जगत् की समस्याओं में परिवर्तन के साथ आन्तर् जगत् यानी हृदय की क्रान्ति भी परमावश्यक है, क्योंकि एक के बिना दूसरा एकांगी है और कुछ अंशों तक अनिवार्य भी। पंत जी की इन रचनाओ के सम्बन्ध में उनकी

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११२।
२. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत (भूमिका अंश), पृ० २३-२४।
३. वही, पृ० २६।

काव्य-सम्बन्धी आलोचनाओं एवं अनेक शोध-ग्रन्थों में यह पढ़ने को मिला कि पंत पूर्णतः अरविन्दवादी हो गये हैं। 'उत्तरा' की प्रस्तावना द्वारा इस भ्रम के निराकरण की बजाय और वृद्धि हुई। इस भ्रम के निराकरण में शान्ति जोशी ने कवि की जीवनी में इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—"इस प्रस्तावना में पंत ने गांधी जी श्री अरविन्द तथा भारत की आध्यात्मिक थाती के महत्त्व को समझाया है। लेकिन आलोचकों एवं पाठकों ने इस सत्य को विस्मृत कर सम्पूर्ण भूमिका का अर्थ न जाने किस भाँति लगाया कि उन्हें सर्वत्र केवल श्री अरविन्द ही दिखायी दिये। उन्होंने एकदम निर्णय दे दिया कि 'उत्तरा' में पंत अरविन्द के स्वर में बोल रहे हैं अथवा पंत पूर्ण अरविन्दवादी हो गये हैं। ऐसे तथ्य की अकस्मात् प्राप्ति ने पंत के ज्योत्स्ना कालीन (१९३३-३४) मोड़ एवं विकास को श्री अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त का विषय बना दिया। पंत के काव्य का मूल्यांकन करने के विपरीत वे श्री अरविन्द दर्शन पर शोध करने लगे और 'उत्तरा' की प्रस्तावना के इस मूल वाक्य को भूल गये—"अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी।"[1]

'उत्तरा' की कविताओं के सम्बन्ध में डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय लिखते हैं—" 'उत्तरा' में कवि अपना ध्यान अन्तश्चेतना पर अधिक केन्द्रित करता है। अतः सर्वत्र वह अन्तश्चेतना की स्थिति, उसके स्रोत, ऊर्ध्व चेतना से उतर कर पार्थिव मन में आने की उसकी गति व प्रक्रिया, उसके आभास, उसकी अनुभूति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले विचित्र अनुभव, उसकी प्रतीति के पश्चात् मन में सूक्ष्म धरातलों व बाह्य पदार्थों को एक नूतन दृष्टि से देखकर अनेक भावनाओं का वर्णन कवि करता है।"[2] स्वयं कवि ने लिखा है कि 'उत्तरा' में मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युग-जीवन-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति[3]

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवनी और साहित्य (खण्ड २)—शान्ति जोशी, पृ० १११।
२. पंत का नूतन काव्य और दर्शन—डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ६१७।
३. उत्तरा की प्रकृति-विषयक कविताएँ विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य सम्पन्न नहीं हैं। प्रकृति के उपमान अन्तर्जीवन के आनन्द-उल्लास को अभिव्यक्ति देते हैं। अब न तो कवि विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य में रमता है और न प्रकृति के सुखद मधुर रूप को देखकर विमुग्ध होता है····
—सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य-शान्ति जोशी, पृ० ११४-१५।

तथा वियोग-श्रृंगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना-गीत संगृहीत हैं।[1] इस प्रकार 'उत्तरा' की अधिकांश कविताएँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अरविन्द-विचारधारा को वाणी देती हैं। कहीं मनुष्य के अन्तर्जगत् की झाँकी है, कहीं इसी आधार पर भविष्य की नवीन मानव-चेतना का चित्रण है। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अन्तर्चेतना का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। कहीं चेतना के ऊर्ध्व का वर्णन है, कहीं निम्न स्तरों का, कहीं उसके विकास का वर्णन है, कहीं प्रभाव का। इसी सन्दर्भ में प्रकृति का प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है। इस काव्य-सग्रह का आशावादी स्वर वर्तमान मानव को अभय का सन्देश देता है।

रजतशिखर : आकाशवाणी में हिन्दी के प्रमुख परामर्शदाता (सन् १६५० से १६५७) के रूप में कार्य करते हुए पंत जी ने ग्यारह काव्य-रूपकों की रचना की जिनका संकलन 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' के नाम से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ। इन सभी का प्रसारण आकाशवाणी से हो चुका है। यहाँ इनका उल्लेख कवि के काव्य-विकास में महत्त्वपूर्ण कड़ी होने के कारण किया जा रहा है।

काव्य-रूपक एक नवीन विधा है। इसे हम 'ध्वनि रूपक' भी कह सकते हैं। क्योंकि ध्वनि के विस्तारण में ही इनकी नाट्य-कला निर्भर है। पंत जी पश्चिमी साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित रहे हैं। ध्वनि नाट्यों का प्रणयन भी कवि के इस प्रभाव का एक अंश माना जा सकता है। कवि ने आकाशवाणी में प्रवेश करने के बाद रेडियो से प्रसारित होने के लिए ही इन गीतिनाट्यों का सृजन कर अपने काव्य-विकास को एक नवीन दिशा प्रदान की थी। वे लिखते हैं—"युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य-रूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'फूलों के देश' में मैंने संस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है। 'ध्वंसशेष' में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है। 'विद्युत-वसना' में मैंने मानव-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'शिल्पी' में कला-मूल्यों तथा 'रजतशिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन-मान्यताओं के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।"[2]

१. 'शिल्प और दर्शन'—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८७।
२. वही, पृ० १२३।

इन काव्य-रूपकों में पंत जी का वैचारिक विकास अधिक प्रौढ़, परिष्कृत एवं प्राञ्जल रूप में दृष्टिगत हुआ है।

'रजतशिखर' का प्रकाशन-काल सन् १९५२ है। यह छह रूपकों का संकलन है, जिनके नाम हैं—'रजतशिखर', 'फूलों का देश', 'उत्तरशती', 'शुभ्र पुरुष', 'विद्युत्-वसना', और शरद चेतना'। 'रजतशिखर' के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है—'रजतशिखर' मनुष्य की अन्तश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है। इस काव्य-रूपक में जीवन की ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।[1] इस काव्य-रूपक में कवि ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक तथा साधनापरक अधूरे ज्ञान का प्रचार भ्रान्तिपूर्ण होता है जिससे समाज का अहित होता है। इसे उन्होंने तर्क द्वारा सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में एक पात्र मनोवैज्ञानिक है और दूसरा अरविन्दवादी। मनोवैज्ञानिक पात्र अपने विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूतियों को अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में स्वीकार करता है। रूपक के अन्त में मनोवैज्ञानिक अरविन्दवादी पात्र के अकाट्य तर्कों के सम्मुख नत हो जाता है और उसका अनुयायी हो जाता है। इस प्रकार इस काव्य-रूपक में पंत जी ने सामयिक सचरण और ऊर्ध्व सचरण का संघर्ष दिखाकर समन्वयवादी विचारों के साथ समाप्त किया है। इस संकलन के कलापक्ष के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"इन रूपकों में चौबीस मात्रा का अतुकान्त रोला छन्द प्रयुक्त हुआ है, जिसमें नाटकीय प्रवाह तथा वैचित्र्य लाने के लिए यति को क्रमगति से अनुरूप ही बदल दिया गया है एवं तेरह-ग्यारह के स्थान पर दो-बारह अथवा तीन-आठ मात्रा के टुकड़ों को रखना अधिक आलापोचित सिद्ध हुआ है। पद के अन्त में दो गुरु मात्राओं के स्थान पर लघु-गुरु या दो लघु मात्राओं का प्रयोग कथनोपकथन की धारावाहिता के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ है।... पद्य नाट्य में लय की गति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पढ़ते समय प्रत्येक के अन्त में यथेष्ट विराम दिया जाय।"[2]

---

१. रजतशिखर—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३।

२. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य-खण्ड २—शान्ति जोशी, पृ० १०७

'फूलों का देश' सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। इस रूपक में कवि ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संसार में जैसे विभिन्न वादों—अध्यात्म-वाद, भौतिकवाद, आदर्शवाद, वस्तुवाद में समन्वय कराने का काम केवल कलाकार या छवि का है।'[1] स्वयं कवि के शब्द में—"इस काव्य-रूपक में विश्व जीवन में बहिरन्तर सन्तुलन तथा परिपूर्णता लाने के लिए दोनों की ही उपयोगिता दिखायी गयी है। इसका एक पात्र कवि है और दूसरा वैज्ञानिक। कवि सांस्कृतिक चेतना को उभार कर सद्भावना पैदा करना चाहता है किन्तु वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं होता वरन् वह मानव की रचनात्मक शक्ति में विश्वास करता है। समतल संचरण का प्रतिनिधि वैज्ञानिक है और युग का प्रतिनिधि कवि है जो निम्न संचरण मार्ग को अवरुद्ध करके शेष दो में समन्वय करता है। इस प्रकार कवि ने श्री अरविन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही इस रूपक में प्रतिष्ठा की है।

बीसवीं शताब्दी में घटित संघर्ष और उसके साथ ही मानव को भविष्य के सुखद जीवन की आशा प्रदान करने वाला काव्य-रूपक 'उत्तरशती' है। इसमें कवि ने भविष्यवाणी की है कि बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में नवयुग का आरम्भ होगा। अतः उस नवीन युग के समारम्भ के पूर्व जो संघर्ष चल रहा है, वह उसी नवीन युग की तैयारी है। इस काव्य-रूपक के पूर्वार्द्ध में संग्राम का संक्षिप्त निदर्शन है और उत्तरार्द्ध में कल्याणकारी विकासक्रम की ओर संकेत है।

गांधी जी के जन्म-दिवस पर की गयी प्रशस्ति 'शुभ्र पुरुष' है। कवि के शब्दों में—" 'शुभ्र पुरुष' महात्मा जी के तपःपूत व्यक्तित्व का शुभ प्रतीक है। महात्मा जी भारतीय चेतना के आधुनिकतम रजत संस्करण हैं। प्रस्तुत रूपक उनकी जन्मतिथि, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग की विनम्र श्रद्धाञ्जलि है।"[3]

इस रूपक में कवि ने गांधी जी के व्यक्तित्व का अंकन कर उन आदर्शों के प्रति आस्था प्रकट की है जिनका गांधी जी ने प्रसार किया था।

विद्युत्-वसना—स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष्य में लिखा गया छोटा-सा काव्य-रूपक है, जिसके सम्बन्ध में कवि श्री पंत ने लिखा है—" 'विद्युत्-

१. कवियों में सौम्य सन्त : सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन, पृ० १२८।
२. रजतशिखर—फूलों का देश—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४७।
३. वही—शुभ्र पुरुष—पृ० १०५।

वसना' स्वाधीनता की चेतना का रूपक है, जो स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर लिखा गया था। स्वाधीनता ध्येय नहीं साधनमात्र है। ध्येय है अन्तर-निर्भरता तथा एकता। इस युग में जन स्वतन्त्रता की उपयोगिता, लोक-एकता तथा विश्व-मानवता के निर्माण में ही चरितार्थ हो सकती है। यही इस रूपक का सन्देश है।[1] इस स्वाधीनता की चेतना को कवि ने अरविन्द दर्शन की ऊर्ध्व चेतना के साथ संयुक्त कर दिया है, जिससे यह सिद्धान्त प्रधान रूपक बन गया है।

शरद चेतना— प्रकृति-सौन्दर्य का रूपक है। इसमें कवि ने अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय देते हुए प्रकृति के रूप-रंगों में मानवीय संवेदन को स्पन्दित किया है तथा अन्तःसौन्दर्य और अन्तःसत्य को वाणी दी है। अन्त सत्य की अभिव्यक्ति होने के कारण समस्त प्रकृति उसके सम्मुख प्रणत है। इसमें धरती की ऋतुएँ— हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि आकाशवासिनी शरद ऋतु का अभिनन्दन करती हैं जो पृथ्वी पर उतर कर चारों ओर सुख-शान्ति का संचार करती हैं। फल, मुकुल आदि धरती के चराचर आनन्द उत्सव मनाते हैं।[2] ऋतुओं का प्रणत होना ही 'अन्तर चेतना' का अवरोहण है। इस प्रकृति वर्णन को प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत कर कवि ने चेतना के ऊर्ध्वगामी और निम्नगामी द्विमुखी गति को दिग्दर्शित किया है। दूसरे शब्दों में अरविन्द के दोहरे सोपान (डबल लैडर) वाले सिद्धान्त को इस काव्य-रूपक द्वारा अभिव्यक्ति मिली है। भारतीय दर्शन में ऊर्ध्व चेतना के अवरोहण को मार्जारी न्याय और आरोहण को मर्कट न्याय के अन्तर्गत (ब्रह्म की दो चेतनाओं को) अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रकार शरद चेतना में कवि ने ऊर्ध्व चेतना के अवरोहण को दर्शाया है।

वस्तुतः उक्त काव्य-रूपकों का मुख्य प्रतिपाद्य है—मानव की अन्श्चेतना का विकसित और ऊर्ध्व आरोहण और समतल आरोहण में समन्वय स्थापित करना। नव मानवता का उद्घोष करते हुए यह सभी रूपक मार्क्सवाद की अतिभौतिकता का विरोध करते हैं।

शिल्पी—पंत जी का 'शिल्पी' काव्य-रूपक भी सिद्धान्तवादी काव्य-रूपक है। इसका प्रकाशन सन् १९५२ में हुआ। इसके अन्तर्गत तीन काव्य-

---

१. विद्युत् वसना—रजतशिखर (संग्रह)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२१।

२ वही, पृ० १३७।

रूपक--'शिल्पी', 'ध्वंसशेष', और 'अप्सरा' संकलित हैं । शिल्पी के संक्षिप्त विज्ञापन में कवि ने लिखा है—"इन रूपकों में वर्तमान विश्व-संघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन-निर्माण की ओर इङ्गित करने का प्रयत्न किया गया है।"[१] इस रूपक में कवि ने आस्था को प्रधानता दी है। आस्था ही पाषाण में प्राण-प्रतिष्ठा करती है, उसे जीवन्त बनाती है, नहीं तो वह पत्थर ही तो है। 'शिल्पी' में कला मूल्यों का संघर्ष प्रस्तुत कर उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह उच्च ध्येय से प्रेरित कलाकार के अन्तःसंघर्ष का दर्पण है। कलाकार के लिए कला, कला के लिए नहीं है। वह जीवन के लिए है, जीवन सत्य की अभिव्यक्ति है। "कलाकार एवं 'शिल्पी' का अन्तर-द्वन्द्व उस तप और साधना को मुखरित करता है जो मानव-कल्याण के लिए है।"[२]

इस रूपक में शिल्पी प्रमुख पात्र है जो एक मूर्ति के निर्माण में तत्पर दिखायी देता है। कठिन परिश्रम करने के बाद भी वह मूर्ति-निर्माण में सफल नहीं होता है, क्योंकि कला आस्था की आवश्यकता रखती है। जब कलाकार के मन में आस्था का उदय होता है तब सहसा ही उसे मूर्ति सजीव दिखायी देने लगती है। 'शिल्पी' कला और जीवन के अनन्य समन्वय का पोषक है। आगामी युग के अवतरण की घोषणा कर यह काव्य-रूपक समाप्त हो जाता है। भौतिकवाद के ऊपर अध्यात्मवाद की विजय दिखायी गयी है। शुद्ध काव्य की दृष्टि से अनेक स्थलों पर बड़े ही रम्य चित्र अंकित हुए हैं।

ध्वंसशेष—में नव-जीवन-निर्माण का स्वप्न अंकित हुआ है। सन् '५२ में रचित यह काव्य-रूपक तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना पर आधारित है। विश्वयुद्ध की उस विध्वंसकारी कल्पना से ही कवि काँप उठा है और उसी कल्पना को इस रूपक में चित्रित किया है। कवि का यह कहना है कि हमें इस महाविनाश से विचलित नहीं होना चाहिए क्योंकि यह बाह्य क्रान्ति नहीं वरन् आन्तरिक क्रान्ति है और इसके पश्चात् मानवता ऊर्ध्व संचरण करेगी।

डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय इस काव्य-रूपक के विषय में लिखते हैं— 'ध्वंसशेष' काव्य की दृष्टि से अत्यधिक सफल काव्य-रूपक है। धर्म, राजनीति, दर्शन, वर्ग-संघर्ष के ऊपर आधारित दर्शन आदि का ध्वंसशेष यहाँ चित्रित है। विज्ञान की चरम उन्नति के युग की विकृतियों को कवि ने सफलतापूर्वक

---

१. शिल्पी—(विज्ञापन)—सुमित्रानन्दन पंत।

२ सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य-शान्ति जोशी, पृ० १७३।

चित्रित किया है। प्रकृति के ऊपर विजय के मद में मदान्ध मनुष्य के प्रयत्नों से प्रकृति क्रुद्ध है।···यांत्रिक युग में महाविनाश के जो बादल उमड़ रहे हैं उनका बड़ा ही विराट् व मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। ध्वंसशेष में यांत्रिक सभ्यता का अन्त में अरविन्द दर्शन के अनुसार निर्माण के युग में प्रवेश कराया गया है।"[१]

लोकतन्त्र और अध्यात्म का ऐक्य एवं आध्यात्मिक सामूहिक जीवन को प्राप्त करना ही ध्वंसशेष का उदात्त और महान् लक्ष्य है।

'अप्सरा' काव्य-रूपक 'शिल्पी' में संगृहीत तीसरा रूपक है। कवि के शब्दों में यह सौन्दर्य-चेतना का रूपक है। यह सौन्दर्य चेतना परम चेतना है तथा मानव-कल्याण की चेतना है जो सच्चे कलाकार के अन्तरतम सत्य की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण काव्य-रूपक चार दृश्यों में आवेष्टित है जिनके शीर्षक हैं— भावोद्वेलन, मानसिक संघर्ष, उन्मेष तथा रूपान्तर।

इस काव्य-रूपक में कवि ने सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप को अन्तर्बाह्य अथवा भौतिक आध्यात्मिक समन्वय में देखा है। श्री अरविन्द की भी यही मान्यता है। वे समन्वय में ही समग्र जीवन-सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं। पंत जी के उत्तर काव्य की विचार-पीठिका यही दार्शनिक मान्यता रही है। इस रूपक में भी कवि ने कलाकार के माध्यम से चेतना का जो ऊर्ध्व संचरण प्रदर्शित किया है उसमें अरविन्द-दर्शन प्रदिबिम्बित है। संक्षेप में इस काव्य-रूपक द्वारा कवि ने श्री अरविन्द की मानवता की विकास-सरणि को प्रस्तुत किया है। सौदर्न्य-चेतना का अत्यन्त भावपूर्ण चित्रण हुआ।

'शिल्पी संग्रह के तीनों काव्य-रूपक युग-जीवन का संघर्ष एवं उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। "तीनों ही काव्य-रूपकों में यथार्थ और आदर्श, प्राचीन और अर्वाचीन एवं सापेक्ष और निरपेक्ष मूल्यों का सङ्घर्ष है। तीनों का ही लक्ष्य यह समझना है कि कवि, शिल्पी या द्रष्टा पुरुष युग-सत्य एवं युग-धर्म को उसके मानव-विकास और कल्याण में सहायक होने पर ही स्वीकार कर सकता है।"[२]

सौवर्ण—'सौवर्ण काव्य-रूपक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् १६५६ तथा दूसरे संस्करण का प्रकाशन सन् १६६३ में हुआ। प्रथम संस्करण में

---

१. पंत जी का नूतन काव्य और दर्शन—डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ७४०।
२. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, पृ० १८४।

'सौवर्ण' और 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक दो काव्य-रूपक संगृहीत हैं तथा दूसरे संस्करण में 'दिग्विजय' शीर्षक तीसरा काव्य-रूपक भी संकलित कर दिया गया। 'स्वप्न और सत्य' का रचनाकाल १९५२, 'सौवर्ण' का १९५४ तथा 'दिग्विजय' का १९६१ है।

'सौवर्ण' शीर्षक काव्य-रूपक संक्रमणकालीन मानव-मूल्यों के विकास का प्रतीक है। सौवर्ण इस रूपक का प्रतीक शीर्षक है। इसमें भारतीय दर्शन एवं ब्रह्मवाद के निष्क्रिय स्वरूप, वर्तमान का अति वैयक्तिकवाद, निजत्व को भूले हुए पाश्चात्य कलाकारों की प्रतिध्वनियाँ करने वाले रूढ़िहीन कलाकार तथा ढोंगी नेताओं पर प्रहार है। वह काव्य-रूपक कवि की गहन अनुभूति, व्यापक दृष्टि और स्वस्थ चिन्तन का भी प्रतीक है। बच्चन जी ने इस काव्य-रूपक के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि—"पंत जी का 'सौवर्ण' श्री अरविन्द के 'द लाइफ डिवाइन' का डिवाइन मैन है—मानव ईश्वर है।"[१] शान्ति जोशी इस कथन से असहमति प्रकट करती हुई लिखती हैं कि—'सौवर्ण' न श्री अरविन्द हैं और न 'दि लाइफ डिवाइन' का 'डिवाइन मैन'। यह वह औपनिषदिक शाश्वत सत्य है जो जीवन की हानि देखकर विदेश होने पर भी सन्देह हो जाता है और धरती का प्रयोजन पूर्ण करने पर पुनः अपने चिर-विग्रह में लीन हो जाता है।"[२] उनका यह कथन शुद्ध दार्शनिक ही है। इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि पंत की चिन्तनधारा पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव निःसंदेह रूप से है। इस रूपक में भी वह स्पष्ट दिग्दर्शित हुआ है। इसमें अरविन्द के नव-मानव की कल्पना मूर्त होती-सी प्रतीत होती है।

स्वप्न और सत्य – काव्य-रूपक में अन्तर्बाह्य संघर्ष के समन्वय द्वारा विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा की गयी है। इसमे युगीन आदर्श और यथार्थ के बीच चल रहे संघर्ष का चित्रण हुआ है और मध्ययुग के नैतिक आदर्शों और वर्तमान युग के भौतिक आदर्शों की पराजय दिखाते हुए यह संकेत किया गया है कि आज की मानवता को अधिक व्यापक और गम्भीर सत्य दृष्टि युक्त होना चाहिये। इस रूपक में भी अरविन्द दर्शन से प्रभावित कवि ने चेतना के संचरण द्वारा अन्तर्बाह्य के समन्वय को आदर्श जीवन के नवारम्भ के रूप में देखा है।

---

१. कवियों में सौम्य सन्त : सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन, पृ० १४६।
२. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य, पृ० १८९।

दिग्विजय—काव्य-रूपक लिखने की प्रेरणा कवि को यूरी गैगरीन की अंतरिक्ष यात्रा से मिली थी। इस नवीन रूपक में जीवन-सत्य के बहिरन्तर विजय का चित्रण कर युग-सत्य को समझने की चेष्टा की गयी है। अन्तरिक्ष के रहस्य को जान लेना ही वास्तविक अरुणोदय नहीं है वरन् सामाजिक मानव की भौतिक पथ से बढ़ते हुए सांस्कृतिक, आध्यात्मिक उन्नति द्वारा इस धराधाम को ही स्वर्ग में बदलना होगा।

इस प्रकार इन सभी काव्य-रूपकों की भावभूमि अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। ये सभी रूपक यथार्थ में विचरते हुए समस्त जीवन का विस्तृत भाव, विचार, भूत, वर्तमान और भविष्य का समदिक और ऊर्ध्व संचरण का विस्तृत, मर्मभेदी और सहज वर्णन करते हैं। कला-शिल्प की दृष्टि से भी यह प्रभावोत्पादक है। साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी ये सफल काव्य-रूपक हैं एवं श्रव्य-काव्य की परम्परा के सूत्रधार हैं।

अतिमा :

यह अतिमा
तन से जा बाहर
जग-जीवन की रज लिपटाकर,
उपचेतन के कर्दम में धँस
घायल खोहों में घुस हँस-हँस
अन्धकार को छेड़ जगाती।

'अतिमा' कविता-संग्रह का प्रकाशन सन् १९५५ में हुआ। अतिमा को कवि ने चेतना की ज्योति के रूप में ग्रहण किया है। इस रूपक में कवि ने श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि चेतना की किशरण जड़, अन्धकार और अचेतन से चलकर अचेतन-अतिचेतन से परे ऊर्ध्वतम में विकसित होने जा रही है। उक्त पद्यांश में यही व्यक्त है—अतिमा प्रकाश की वह किरण है जो अन्धकार को छेड़ती है, वह शक्ति है जो भू-जीवन को विकसित करती है।

अतिमा काव्य-संग्रह के बारे में कवि ने स्वयं इसके विज्ञापन में अपने विचार इन शब्दो में व्यक्त किये हैं—"अतिमा का प्रयोग मैंने अतिक्रान्ति अथवा महिमा के अर्थ में किया है, जिसे अँग्रेजी में 'ट्रान्सेण्डेन्स' कहते हैं। वह मनः-

---

१. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४४।

स्थिति जो आज के भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता में अनुप्राणित हो। प्रस्तुत संग्रह में, प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, अधिकतर ऐसी ही रचनाएँ संग्रहीत हैं जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्वरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।'[1] इन महिमा सम्बन्धी रचनाओं की भूमिका निः-सन्देह अरविन्द दर्शन से सम्बन्धित है। इस संग्रह की प्रतीकात्मक कविताओं में से कुछ के शीर्षक हैं—'कौए, बत्तखें, मेढक, प्रकाश-पतिंगे, छिपकलियाँ, केंचुल, स्वर्णमृग, दीपक जलना इत्यादि। शैली की दृष्टि से इस संग्रह में किसी प्रकार की नवीनता का आग्रह नहीं है। इसका स्वर चिर-परिचित छायावादी स्वर है। परन्तु फिर भी कविताएँ सुन्दर और सरस बन पड़ी हैं। दिनकर जी के शब्दों में—" 'उत्तरा' और 'अतिमा' को देखकर यह अनुमान होता है कि समर्थ कलाकार के हाथ में हिन्दी भाषा वही चमत्कार दिखला सकती है जो विश्व की बड़ी भाषाओं ने दिखलाया है।"[2]

वाणी :

व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीड़ित
उन्मन गुञ्जन,
व्यर्थ आत्म दीक्षित, युग कुण्ठित
जीवन दर्शन।
आज चाहिए सामाजिक चिन्तन
जग को, सामूहिक जीवन,
भू-स्तर पर उन्नयन।[3]

'वाणी' कविता संग्रह की कविताओं की रचना सन् १९५७ और प्रकाशन सन् १९५८ में हुआ। इसकी समस्त रचनाएँ कवि पंत की नूतन काव्य-चेतना से अनुप्राणित हैं, जिनमें उनकी विश्व-भावना की मंगलाशा झलकती दिखायी देती है। इसमें कवि की अभिव्यक्ति अधिक प्रांजल और परिष्कृत रूप में हुई है तथा कवि का विस्तृत दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। एक प्रकार से अतिमा के

---

१. अतिमा (विज्ञापन से) सुमित्रानन्दन पंत।
२. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० १३४।
३. वाणी (अग्नि की पुकार)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १७।

दृष्टिकोण को 'वाणी' में स्पष्ट सामाजिकता मिली है। कवि का सामाजिक स्वर उक्त उद्धरण में मुखरित है।

'वाणी' के विषय में स्वयं कवि ने अपनी पुस्तक 'कला और संस्कृति' में लिखा है—' 'वाणी' की रचनाओं का शिल्प मेरी इधर की अन्य रचनाओं से अपेक्षाकृत सरल, सशक्त तथा संयमित है। उसकी कुछ रचनाएँ प्रतीकात्मक हैं तथा कुछ को आप प्रवंचनात्मक कह सकते हैं। अपनी प्रतीकात्मक कविताओं में मैंने नवीन जीवन-मूल्यों का सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों का उद्घाटन कर भू-जीवन का नवीन शोभा तथा अनुराग-भावना से मण्डित किया है। व्यंग्यात्मक रचनाओं में मैंने युग-जीवन के विरोधों तथा असंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्रवचन काव्य के अन्तर्गत मुख्यतः चार रचनाएँ आती हैं, जिनके शीर्षक हैं—आत्मदान, अग्नि सन्देश, अभिषेक तथा चैतन्य सूर्य। इन रचनाओं में उद्‌बोधन के स्वर ही प्रमुख हैं। इनमें मैंने एकांगी भौतिक विकास के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराकर युग-परिस्थितियों में व्यापक सामंजस्य स्थापित करने का आग्रह किया है। मनुष्य की मानसिक सीमाओं तथा संकीर्णताओं के कारण विध्वंस की शक्तियाँ जिस प्रकार विश्व-सभ्यता को निगलने के लिए मुँह बाये आगे बढ़ रही हैं, उनके प्रति मैंने इन रचनाओं द्वारा युग-मानव को सावधान किया है। इनमें मैंने भौतिक-आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय पर बल दिया है"। इन रचनाओं के अतिरिक्त 'वाणी' में 'बुद्ध के प्रति' शीर्षक एक लम्बी रचना है, जिसमें मैंने अपने देश की मध्ययुगीन जीवन-मान्यताओं का आलोचनात्मक विवेचन किया है और हमारे देश के मानस में जो निषेधात्मक ऋण प्रवृत्तियाँ घर कर गयी हैं, और जिस प्रकार उनसे हमारे सामाजिक जीवन की अकल्पनीय क्षति हुई है उस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है।[१]

'अतिमा' और 'वाणी'—दोनों का ही स्वर विकासोन्मुखी है। दोनों संकलनों को एक ही स्तर की रचनाएँ मानते हुए श्री सी० बी० राव ने अपने एक लेख में लिखा है—"From 'Atima' to 'Vani' has been a straight journey-almost too straight. One obvious blemish-the result, possibly of the straightness of the road he has travelled on since giving us 'Atima'—is that 'Vani' seems like an over-

---

१. कला और संस्कृति—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८४-८५।

flow of 'Atima.' That; I grant—is no real blemish so far as the poetry is concerned, but as a separately published book of verses 'Vani' does suffer a little because there has been an 'Atima' three years earlier... The two volumes well, in future years, inevitably be spoken of together-as if they were parts one and two of a single thesis."[१]

'अतिमा' के सम्बन्ध में रवीन्द्र भ्रमर लिखते हैं—" 'अतिमा' की सबसे बड़ी विशेषता, जिसके बारे में मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, कवि पंत का नवीन अधुनातन काव्य-शिल्प के निकट आ जाना है। शिल्प ही नहीं, विषय की दृष्टि से भी इस संग्रह की कई रचनाएँ एकदम 'नयी' कही जा सकती हैं और इनका रचनाकार स्वयं में हिन्दी की नयी कवि-पीढ़ी के साथ जान पड़ता है···। पंत जी युग-धर्म को पहचान कर युग के साथ चलने वाले कवि रहे हैं। 'अतिमा' में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इस संग्रह की रचनाएँ प्रयोगवादी युग में लिखी गयी हैं··· 'जन्म-दिवस', 'सोनजुही' या 'धरती कितना देती है' प्रभृति रचनाओं को देखकर उनमें जागृत होते हुए सशक्त, किन्तु नये कवि-रूप के प्रति हमारी आस्था दृढ़ होती है और उसके प्रति हम श्रद्धा-विनत भी हैं।"[२]

'वाणी' में तीन लम्बी कविताएँ हैं—'बुद्ध के प्रति', 'कवीन्द्र के प्रति' तथा 'आत्मिका'। 'आत्मिका' में कवि ने अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की है। तीनों ही रचनाएँ पंत के विचार और भावों को सरल एवं सहज किन्तु प्रौढ़ तथा सशक्त अभिव्यक्तियाँ हैं।

'अतिमा' और 'वाणी' छायावादी सौन्दर्य की आभा से युक्त होते हुए अपने रूप में प्रयोगवादी और अन्तर में जनमंगल का भी हैं। इन रचनाओं में वर्णनात्मक सजीवता है और है काव्य-गरिमा का सौष्ठव, क्योंकि कवि की दृष्टि धूमिल या सीमित नहीं हैं, वह अनुभूति के ओज से प्रोज्ज्वल है। इनमें वीणा-पल्लवकालीन आत्म-मुग्धता, सौन्दर्यप्रियता की जीवनप्रियता और जन-मंगलाशा में स्पष्ट परिणति मिलती है। कवि को वह काव्य-सौन्दर्य और शिल्प आकर्षित नहीं करता है जो जीवन की गहराई से निःसृत न हुआ हो। इस

१. न्यू कलेक्शन आफ सुमित्रानन्दन पंत, तर्केस वर्सेज।

२. साहित्यकार, पृ० १६—डॉ० रवीन्द्र भ्रमर— साहित्यकार संसद, इलाहाबाद।

प्रकार पंत जी की कला एक प्रवहमान चेतना के समान है जो ऊँचाई से नीचे की ओर और नीचाई को पूरित कर फिर ऊपर की ओर बहती है।[1]

कला और बूढ़ा चाँद :

ओ सृजन उन्मेष,
मन ने बहुत काट-छाँट की,...
कला शिल्प के हाथों से
भाव बोध के स्पर्शों से
सहस्रों नये वसन्त सँवारे।
अभी असंख्य शरदों को
अपने अंग
पावक को नहला कर
रूप ग्रहण करना है।[2]

जैसा कि नाम से ही नवीनता दृष्टिगत होती है, 'कला और बूढ़ा चाँद' कविता-संग्रह एक नयी रूप-विधा को लेकर सन् १९५८ में प्रकाशित हुआ। उक्त पंक्तियों में कवि ने व्यक्त किया है कि सृजन की प्रेरणा ने आज तक अभिव्यक्ति के जो भी रूप ग्रहण किये हैं उससे कहीं अधिक तथा कहीं विविध छटाओं में उसे अपने आपको व्यक्त करना शेष है। इस संकलन में सर्वथा नवीन कला और शिल्प द्वारा बूढ़े चाँद को अभिव्यक्ति मिली है यानि अनुभूति और विचार वही हैं पर साज-सज्जा और रूप-विधान नया है। कवि की काव्य-चेतना के उत्कर्ष का एक नया रूप है। इसकी विशिष्टता के सम्बन्ध में बच्चन जी कहते हैं—" 'कला और बूढ़ा चाँद' एक नये माध्यम को लेकर आया है। मैंने उसे गद्य-काव्य कहा है, पर हिन्दी के पिछले गद्य-काव्य में यह डूब नहीं सकता। मानसिक अनुभूतियो की असाधारणता, विचित्रता और सूक्ष्मता, सहज स्फुरण द्वारा नये, ताजे, आकर्षक प्रतीकों के संचयन और शब्दों को अभिव्यजना की चरम सीमा पर ले जाकर छोड़ देने की कला ने 'कला और बूढ़ा चाँद' में एक अद्भुत कृति हमारे सामने रखी है।' दस वर्ष के व्यस्त जीवन में काव्य को इतने रूप-गुणराशि मे प्रस्तुत करने में समर्थ संत जी की सृजन-शक्ति निःसंदेह असाधारण है।"[3]

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी—पृ० ३१४-१५।

२. कला और बूढ़ा चाँद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १।

३. कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत, बच्चन, पृ० १७१।

स्वयं कवि ने इस कृति की नवीनता के सम्बन्ध में लिखा है कि इसमें उसने छन्दों की पायलें उतार दी हैं। कविताओं को छोटी-बड़ी पंक्तियों में छापा तो गया है, पर रचना-प्रकार में वह गद्य की तरह ही लिखा गया है। इस काव्य में कवि का जीवन सत्यों के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण मिलता है। कवि पंत भावों के द्वारा सत्य को ग्रहण करते हुए काव्य के क्षेत्र में आये थे। दार्शनिक और कलाकार एक अन्य माध्यम, जिसके द्वारा सत्य तक पहुँचते हैं, वह है सहज स्फुरण।

'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाएँ सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों की अभिव्यंजना करती है। इसी अर्थ में पंत जी ने उसे रश्मिपदी काव्य कहा है। छन्द, अलंकरण आदि काव्य के बाह्य रूप भावोन्मेष एवं सहज स्फुरण के प्रति विनत हैं। अर्थात् यह काव्य स्वतः नियन्त्रित है, छन्दों के बन्धन से मुक्त, छन्दमुक्त है। बच्चन जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"इसमें (कला और बूढ़ा चाँद) पंत जी ने काव्याभिव्यक्ति के लिए ऐसे माध्यम को स्वीकार किया है जिसका उपयोग उन्होंने पहले कभी नहीं किया था।...मुक्त छन्द को विकृत होते देखकर उन्होंने गद्य-काव्य का पुराना माध्यम अभिनव करके उपस्थित किया है।...'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाएँ सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों की अभिव्यंजना करती हैं। इसी अर्थ में पंत जी ने इसे 'रश्मिपदी' काव्य कहा है। प्रतीकों का प्रयोग और उनकी अर्थ-गहनता पंत जी की कविता में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में वह चरम स्थिति पर पहुँच गयी है।"[१]

स्वयं पंत जी ने रश्मिपदी की व्याख्या करते हुए कहा है कि "रश्मिपदी माने जो कि बिल्कुल एक 'इण्ट्यूशनल पोएट्री' है। मैंने उसे छन्द भी देने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उसमें इतना कवित्व का तत्त्व मेरे भीतर मुझे लगा कि मैंने सोचा कि उसे छन्द में क्यों बाँधूँ।"[२]

भाव के स्तर पर यह काव्य विचारात्मक उतना नहीं है जितना प्रेरणात्मक है। इसमें कवि ने सीधे प्रेरणा-सम्पन्न भावों का उद्घाटन किया है। आरम्भ में ही कवि ने सृजन-उन्मेष की स्थिति को स्पष्ट किया है (पीछे यह पंक्तियाँ हमने उद्धृत की हैं) जिसके द्वारा काव्य-शिल्प का निर्माण होता है। सृजन का

---

१. कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन, पृ० १६७।
२. धर्मयुग : अन्तरंग वार्ता (२) (अमृत की पंत से बातचीत)—दिसम्बर, १९६९, पृ० २१।

उन्मेष कवि को प्रेरणा देता है और वह उससे प्रेरित होकर कला-शिल्प तथा भाव-बोध में नवीन परिवर्तन करता है। इसीलिए इस काव्य में कवि शब्दों के बजाय संकेतों में बोला है। प्रतीक-विधान का प्रयोग चरम स्थिति पर है। इस प्रकार 'कला और बूढ़ा चाँद' की कविताओं में नयी कविता के कुछ उपकरणों का प्रयोग अवश्य है पर मूलतः उन्मुक्त अभिव्यक्ति होने के कारण उनमें एक विशिष्ट भावात्मक प्रवाह है।...इतना स्पष्ट है कि पंत ने अपने लिये नये माध्यम को चुना है उसमे वे सफल भी हुए हैं।"[1]

शिल्प और शैली की दृष्टि से भी यह काव्य-संग्रह अप्रतिम रचना है। श्री अजितकुमार के शब्दों में—"प्रस्तुत संग्रह (कला और बूढ़ा चाँद) की कविताएँ शैली की दृष्टि से एक सुदृढ़ और ठोस आधारभूमि पर स्थित हैं और उनका शिल्प उतना ही वैभवशाली है जितना कि उदात्त संयत रचना तथा कोमलकान्त पदावली के लिए विख्यात इस कवि का सदा से रहा है। छन्दबद्ध न होते हुए भी, ये कविताएँ कला की दृष्टि से पंत जी के समस्त पिछले काव्य के ही समान पुष्ट, परिपक्व और समर्थ हैं, तथा उसी परम्परा को आगे बढ़ाती हैं।...'कला और बूढ़ा चाँद' पंत जी की पिछली कविता की ही एक अविच्छिन्न कड़ी है, न कि एक अलग से आरोपित अथवा बाहर से ली गयी कोई असम्बद्ध और विचित्र रचना।"[2]

'कला और बूढ़ा चाँद' का मानसिक धरातल, उसकी भावभूमि जड़वाद, भूतवाद, अध्यात्मवाद और अरविन्दवाद के शब्दों में नहीं समझी जा सकती है। मात्र अनुभूति, व्यापक अनुभूति और तज्जनित आनन्द का यह काव्य सहज बोध एवं उच्च उन्मेषमय रश्मिपदी—होने के कारण प्रतीकों और बिम्बों की भाव-भंगिमा का मधुर लास है।[3] इस काव्य-संग्रह को दृष्टि में रखते हुए डॉ० प्रतापसिंह चौहान का कथन है कि—"उनकी (पंत) आधुनिक रचनाओं में दर्शन की बौद्धिक स्तर पर अवतारणा उनके काव्य की रसवत्ता को उत्तरोत्तर छीनती गयी है और इस दृष्टि से उनके आधुनिक काव्य के परिवेश को साहित्येतर भी कहा जा सकता है।"[4] उनके द्वारा प्रयुक्त साहित्येतर शब्द तो निश्चय

१. कादम्बिनी (जनवरी, १९६१) – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १२८।
२ कृति—अंक ६, वर्ष २—अजितकुमार, पृ० ६१।
३. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—भाग २–शान्ति जोशी, पृ० ३६६।
४. पंत का काव्य-दर्शन—डॉ० प्रतापसिंह चौहान, पृ० १२१।

ही आपत्तिजनक है। पंत जी जैसे उच्चकोटि के कलाकार का काव्य-परिवेश या काव्य साहित्येतर की कोटि में तो रखा ही नहीं जा सकता और 'कला और बूढ़ा चाँद' कृति को स्फुरणात्मक काव्य है जिसमें प्रतीकों के माध्यम से यह बताया गया है कि व्यक्ति का सत्य उसके भीतर है, व्यक्ति का कल्याण समाज एवं मानव-कल्याण है। इस संग्रह की कविताएँ जीवन-सत्य से आलोकित कविताएँ हैं और यह काव्य मानवता का काव्य है।

लोकायतन :

सहज प्रसन्न जननि वह जन को दे वर
बरसे श्री शोभा मंगल पग पग पर
महत् सत्य से प्रेरित हो मानव-उर,
धरा-स्वर्ग हो सुन्दर से सुन्दरतर।[1]

'लोकायतन' महाकाव्य पंत जी की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें पंत जी के सौन्दर्य-विषयक आदर्श, भाव-चेतना और वैचारिक विकास को समग्र रूप से देखा जा सकता है। कवि के विकास-सोपान में यह काव्य उच्चतम स्थिति-बिन्दु का द्योतक है। इसमें कवि की मूल परिकल्पना है लोकभूमि पर जीवन्त सांस्कृतिक महत् चेतना के निर्माण की। उक्त उद्धृत पंक्तियों में पार्वती के वरदान के रूप में कवि ने धरती को स्वर्ग से भी सुन्दर बनाने की कल्पना की है। स्वयं कवि ने ग्रंथ के उपशीर्षक में इसे 'लोक-जीवन का महाकाव्य' कहा है। दूसरे शब्दों में 'लोक-जीवन' के सुन्दर 'आयतन' (घर) की परिकल्पना इस काव्य में प्रतिफलित हुई है। इसका लोकायतन नाम प्रतीकात्मक है।

सन् १९६४ में प्रकाशित यह रचना सम्भवतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में परिमाण की दृष्टि से सबसे बड़ी कविता है। ६८० पृष्ठों के इस काव्य में १५ सर्ग हैं और लगभग बीस पंक्तियाँ हैं। इसमें कवि श्री पंत ने अपने 'जीवन-दर्शन' की भूमिका के आधार पर विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों एवं वस्तुस्थितियों के सम्बन्ध में मूल्यांकन किया है। ध्यातव्य है कि पंत के जीवन-दर्शन की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वह श्री अरविन्द के दार्शनिक विचारों एवं महात्मा गांधी के सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोणों से प्रभावित है। कवि की अन्तर्भेदी दृष्टि जगत् की जटिल समस्याओं का हल ध्वस्त सृष्टि के पुनर्निर्माण में पाती है जिसमें नवीन मानवता जन्म लेती है। इस नव-प्रसूत मानवता के सम्बन्ध

१. लोकायतन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३५।

स्थापित कर एकसूत्र में बंध कर रह सके और जीवन-मंगल के बीज बो सके। इस प्रकार इस महाकाव्य में सत्य को उजागर कर पृथ्वी पर दिव्य, सौन्दर्य-युक्त और कल्याणकारी जीवन का आह्वान कवि ने किया है।

गांधी जी के अतिरिक्त इस महाकाव्य में सभी पात्र कल्पित हैं, जिनके द्वारा कवि ने जीवन की अनुभूतियों और सत्य को वाणी दी है। समस्त महाकाव्य दो भागों में विभाजित है—(१) बाह्य परिवेश और (२) अन्तश्चैतन्य। बाह्य-परिवेश में कुल चार खण्ड हैं—(१) पूर्व स्मृतिः आस्था, (२) जीवन द्वार (युग-भू, ग्राम-शिविर, मुक्ति-यज्ञ), (३) संस्कृति द्वार (आत्मदान, संक्रमण, ह्रास, विघटन, विकास, मधुस्पर्श) और (४) मध्य बिन्दुः ज्ञान। 'अन्तश्चैतन्य में तीन खण्ड हैं—(१) कलाद्वार, (२) ज्योति-द्वार और (३) उत्तर स्वप्नः प्रीति। इस दृष्टि से सम्पूर्ण काव्य-बंध नवीन एवं मौलिक है। 'भाषा, भाव-सम्पदा, चरित्र-चित्रण; युग-जीवन का आकलन और लोकमंगल की सृष्टि; इन सभी दृष्टियों से यह महाकाव्य निश्चय ही हमारे सम्पूर्ण वर्तमान की महान् गाथा है।'[१]

अरविन्द-दर्शन और पंत—कवि पंत के नवचेतनावादी काव्य का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम अरविंद-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हुये यह देखने का प्रयास करेंगे कि अपने काव्य में कला-शिल्पगत सौन्दर्य के अन्तर्गत कवि ने अरविन्द-दर्शन के प्रभाव को किस रूप में अभिव्यक्ति दी है।

महर्षि अरविन्द पुनर्जागरण-काल की एक सशक्त भारतीय प्रतिभा थे। उन्होंने यथासम्भव समस्त पौरस्त्य, पाश्चात्य, प्राचीन, अर्वाचीन दर्शन एवम् ज्ञान-विज्ञान का भंडार अर्जित कर लेने पर एक ऐसे दर्शन की प्रतिष्ठापना की जो लगभग सभी अतिवादों और विरोधी विचारों का समन्वय करता है अर्थात् ऐसा समन्वयवादी दर्शन जो योगसंभूत अन्तश्चेतनामूलक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस समन्वय के अन्तर्गत उन्होंने यह स्थापना की कि मनुष्य इसी भूलोक पर ही दिव्य-जीवन का अनुभव कर सकता है, जिसकी उपलब्धि भौतिक तत्वों के निषेध में नहीं वरन् उसके रूपान्तरण द्वारा सम्भव है। यह रूपांतरण वैयक्तिक स्तर पर न होकर सामूहिक रूप से होगा—ऐसी श्रीअरविन्द की मान्यता है। वे वैयक्तिक मुक्ति में विश्वास नहीं करते। उनका ऐसा विश्वास है कि

१. 'तारपथ' की भूमिका—श्री दूधनाथ सिंह, पृ० ४२।

मानव चेतना के रूपान्तरण द्वारा आत्मिक प्रबुद्धता (स्प्रिचुअल लाइट्स) प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है जिसके अन्तर्गत उन्होंने भारतीय ईश-साधना में यौगिक-साधना को सर्वाधिक महत्व दिया है। भारतीय दर्शन में इन ऊर्ध्वता की प्राप्ति वैयक्तिक स्तर पर हुई है—जिनमें बड़े-बड़े महात्मा इसके उदाहरण हैं। उनके अन्तःकरण ने उस महान् की प्राप्ति कर ली थी जो बौद्धिक मंथन से भी परे हैं। अरविन्द-दर्शन की यही मौलिकता है कि उसमें सामूहिक रूपांतरण की बात कही गयी है। श्री अरविन्द का ऐसा विश्वास है कि एक समय ऐसा आयेगा जब बहुत सारे मनुष्य एक साथ चेनात्मक रूप से ऊर्ध्वतर हो जायेंगे। ऐसा हो जाने पर संसार में एक प्रकार की जाग्रत चेतना या प्रकाश का प्रसरण होगा जो स्वर्गिक होगा। वास्तव मे स्वर्ग और कहीं नही, इस पृथ्वी पर ही है। ऊर्ध्वता वास्तव में मन-बुद्धि से परे आत्मा या चेतना के जाग्रत और प्रबुद्ध होने का ही नाम है। इस-लिये जब समस्त मानव जाति जाग्रत हो जायेगी तो इस पृथ्वी के स्वर्ग बनने में कोई सन्देह न रहेगा तथा यह रूपान्तरण विश्व-स्तर पर सम्भव है। रूपान्तरित मानव को उन्होंने अतिमानव (सुपरमैन) की संज्ञा दी है। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में श्री अरविन्द की जो महत्वपूर्ण देन हैं—वे हैं अतिमानव की खोज, सामूहिक मुक्ति, पृथ्वी और स्वर्ग का समन्वय और दिव्य-जीवन की कल्पना।

श्री अरविन्द के ब्रह्म सम्बन्धी विचार उपनिषद् पर आधारित है[1]। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधना-रत आत्मा को ऊर्ध्व संचरण आवश्यक होता है। आत्मा अपने विकासक्रम में जब ऊर्ध्व चेतना की स्थिति में पहुँचती है तब उसे ब्रह्म से मिलने का आनन्द प्राप्त होने लगता है। इस स्थिति को ऊर्ध्व संचरण (Ascent) अथवा आरोहण कहा गया है। ब्रह्म से सम्मिलन की प्रक्रिया में एक ओर तो आत्मा का ऊर्ध्व संचरण होता है और दूसरी ओर ब्रह्म का अव-

---

१. There is then a supreme Reality eternal, absolute and infinite. Because it is absolute and infinite-it is in its essence in-determinable. it is indefinable and inconceirable and inconceirable by finite and defining mind, it is describable neither by our negations Neti-Neti nor by our affirmations iti-iti.—The life Divine Vol. I Pg. 34.

तारणा अथवा अवरोहण (Descent) होता है । यानि, विकसित आत्मा से मिलने के लिए ब्रह्म स्वयं नीचे की ओर गतिशील होता है और आत्मा को अपनी प्राप्ति सम्भव बना देता है । जीवात्मा ही नहीं, समस्त जागतिक पदार्थ ब्रह्म की परम सत्ता से अनुप्राणित हैं । अतः जीवात्मा से मिलने के लिए ब्रह्म का अवरोहण करना अवश्यम्भावी है ।

श्री अरविन्द के दर्शन की मूलभूत विशेषता है समन्वय । उनके अनुसार जड़ और चेतन में आकाश-पाताल का अन्तर होते हुये भी उनमें समन्वय सम्भव है । उनका यह भी मत है कि ब्रह्म तर्क या बुद्धि द्वारा अग्रहणीय है, किन्तु इन्ट्यूशन द्वारा उसे अनुभूत किया जा सकता है । अतः उनके अनुसार ब्रह्म विश्वरूप होते हुये भी विश्वातीत और निरपेक्ष है । वह अपने में पूर्ण स्वतन्त्र, देश-काल की सीमा से परे है । जड़ और चेतन दोनों की ही सत्ता का निषेध करना सहज है किन्तु दोनों में समन्वय स्थापित करना ही सच्ची बुद्धिमत्ता होगी ।[१] इसके अलावा वे जड़ और चेतन में कोई तात्विक भेद स्वीकार नहीं करते । दोनों एक ही परमात्मा के दो छोर हैं । एक छोर पर आत्मा अथवा ब्रह्म है और दूसरे पर जड़ अथवा मैटर । दोनों एक ही चेतना से अनुस्यूत होने के कारण एक ही हैं । पत्थर और लोहे में भी प्राण हैं, किन्तु वे अवचेतन (अनकान्सस) के इतने गहरे स्तर में है कि हम अनुभव नहीं कर पाते । जीवात्मा कहीं बाहर से नहीं आती वरन् जगत् में पूणरूपेण व्याप्त है । भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों उस ब्रह्म के दो पार्श्व मात्र हैं । जीवन तत्त्व विकसित होता हुआ अभी उसका अग्रिम विकास अधिमानस या सुपरमाइन्ड तक होगा । और इस स्थिति में वह ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर

---

१. The movement of energy, the becoming are also a fact, also a reality. The supreme intution and its correspondi-ing experience may-correct the other, may go beyond, may suspend but do not existence and of world exi-stence, infact of being a fact of becoming. To deny one or the other is easy to recognise the facts of concious-ness and find out their relation in the lrue and fruitful wisdom.

—Sri Aurobindo-The Iife Divince Vol. I, Pg. 93.

पूर्ण शान्ति का अनुभव करेगा, इस दिशा की ओर सतत् विकास हो रहा है—ऐसा उनका विश्वास है। इसके लिए उन्होंने प्रमाण दिया है कि जड़ मे अर्द्ध-चेतन, वृक्ष, लता, पशु आदि और फिर चेतन मनुष्य इस विकास के क्रमिक सोपान हैं। यह विकास चेतन-शक्ति को आरोहण और अवरोहण दोनों प्रक्रियाओं द्वारा सतत् हो रहा है। आरोहण-अवरोहण की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत योगिराज अरविन्द ने क्रमशः आठ सोपान माने हैं। सबसे नीचे का धरातल मैटर है फिर प्राण, उपचेतन और मन है। इनके ऊपर क्रमशः अतिमन, आनन्द, चेतन शक्ति और सबसे ऊपर आत्मा या दिव्य चेतना अवस्थित रहती है। इसे उन्होंने निम्न प्रकार से दर्शाया है—

परा प्रकृति	—	अपरा प्रकृति
सत्	—	जड़
चित्	—	प्राण
आनन्द	—	चैत्यपुरुष
अतिमानस	—	मन[1]

इस क्रम को हम आरोहण और अवरोहण—दोनों दृष्टि से समझ सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि यदि भूत अवरोहण की अन्तिम सीढ़ी है तो आरोहण की प्रथम सीढ़ी भी है।[2] श्री अरविन्द माया के तत्व को भी स्वीकार करते हैं। उसके दो रूप माने हैं—निम्न माया (प्रकृति) और उच्च माया (चित् शक्ति)। जड़ तत्व से विद्ध, होकर यह चितशक्ति अपरा प्रकृति बन जाती है, जड़ता से मुक्त होकर चिन्मय परा प्रकृति। दोनों की ग्रंथि वहाँ हैं जहाँ मन तथा ऊर्ध्वमन परस्पर एक विभेदक रेखा योगमाया से व्यवहृत रहते हैं। अतिमानस पर योगमाया का आवरण रहता है। यदि यह आवरण हट

१.

Existence	—	Matter
Conciousness-Force	—	Iife
Bliss	—	Psyche
Supermind	—	Mind

—Sri Aurobindo—The Iife Divinee Vol. I, Pg. 316.

२. As matter is the last Word of the descent, so it is also the first word of the ascent.

—Sri Aurobindo—The Iife Divine Vol. I, Pg. 316.

जाय तो मानवीय धरातल दिव्य हो जाय । आवरण के हटने से ऊर्ध्व का अधः संचार या अवरोहण और अधः का ऊर्ध्व संचार या अवरोहण अर्थात् निहित उत्कर्ष या प्रकटीकरण होता है । यही रूपान्तरण का चिन्मयीकरण है । 'इंट्यूशनल माइण्ड' और 'सुपरमाइण्ड' के अन्तराल की एक ही भूमि है । इसी के माध्यम से ऊपर का सन्देश मन ग्रहण करता है—उच्चमन, दीप्तमन, संबोधि, अधिमन आदि अनेक स्तरों की कल्पना अरविन्द ने की है । इस प्रकार अतिमानस तथा मानस के अन्तराल की ये विभिन्न भूमियाँ हैं । इन भूमियों से गुजरते हुये सम्पूर्ण मानव जाति का विकास अति चेतना की ओर हो रहा है । श्री अरविन्द की मान्यता है कि अतिमन के उदय हो जाने पर जीवन एवं संसार का सारा परिदृश्य बदल जायेगा । अतिमन से युक्त मनुष्य को उन्होंने विज्ञान-पुरुष या अतिमानव (सुपरमैन) कहा है । अतिमानव की कल्पना अरविन्द-दर्शन का चरम लक्ष्य है । यह सिद्धान्त उनके दर्शन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उनका विश्वास है कि सृष्टि का विकास अतिमानव की दिशा में हो रहा है जिसके पश्चात् मानव-मन परमानन्द में लीन हो जायेगा । यह स्थिति पूर्ण समर्पण द्वारा उपलब्ध होगी । यह स्थिति कुछ तो मनुष्य को तपोनिष्ठ बन ऊंचे उठने का प्रयास तथा कुछ भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त होगी । इस स्थिति पर पहुंचकर मनुष्य की अन्तश्चेतना जागृत हो जायेगी और उसे एक दिव्य ज्योति प्राप्ति होगी जो उसका मार्ग निर्देश करेगी ।

अरविन्द यह नहीं मानते कि छोटे-छोटे उपदेशों अथवा आचरण के सामान्य नियमों पर जोर देने से मनुष्य सुधर सकता है । मानस अथवा बुद्धि के स्तर पर मनुष्य यथेष्ट समय तक रह चुका है । अब विकास की प्रक्रियाओं में उसे एक और नया कदम उठाना चाहिये । यह कदम जिस स्तर पर पड़ने वाला है उसी का नाम अतिमानस है, जहाँ पहुंचकर मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा कि प्रत्येक अन्य मनुष्य उसका अपना ही अंश है, प्रत्युत, इस सत्य को वह स्वयं अनुभव कर लेगा ।[१] 'साथ ही अरविन्द यह नहीं स्वीकार करते कि अतिमानवत्व केवल एक व्यक्ति को प्राप्त होगा तथा शेष लोग उसके प्रत्यक्ष आधिपत्य में रहेंगे । प्रत्युत, उनकी धारणा है कि अतिमानवत्व से युक्त सभी मनुष्य चिर-अभिलषित अतिमनुष्यत्व को प्राप्त कर लेवें । सम्भव है कि अतिमानस का उदय पहले किसी समूह या व्यक्ति में हो किन्तु उसके बाद वह

---

१ संस्कृति के चार अध्याय —रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ६१९ ।

फैलता जायेगा।'[1] इस प्रकार अतिमानवों के द्वारा सामान्य-जन में अतिमानस जागृत किया जायेगा और सभी मनुष्य तब अतिमानव होंगे और इस धरती पर अतिमानवों की जाति अवतीर्ण होगी।

श्री अरविन्द के इस दिव्य जीवन एवं अतिमानव की कल्पना ने कवि श्री पंत को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी दर्शन की दिव्य भूमि पर उनके उत्तर-वर्ती काव्य का निर्माण हुआ है। उनका कहना है कि मेरा आकर्षण अरविन्द के दर्शन के लिए मुख्यत: इसलिये हुआ कि उन्होंने मध्ययुगीन द्रष्टाओं की तरह जीवन की उपेक्षा या बहिष्कार नहीं किया।'[2] इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द ने प्राचीन भारतीय अध्यात्मवाद को सर्वोपरि स्थान देते हुये भी पश्चिमी ज्ञान एवं दर्शन का पूर्णतया निषेध नहीं किया। पंत जी के मानसिक विकास के संदर्भ में यह स्थिति अनुकूल थी। अरविन्द के प्रभाव को स्वीकार करते हुये उन्होंने कहा है कि—'इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द के आश्रम के योगयुक्त (अन्त: संग-ठित) वातावरण के प्रभाव से ऊर्ध्व मान्यताओं सम्बन्धी मेरी अनेक शंकाएं दूर हुई हैं।' 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमा के भीतर किसी-न-किसी रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[3] अरविन्द-दर्शन ने उन्हें बताया कि भौतिक गुण भी बिल्कुल त्याज्य नहीं एक सीमातक ग्राह्य है। बशर्ते कि इन गुणों के विकास में आत्मा के उत्थान में बाधा न पड़ती हो। भारत में निष्काम योग सदा से त्याग का पर्याय माना जाता रहा है। अरविंद ने भौतिक गुणों को ग्राह्य बताकर भारत की इस परम्परा को नवयुग की भाषा में स्वीकृति प्रदान की। पंत जी दार्शनिक से पहले सौन्दर्यवादी हैं और सौन्दर्य-वादी होने के कारण उन्हें मध्ययुगीन दर्शन की यतियों का उपदेश स्वीकार्य न था कि संसार में जहाँ भी सुख और आनन्द है वहाँ से आदमी को भाग निक-लना चाहिये, क्योंकि वहाँ पाप है। अरविन्द-दर्शन में उन्हें अपनी सौन्दर्यवादी भावना की पुष्टि मिली क्योंकि यह दर्शन अतिवादियों की कृच्छ-साधना का विरोधी है। इसके अलावा अरविन्द के आरोहण और समदिक् संवरण वाले सिद्धान्त भी उन्हें अपने अनुकूल लगे। वे कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीनों का

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ६२५।
२. छायावाद; पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७६।
३. शिल्प और दर्शन—(प्रस्तावना)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८२।

समन्वय चाहते थे। इस समन्वय को उन्होंने आरोह-अवरोह और समदिक् गतियों को मिलाकर प्राप्त कर लिया। इसीलिए पंत जी श्री अरविन्द के संबंध में लिखते हैं—श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक ऊर्ध्व चेतना तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि, अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के समय में श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग का वैज्ञानिकों की अणुशक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है।'[1]

पंत जी ने श्री अरविन्द के अतिमानव और दिव्य-जीवन के सिद्धान्त को काव्य में मूर्त रूप प्रदान किया है। इस प्रकार कवि ने इस नूतन चेतनात्मक काव्य में वेदान्त को नववेदान्त के रूप में परिवर्तित कर स्वीकार किया है, जिससे उनके काव्य में दोहरा अमूर्तीकरण (डबल एब्सट्रैक्शन) दिखायी देता है। उन्होंने अपने नूतन काव्य में फ्रायड और मार्क्स का खण्डन किया है और उनकी स्थूलता और भौतिकता आदि की ओर भी निर्देश किया है—'सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्मतम झंकारों से रहस्य मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा एंगेलस के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुँधी हुई झकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं।'[2] अब कवि अपनी अनुभूति से सत्य को भावना द्वारा जानने के लिए सबको प्रेरित करता है। विश्वशान्ति के लिए मार्क्स और भारतीय दर्शन के समन्वय का अभिलाषी है। कवि का विचार है कि कोई भी दर्शन अपने में पूर्ण नहीं है। अतः आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों को अपनी अतिवादिता का मनेह त्यागना होगा, लोक-कल्याण के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो सकेगी। वे अंतश्चेतना और जन-कल्याण को दो भिन्न वस्तु नहीं समझते—'मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र के बाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ और जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अन्तश्चेतनावाद' अथवा 'नव-मानवतावाद'

---

१. शिल्प और दर्शन—(प्रस्तावना)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८२।
२. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८३

कहता हूँ। दूसरे शब्दों में जिस विकास का भी चेतना को हम संघर्ष के समतल में अन्तर्चेतना एवं अन्तर्जीवन कहता हूँ'।[1]

इतना तो स्पष्ट है कि पंत जी की आत्मप्रधान संस्कृति पर श्री अरविन्द की आत्म विकासवादी साधना एवं दिव्य-जीवन का अतिशय प्रभाव पड़ा है। फिर भी कवि को प्रत्येक दर्शन अपने में एकांगी और पूर्ण प्रतीत होता है। शायद इसीलिए वे अरविन्द-दर्शन को भी पूर्णरूपेण आत्मसात् नहीं कर पाए। उनके जीवन-दर्शन और श्री अरविंद के जीवन-दर्शन में अन्तर लक्षित होता है जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है—मेरे और श्री अरविन्द के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर भी है। मेरी रचनाओं को अरविन्दवादी इसीलिए भी कहते हैं कि एक तो स्वयं मैंने उत्तरा की भूमिका में श्री अरविन्द-दर्शन के महत्व को घोषित किया है। दूसरा उसके बाद मेरी रचना-दृष्टि में मोड़ आया वह उनके दर्शन के प्रभाव से कम, किन्तु अपने मन:संकट से मुक्ति के कारण अधिक मुझसे सम्भव हो सका, परन्तु जो श्री अरविन्द की मूलभूत दर्शन दृष्टि है उससे मेरा जीवन-दर्शन एकदम ही दूसरे छोर पर मेरे मनोगत संस्कारों तथा आत्मगत जीवन स्वतन्त्र अनुभूतियों के कारण है।...मैं श्री अरविन्द-दर्शन के सम्पर्क में आया, परन्तु सम्पूर्णत: उसे भी नहीं अपना सका। इसका कारण यही था कि मुझे स्वयं ही पल्लव के बाद एक स्वतन्त्र व्यापक अन्तर्दृष्टि जीवन-मन तथा आत्मा-सम्बन्धी मान्यताओं को निरखने-परखने के लिए मिल गई थी।...मेरी दृष्टि में अन्तश्चैतन्य या अन्तर्बोध की दृष्टि से भी जीवन तत्व का ही सर्वोपरि मूल्य है। मैं मन या चैतन्य को जीवन का एक प्रबुद्ध अंश भर मानता हूँ और जड़ तथा चैतन्य को जीवन का बाहरी-भीतरी छिलका या स्तर मात्र। जड़ और चेतन के तटों के बीच बहने वाली जीवन की अभिराम अक्षय धारा को मैं दोनों का अन्त:समन्वित रूप ही नहीं मानता, जीवन के विकास के लिए ही उन दोनों की उपयोगिता या सार्थकता भी मानता हूँ। श्री अरविन्द का इस विषय में दूसरा ही दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मानव-जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण अतिमन, मन से अधिक महत्त्वपूर्ण है और उनकी साधना का क्षेत्र भी जीवन और मन से अधिक अतिमन ही रहा है जिसे वह सुपरमाइण्ड कहते हैं। श्री अरविन्द जड़-चेतन जीवन-प्रवाह के दो कूलों के रूप में नहीं मानते हैं। वह

१. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७०।

कहते हैं—चेतना के सूत्र को पकड़ कर मैं सृष्टि पट को उधेड़कर फिर से बुन सकता हूँ।···श्री अरविन्द जीवन को जड़ का विकास हुआ है और मन स अतिमन या कृत्चित्, जिसे वे सुपरमाइण्ड कहते हैं, उसका विकास होगा और तभी व्यक्ति पूर्णतर बन सकेगा, जिसे वह नाद्दिक बीइंग कहते हैं। उनका अतिमन कुछ साधकों के समूह में अवतरित होगा, वे विशिष्ट चैतन्य युक्त व्यक्ति होंगे जो धीरे-धीरे ससार में, उन लोगों में, उस नई संबोधि का प्रसार कर सकेंगे जो उसके उपयुक्त पात्र होंगे और समग्र योग की साधना करने को तैयार नहीं होगे। मैंने अपने मनोविन्यास को योग की साधना के उपयुक्त नहीं पाया।'[१]

इस प्रकार संक्षेप में अरविन्द दर्शन से अपने जीवन-दर्शन को पृथक् करते हुये पंत जी के तर्क हैं कि श्री अरविन्द दर्शन तो केवल भारतीय औपनिषदिक चेतन्य का युगानुरूप दार्शनिक मूल्यांकन प्रस्तुत करता है और उसकी इतनी ही विशेषता है कि उसने मध्ययुगीन द्रष्टाओं की तरह जीवन की उपेक्षा तथा बहिष्कार नहीं किया है। अरविन्द-दर्शन अन्तश्चैतन्य और अन्तर्बोध को सर्वो-परि मूल्य देता है लेकिन पंत मन या चेतन्य को जीवन का एक प्रबुद्ध अंश भर मानते हैं। इस तरह वे जीवन तत्त्व को कृतचित् से भी अधिक मूल्यवान मानते हैं और जीवन के सहज बोध को सर्वोपरि महत्व देते हैं। इसके अतिरिक्त अरविन्द-दर्शन की वैयक्ति-सामुदायिक युक्ति और पंत जी की सामूहिक मुक्ति के क्षेत्र में अतिमानस के कुछ साधकों के बीच अवतरित होगी और फिर वे विशिष्ट चेतन्य से युक्त व्यक्ति उस मुक्ति को नई सम्बोधि के रूप में समग्र विश्व में प्रसारित करेंगे। परन्तु पंत जी इस व्यक्ति-विशिष्ट क्षेत्र को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा में जो मुक्ति है, वह सही माने में सामूहिक मुक्ति होगी, केवल कुछ चुने हुये व्यक्तियों के माध्यम से समाज में नहीं फैलेगी। इस प्रकार आलोच्य-काल की कृतियों में अरविन्द-दर्शन का प्रभाव अवश्य है परन्तु उसे पंत ने पूर्णतः आत्मसात् कर लिया हो, यह मानना असंगत है। हाँ, अरविन्द-दर्शन में उन्हें अपनी चिंतन रेखा का विकास मिला इसलिए वे उसके प्रति उपकृत हैं एवं उसे उन्होंने स्वीकार भी किया है। अरविंद के दार्शनिक अध्यात्मवाद से प्रभावित होने के बावजूद भी काव्य के अन्तःसौन्दर्य को कोई क्षति नहीं पहुँची है। उनका गहन व्यक्तित्व अनेक संग्रहों में ऊर्ध्वतर होता

१. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८२।

हुआ 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि', 'वाणी', 'अतिमा', 'लोकायतन' आदि में समृद्ध, पुष्ट और गम्भीर होकर अपने उज्ज्वल, सहज, स्निग्ध रूप में सामने आया है। अब हम आलोच्यकाल के भाव-पक्ष अर्थात् कला सौन्दर्य पर विचार करेंगे।

भावपक्ष

आध्यात्मिकता—अपनी रचनाओं के प्रगतियुग में पंत जी का मूर्त समस्याओं और साम्यवादी लोक-जीवन दर्शन की ओर खिंचाव था, वह युगीन प्रभाव से उत्पन्न अस्थायी बौद्धिक जागरण मात्र था। इसलिए उसे अपने सहज रूप में बदलते देर नहीं लगी। 'ज्योत्स्ना' में जिस आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन हुये थे, वही इस युग में समन्वय के आधार पर विकसित होने वाला अन्तश्चेतनावादी नवमानववाद अथवा नवचेतनावाद बन गया। पंत जी के अध्यात्म का आधार विरक्ति नहीं, मानव के मानसिक विकास के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुरक्ति है। उनका अध्यात्म साम्प्रदायिक, धार्मिक अथवा रहस्यवाद भी नहीं है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। उनका आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकान्त अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। वे मानते हैं कि बाह्य के विकास के लिए अन्तर का विकास होना अनिवार्य है। अविकसित चेतना पार्थिव-विकास में सहायता नहीं कर सकती। इसीलिए वे भूत और चेतना, अध्यात्म और भौतिकता तथा मन और मस्तिष्क का समन्वय करके पूर्ण मानवीय विकास की कल्पना करते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि पंत जी का अध्यात्मवाद मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद है, जो अन्तश्चेतना के विकास के आधार पर पार्थिव मानवता के पूर्ण विकास के लिए उत्सुक है। इसलिए उसमें भूतसृष्टि के लिए विरक्ति नहीं, अनुरक्ति है—एक सात्विक सुधारवादी अनुरक्ति। अतएव पंत जी इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम और माधुर्य से समन्वित जीवन को जागति निर्माण के स्वप्नों का सौंदर्य वैभव एवं सृजन की स्फूर्ति है—

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति द्वार,
सृजन शोभा अपार,
कौन करता अभिसार

धारा पर ज्योति भरण,
हँसी लो स्वर्ण किरण ।[1]

पंत जी की अध्यात्म चेतना का मूल तत्व समन्वय है—व्यष्टि और समष्टि का समन्वय, ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय। इसी को पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, प्राच्य दर्शन में अविद्या अर्थात् भौतिक ज्ञान और विद्या अर्थात् ब्रह्म ज्ञान भी कहा गया है। कवि के शब्दों में :

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋष्टि-दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।[2]

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कवि इस जगत् में आध्यात्मिकता को मूर्तित तथा स्थल-सूक्ष्म को नवीन प्रकाश में संयोजित करने का अभिलाषी है। आध्यात्मिकता की अवहेलना करने वाले भौतिकवादियों को वह अपूर्ण मानता है और उन्हें अपने जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने के लिए कहता है :—

तट अधिवासी, उतरो भीतर, घट अभ्यासी, बिचरो बाहर,
वितरित हो बहिरन्तर वैभव, जन-जीवन हो सुखमय सुन्दर
खण्ड करो मत पूर्ण सत्य को, भू-जीवन की तुम्हें शपथ है।[3]

आलोच्यकाल में कवि द्वारा प्रयुक्त 'स्वर्ण' शब्द चेतना के प्रतीक के रूप में आया है। कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में अंतश्चेतनवादी नवमानववाद को स्पष्ट किया है। 'स्वर्णधूलि' संग्रह में अधिकांश रचनाएँ सामाजिक हैं और 'स्वर्ण किरण' में चेतना प्रधान रचनाएँ हैं। 'स्वर्ण किरण' की 'सर्वोदय' शीर्षक रचना में कवि श्री पंत ने अपने आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

भू-रचना का भूतिवाद युग
हुआ विश्व-इतिहास में उदित

---

१. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २
२. वही सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २३
३. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३६।

सहिष्णुता सद्भाव शांति के
हों गत संस्कृत धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व-पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण
विपुल ज्ञान संग्रह भव-पथ का
विश्व क्षेम का करे उन्नयन[१]

स्पष्ट है कि कवि अखिल मानवता के भेदों को मिटाकर एक विश्व-संस्कृति का निर्माण चाहता है।

इस काल की अधिकांश रचनाएँ तो अरविन्द-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं। देखिए—

विजय से दीप्त गगन
ध्वजा-सी उड़ती पवन
धरा रज नव चेतन
खिला मन का लोचन,
युगों का तमस हरण
करे यह स्वर्ण किरण।[२]

इन पंक्तियों में अरविन्द दर्शन के उस सिद्धान्त को वाणी मिली है जिसमें उन्होंने बताया है कि जड़-चेतन दोनों ब्रह्म के चैतन्य-तत्व से अनुस्यूत हैं। जड़ चेतन में मात्र आवरण और विक्षेप के कारण भेद हो गया है। जड़ में चेतन तत्व, इसी विक्षेप जो तमस के रूप में परिव्याप्त है, उसके अवचेतन में प्रसुप्त हैं। ब्रह्म की चेतना किरण जब उसको अपना स्पर्शदान देती है तो तमस् नष्ट हो जाता है और जड़ में अन्तर्निहित चैतन्य जाग्रत हो उठता है। कुछ इसी प्रकार के विचार कवि ने 'स्वर्णकिरण' की 'सम्मोहन' शीर्षक कविता में व्यक्त किए हैं। इसमें कवि ने जीवन को नूतन सौन्दर्य दृष्टि प्रदान की है। देखिए—

---

१. स्वर्ण किरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३५
२. वही—पृ० १

जादू विद्या दिया इस भू पर।
तुमने सोने की किरणों का
जीवन हरियाली बो-बो कर।
भूलों से उड़ फूल, रंगों से
निखर सूक्ष्म रंग उर के भीतर।
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन,
स्वर्ण रुधिर के अन्तर थर् थर्।[१]

कवि का ऐसा विश्वास है कि किरण-रूपी चेतना के धरा-स्पर्श करने के बाद समस्त जड़-चेतन जगत् एक नवजीवन और नवीन स्फूर्ति से भर जायेगा तथा नवीन सौन्दर्य दृष्टि प्राप्त होगी। मानव-हृदय अनेक प्रकार के विक्षेपों से सम्भूत संघर्षों को भूल गया है और ज्योति-वृष्टि में स्नान करने के बाद उसके मन में नवीन कल्पनाएँ जाग्रत होंगी तथा वह सौन्दर्य के नवीन क्षितिजों को उद्घाटित करने में तत्पर होगा—

प्रणय दृष्टि दे दी नयनों को,
प्राणों में संगीत दिया भर
स्वर्ण कामना का घूंघट नव
डाल धरा के मुख पर सुन्दर
निज जीवन का कटु संघर्षण,
भूल गया वह मानव अन्तर,
जग-जीवन के नव स्वप्नों की,
ज्योति वृष्टि में स्नान कर अमर।[२]

जीवन के सौन्दर्य का आभास मनुष्य को तभी होगा जब वह अपने हृदय के अन्धकार को मिटा देगा। केवल आत्मा ही शाश्वत और चिरंतन है, उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसी विचार को कवि ने इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया है—

मृत्युहीन रे यह पुकार मानव आत्मा की निश्चय,
सत्य ज्योति अमरत्व और वह बढ़े अनागत निर्भय।

---

१. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२१
२. वही, पृ० ३

वैदिक ऋषि के अमृत निष्य वचनों की जग में हो जय,
वे उपनिषद्, समीप बैठ रे, ग्रहण करें हम आशय।[1]

श्री अरविन्द के भौतिकता के अध्यात्म से समन्वित करने के सिद्धान्त को कवि द्वारा निम्न शब्दों में वाणी मिली है—

जन मन के विकास पर निर्भय सामाजिक जीवन निश्चित,
संस्कृति का भू स्वर्ग अमर आत्मिक विकास पर अवलम्बित[2]

'स्वर्णकिरण' की कविताओं में अरविन्द दर्शन इस प्रकार मुखर है कि कभी-कभी लगता है मानो अरविन्द-दर्शन को ही पद्यबद्ध कर दिया गया हो। इसकी अधिकांश कविताओं का विषय श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ब्रह्म की शक्ति के अवरोहण की व्याख्या रहा है। कवि ने इन कविताओं के माध्यम से चेतना के विभिन्न स्तरों को रूपायित किया है। इस प्रकार 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में जीवन के बाह्य और अन्तर पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण है। 'उत्तरा' में कवि ने अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अन्तर्चेतना (इन्ट्यूशन) का व्यापक प्रयोग किया है। इस अन्तर्चेतना को कवि ने अनेक प्रकार से रूपायित किया है। ऊर्ध्व स्तरों में चेतना के निम्न स्तरो पर अवरोहण करने से जो निम्न स्तरों में होते हैं उनका वर्णन कवि ने 'उत्तरा' की अनेक कविताओं में किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जायेंगे युग दानव,
सूर नर होंगे भाई।[3]

× × ×

(२) जलता मन मेघों का-सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन।[4]

---

१. स्वर्णकिरण-सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२।
२. वही, पृ० ४६
३. उत्तरा-सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५
४. वही, पृ० २८

अध्यात्म से अनुप्राणित होने के कारण आलोच्यकाल की रचनाओं में शान्त भाव, सौम्यता और अलौकिक ज्योति का प्रतिबिम्ब है। यह कविताएँ चिंतनप्रधान कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली अन्तः चेतनावादी कविताएँ हैं जिनकी भाषा में सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण की शक्ति है। इनमें कवि ने अरविन्द-दर्शन के प्रभाव से परिचालित होकर भागवत-जीवन का सन्देश दिया है। उनकी कामना है कि यह भागवत-जीवन शीघ्र ही पृथ्वी पर अवतरित हो—

चीर आवरण भू के तम का स्वर्ण शस्य हो रश्मि अंकुरित
मानस के स्वर्णिम पराग से धरणी के देशान्तर गर्भित
(चिदम्बरा, पृ० १५०)

इस प्रकार 'स्वर्णकिरण' से 'लोकायतन' तक पंत जी का सम्पूर्ण काव्य अरविन्द-दर्शन की ऊर्ध्व चेतन विकास एवं अन्तर्बाह्य जड़-चेतन समदिक सामंजस्यवादी चिंतनधारा से प्रेरित है। अरविन्द-दर्शन का चरम निदर्शन 'लोकायतन' महाकाव्य में हुआ है। ऊर्ध्व और समदिक का सामंजस्य ही लोकायतन का प्रतिपाद्य है। इसमें कवि के भूमण्डल पर सांस्कृतिक कल्प के विकास, ब्रह्म शक्ति के अवतरण और स्वर्ग-कल्पना की मूर्तिमत्ता का महान् संकल्प निम्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया है—

इस प्रकार सांस्कृतिक कल्प नव, भू जीवन में होता विकसित,
एक चेतना रस सागर में विविध रूप उठ होते अवसित।
प्रथम बार अब जगत ब्रह्म में, ब्रह्म जगत में हुआ प्रतिष्ठित,
मुक्त भेद मन से भू जीवन सितचित्र पट में हुआ समन्वित।
जन्म ले चुका नव मानव, जड़ चित् को कर रस संयोजित,
धरा स्वर्ग कल्पना न रह अब, जन जीवन में होता मूर्तित।[1]

सम्पूर्ण महाकाव्य में कवि ने अरविन्द-दर्शन की नवमानवतावादी और अन्तश्चेतनावादी सिद्धान्तों को विशद कलात्मक अभिव्यंजना की है। स्पष्ट है कि इस काल की काव्य-चेतना अरविन्द-दर्शन की महत् भूमिका पर अधिष्ठित है, परन्तु यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि कवि ने अरविंद की दार्शनिक उपपत्तियों को स्वचेतना का अंग बनाकर ही अपनी कृतियों में वाणी दी है। यही उसकी मौलिकता भी है। कवि ने दार्शनिक की भाँति शुद्ध सैद्धांतिक मतवाद

---

१. लोकायतन (उत्तर स्वप्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६८०

का कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया। कला-सौन्दर्य के प्रति वह सजग रहा है। उसका स्वयं कथन है कि—'मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही, न मेरा कोई अपना दर्शन है और न मुझे यही लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि-मन के प्रकाश स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह हैं, जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिस सौन्दर्य क्षितिजों को छू सका हूँ वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं।[१] इसके साथ ही वे कहते हैं कि आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय-कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय, निषेधात्मक तथा ऋण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन विकास तथा जन-मंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है।[२]

समन्वयवादी भावना—श्री अरविन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण से प्रभावित कवि पंत ने अपने नूतन काव्य में समन्वयवादी भावना की प्रतिष्ठा की है। वैसे समन्वय की यह प्रवृत्ति उनके पूर्ववर्ती काव्य में भी देखी जाती है, जहाँ उन्होंने सुख और दुःख के समन्वय तथा गाँधीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय की कामना की है। नवचेतनावादी काव्य में भौतिकता और आध्यात्मिकता तथा व्यष्टि और समष्टि के समन्वय को वाणी प्राप्त हुई है। भूतवाद और अध्यात्मवाद दोनों ही अपने में एकांगी हैं। केवल आध्यात्मिकता निष्क्रियता को जन्म देती है और एकान्त भौतिकता मनुष्य को सन्तोष एवं मानसिक क्लान्ति को कुहेलिका में भाव-शून्य बना देती है। 'उत्तरा' में कवि आध्यात्मिकता और भौतिकता का सन्देश देता हुआ कहता है—

बदल रहा अब स्थूल धरातल
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अंतर्जीवन अभिमत।[३]

---

१. शिल्प और दर्शन (चरणचिह्न)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३१
२. वही, पृ० १२१
३. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १

कवि सामाजिक जीवन के सौष्ठव एवं प्रांजल विकास के लिए पूर्व और पश्चिम का समन्वय चाहता है। अपनी कविताओं में उसने मनुष्य की सामाजिक चेतना को विकसित विश्व परिस्थितियों से समन्वित किया है और वर्तमान के विक्षोभ, आर्त्तनाद एवं क्रान्ति की ज्वाला को लोक जीवन के संगीत तथा मनुष्यता में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। वर्तमान जीवन के भौतिक वैभव एवं आत्मिक ऐश्वर्य में असामंजस्य देखकर कवि को बड़ा दुःख होता है। कवि देखता है कि अन्तर्बाह्य में असामंजस्य है, संसार बन्धन, पार्थक्य, भेदभाव, रूढ़ियों एवं दूषित परम्पराओं से पीड़ित है। इन सबसे मुक्ति के लिए ही वह अन्तश्चेतना और मनः संगठन का अनुष्ठान करता है। 'वाणी' का कवि कहता है—

जड़ से हो विच्छिन्न न चेतन, आत्मा से रे विभिन्न न तन-मन
इह पर में हो भक्त न जीवन, भर्त्सित हों शुक ज्ञानी।[1]

लोकमंगल की भावना—पंत जी का समस्त नवचेतनावादी काव्य भविष्यत् कल्पना से सम्बन्धित है, इसलिए उसमें लोकमंगल का तीव्र एवं सुखद रूप परिव्याप्त है। स्वर्ण-किरण का कवि कहता है—

दीप शिखासी जगे चेतना मिट्टी के दीपक से उठकर
तेल धारवत् मर्म स्नेह या स्वर्ग विभा से दे भूतल भर।[2]

कवि का ऐसा अटल विश्वास है कि वह युग धरती पर अवश्य अवतरित होगा जब समस्त संस्कृतियाँ सम्मिलित रूप से एक विश्व-चैतन्य-भाव मानव समाज में जाग्रत कर देंगी और वह नव समाज सभी राग-द्वेषों, द्वन्द्वों, स्थूल-सूक्ष्म से परे ऐसा मनोलोक होगा जहाँ लोकहित की दृष्टि से अनन्त मंगल व्याप्त रहेगा। वैसे पंत जी का समस्त काव्य ही लोकमंगल की भावना से ओत प्रोत है, उनके काव्य में लोकमंगल की यह भावना अलग से शोध का विषय बनने की क्षमता भी रखता है। नवचेतनावादी काव्य की लोकमंगल भावना इस दृष्टि से विशिष्ट है कि उसमें एक उदात्त भविष्यत् कल्पना निहित है जिसका मुख्य बिन्दु अरविंद-दर्शन है। अपने महाकाव्य लोकायतन में उन्होंने एक विश्व-संस्कृति की संस्थापना का स्वप्न देखा है। उनके विचार से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से महत्त्वपूर्ण विश्व है। व्यक्ति के विकास, आदर्श समाज

---

१. वाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५५
२. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ. ४५

के निर्माण, जनतन्त्र की स्थापना के लिए समस्त जन-मन को नव्य चेतना : आलोक में एक हो जाने का सन्देश कवि देता--

आओ हे नव नूतन
स्वर्ण युग करो सृजन
एक हो भू के जन
नव चेतना के कण[1]

इस प्रकार कवि की यह कामना है कि नवीन युग के आगमन पर समस्त जन-जीवन में लोक-कल्याण की भावना व्याप्त हो जाये।

प्रकृति—कवि श्री पंत मूलतः निसर्ग के कवि हैं और उनके सम्पूर्ण काव्य में प्रकृति का विशेष प्रभाव रहा है। आलोच्य काल में उनकी भावधारा में परिवर्तन के साथ ही प्रकृति के प्रति भी उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है—उल्लास के स्थान पर अब सहज सात्विक भाव का उन्मेष हुआ है। स्वर्णकिरण से लोकायतन तक की काव्य-रचनाओं में प्रकृति-सम्बन्धी अधिकांश रचनाएँ कवि दार्शनिकता की चिन्तनधारा से ओत-प्रोत हैं। इस काव्य में कवि जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच चुका है और जीवन की भाँति प्रकृति में उसे अलौकिक विराटता और भव्यता के दर्शन होते हैं। दार्शनिक भावों एवं अपनी मानसिक स्थिति को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कवि ने भव्य प्राकृतिक दृश्यों और उपकरणों को चुना है और उनका प्रतीक रूप में प्रयोग किया है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि पहले जैसे प्रकृति के आकर्षक चित्रों का अब अभाव है। दार्शनिक विवेचना के सन्दर्भ में यत्र-तत्र प्रकृति के वैसे ही सुकुमार, कोमल, आकर्षक रूप के दर्शन होते हैं और जैसे वीणा, गुंजन काल की कविताओं में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र लिखते हैं—'वास्तव में रूप-रंग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना आदि के रंग इनमें आकर एक ओर पक्के—और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म तरल हो गये हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैशिष्ट्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्विक उल्लास है जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब

---

१. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २५

प्रौढ़ि के संयत गम्भीर आनन्द ने ले लिया है।'[1] दूसरा अन्तर यह है कि पहले प्रकृति का नैसर्गिक सौन्दर्य छलकता था और अब उसी सौन्दर्य में कवि की सात्विक, कल्याणमयी अलौकिक भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। पहले रूप-सौन्दर्य की प्रधानता रहती थी अब एक प्रकार के सात्विक आनन्द की, पहले प्रकृति जिज्ञासा भाव जाग्रत करती थी, अब समाधान प्रस्तुत करती है। प्रकृति का सौन्दर्य कवि को अब भी उसी वैभवशाली रूप में आकर्षित करता है। देखिए—

देखो हे, ऐश्वर्य प्रकृति का, उसका प्रति अणु जीवित,
उसका श्री सौन्दर्य अमित, वह सृजन हर्ष से दोलित।
नाच रही भू हरित यौवना ज्योति ग्रहों से वेष्ठित,
बाहु पाश में बांध धरा को वारिधि चिर उद्वेलित।[2]

दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति के सन्दर्भ में देखिए—

खोल निसर्ग रहा निज अन्तर
मधुर सन्तुलन में खिल सुन्दर,
फैलाती का मना प्रकृति की
रंग-रंग के चंचल दल।[3]

प्रकृति में दिव्य सत्ता का आभास निम्न पंक्तियों द्वारा व्यक्त हुआ है—

भूल-भूत कामना एक ज्यों
पत्रों में कँप उठती मर्मर,
प्रिय निसर्ग के अपने जग में
खोल दिया फिर मेरा अन्तर।[4]

प्रकृति का सौन्दर्य-अंकन एवं उसका प्रतीकवत् प्रयोग दोनों ही कवि ने इस काल की रचनाओं में किया है। प्रकृति सौन्दर्य की विशिष्ट कविताओं में 'हिमाद्रि', 'हिमाद्री और समुद्र', 'कूर्माचल के प्रति', 'शरद ऋतु', 'तालकुल', 'गिरि प्रांतर' आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें नैसर्गिक प्रकृति सौन्दर्य का

---

१. सुमित्रानन्दन पंत (संकलन)—संपा० शचीरानी गुर्टू—पंत का नवीन जीवन-दर्शन, पृ० २६१
२. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २१
३. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ९९
४. वही, पृ० १००

कलात्मक अंकन कवि ने किया है। निम्न उद्धरण में शब्दों को ध्वन्यात्मकता द्वारा सावन के दृश्य को सजीवता प्रदान की गई है—

दादुर टर टर करते—झिल्ली बजती झन झन,
म्याउं म्याउं रे मोर, पीउ पीउ चातक के गण।
उड़त सोन बलाक आर्द्र सुख से कर क्रन्दन,
घुमड़-घुमड़ घिर मेघ गगन में भरते गर्जन।[१]

इन पंक्तियों द्वारा सावन की छटा को प्रस्तुत किया गया है। चातक को पिउ-पिउ, झिल्ली की झन-झन, मोर की म्याउं-म्याउं आवाज ध्वनि संगीत को उत्पन्न करती है। प्रकृति सौन्दर्य की कविताओं में 'हिमाद्रि' शीर्षक कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें कवि ने सौंन्दर्य के क्षेत्र में फिर से उन्मुक्त आनन्द का अनुभव किया है। बच्चन जी ने लिखा है कि 'हिमाद्रि' में 'पल्लव' की कोमलकान्त पदावली का आनन्द फिर से लिया जा सकता है। मेरी सम्मति तो यह है कि पंत जी सबसे पहले प्रकृति के कवि हैं और आज भी उनका प्रौढ़तम स्वर प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं में सुना जा सकता है।[२] हिमाद्रि के दिव्य, विराट और महान् सौन्दर्य ने पंत जी को सर्वाधिक प्रभावित किया है। उसके सौन्दर्य को देखकर कवि की सौन्दर्य-सावना भी विस्मित हो उठते हैं—

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत्।
.. ..
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
महाश्चर्य से भरी विस्मित[३]

सूर्य, चन्द्रमा, ऊषा, शरद, बसन्त, पतझड़ आदि प्राकृतिक उपकरणों के चित्रण में यत्र-तत्र अध्यात्म के साथ नैसर्गिक सौन्दर्य का अंकन कवि ने इन सभी कृतियों में यदा-कदा किया है। चित्र में सजीवता लाने के लिए मानवी-

१. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८४
२. कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत—बच्चन, पृ० ८७
३. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८

करण शैली अपनाई है। 'अतिमा' में सोनजुही और धूप का चित्रण कवि ने इसी शैली में करते हुये आध्यात्मिक विचारों की पुष्टि भी की है। दोनों ही प्राकृतिक उपकरणों को जिस सौन्दर्यमयी नारी का रूप दिया है वह बिहारी की नायिका की याद दिलाता है। सुसज्जित सौन्दर्य के भार को सम्भाल सकने में असमर्थ रूपमयी नारी का चित्र देखिए—

झालरदार गरारा पहने,
स्वर्णिम कलियों के सज गहने
छूटे कढ़ी चूनरी फहरा,
शोभा की लहरी-सी लहरा,[1]—

आलोच्य कृतियों के चित्रण की एक अन्य विशिष्टता है प्रकृति का प्रतीक रूप में प्रयोग। विश्व की वर्तमान स्थिति को प्रकट करने, भावी समाज की स्वर्णिम झाँकी का दिग्दर्शन करने अथवा दार्शनिक सिद्धान्त की विवेचना आदि में कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों का माध्यम बनाया है। 'उत्तरा' और 'अतिमा' में प्रतीकों की भरमार है और 'कला और बूढ़ा चाँद' तो प्रतीक रचना ही है। दूसरे शब्दों में इस काल की कृतियों में अभिव्यक्ति का आधार प्रतीक ही हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वह हरी मखमली बोली में
 बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
फूलो की शय्या पर लेटा
 मधु से गुंजित उसका यौवन
तुम उसके कम्पित अधरों पर
 धर दो प्रकाश का चिर-चुम्बन।[2]

यहाँ धरती ईश्वरीय चेतना का प्रतीक बन सज-धजकर शृंगरित युवती के रूप में प्रस्तुत है। इसी प्रकार 'स्वर्णकिरण' की स्वर्णकिरण परम चेतना का प्रतीक है जो मानव मन को आकर्षण में बाँध ऊर्ध्व संचरण का पथ-प्रदर्शन करती है। इसी संग्रह की 'हिमाद्रि और समुद्र' रचना में अरविन्द दर्शन को व्याख्यायित करने के लिए दोनों प्राकृतिक उपकरणों को चेतना के ऊर्ध्व और निम्न स्तरों का प्रतीक माना है। श्री प्रताप सिंह चौहान ने इसे इन शब्दों में

१. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५२
२. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५२

स्पष्ट किया है—एक हिमालय शिखर उठकर चिदकाश के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तरों का स्पर्श करता है और दूसरा युगों से प्रसुप्त धरती को जाग्रत करने के लिए उनसे लिपटा है। कवि ने हिमालय (ऊर्ध्व चेतना) की ऊंचाई को गहरा माना है और समुद्र (निम्न चेतना) की उच्चता को अत्यन्त गम्भीर स्वीकार किया है। अरविन्द ने जड़ जंगम में भी चैतन्य शक्ति को स्वीकार किया है। जड़ पदार्थों में वह चैतन्य शक्ति अवचेतन में इस प्रकार प्रसुप्त रहती है कि उसका आभास नहीं होता। किन्तु, वह एक दिन जागेगी अवश्य—ऐसा ही अरविन्द का विश्वास है। श्री पंत ने उसी चेतन शक्ति को 'हिमालय और समुद्र' के विविध प्रतीकों में देखा है।'[1] दोनों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :

हिमालय— वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत
स्तर पर स्तर ज्यों अंतर्विकास
चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में
करता हो शुचि शाश्वत विलास।[2]

× × ×

समुद्र— यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर बिखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरगों की
बाँहों में लेती भू को भर।
नभ से बन पवन, पवन से जल,
लालायित यह चेतना अमर
सोई धरती से लिपट, जगाने
उसे, युगों की जड़ता हर।[3]

इन रचनाओं के कुछ बहु-वर्णित प्रकृति-प्रतीक इस प्रकार है—

स्वर्णकिरण	—	चेतना
स्वर्ण निर्झर	—	सौंदर्य-चेतना
हिमाद्रि	—	जीवन का ऊर्ध्वतल
शरद	—	अन्तश्चेतना

१. पंत का काव्य-दर्शन—डॉ० प्रताप सिंह चौहान, पृ० ६१
२. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४४
३. वही—पृ० ४५

रजत	—	परमात्मा
ऊषा	—	परम चेतना
शिखर	—	चेतना का ऊर्ध्व स्तर
लहरें	—	आध्यात्मिक भावनाएँ
बादल	—	बाह्य मन का स्तर या भौतिक जगत
प्रकाश	—	आनन्द
सुरधनु	—	आध्यात्मिक सौंदर्य
तरु	—	जीवन
अंधकार	—	अज्ञान
हरीतिमा	—	सौन्दर्य, प्राण

इसके अतिरिक्त अतिमा में पंत जी ने छिपकलियों, पतंगों, बत्तखों, कौओं और मेढ़कों आदि प्राणियों को भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया। इनके द्वारा वर्णन सौन्दर्य में सहज व्यंग्य का प्रस्फुटन भी हुआ है। परन्तु मुख्य रूप से सूर्य, चन्द्र, चन्द्रकिरण, निर्झर, शिखर, कुसुम, भ्रमर, शरदमेघ, मधु आदि प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए प्रतीक रूप में किया गया है जिसका विस्तार लोकायतन तक है। इस प्रकार अन्तर्मुखी सौन्दर्योपासक कवि पंत ने अपने काव्य में इस चरण में भी प्रकृति को एक नया अर्थ एवं नवीन प्रतिष्ठा प्रदान की है, जिसे हम उनकी समस्त प्रकृति काव्य की उपलब्धि की एक कड़ी के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

सौन्दर्य--सौन्दर्य की शक्ति में ही कविश्री पंत को काव्य-सत्य मिला। सौन्दर्य चेतना की गहराई में ही उनकी कला की महानता है। उनका समस्त काव्य भाव-सौन्दर्य की सुन्दर सृष्टि है। प्रगति काव्य में उनकी सौन्दर्य चेतना यथार्थ जीवन के कटु सत्य में सौन्दर्य को खोज रही थी। आलोच्य काल में यह सौन्दर्य चेतना फिर से अपना पूर्व-परिचित भावभूमि पर विचरण करती दिखती है परन्तु कतिपय अन्तर के साथ यह अन्तर अरविन्दवादी दृष्टिकोण एवं अतिशय प्रतीकात्मकता का है। इस काल की रचना-सृष्टियों में प्रकृति सौन्दर्य के साथ नारी रूप सौन्दर्य के उद्दाम चित्र सूक्ष्म मानसिक और अतीन्द्रिय सौन्दर्य चित्रों का अंकन हुआ है। प्रकृति-सौन्दर्य का विवेचन हमर्वपू पृष्ठों में कर चुके हैं। यहाँ रूप सौन्दर्य एवं सूक्ष्म सौन्दर्य का विवेचन करेंगे।

रूप सौंदर्य के अन्तर्गत पंत जी ने आलोच्यकाल की कृतियों में कहीं प्रकृति नारी-भाव का आरोप किया है और कहीं जीवन-मूल्यों के माध्यम से उसके सौन्दर्य का अंकन किया है। ऐसे चित्रों में नारी के शारीरिक अवयवों का ही प्रधानता मिली है। अध्यात्म के सन्दर्भ में नारी के उद्दाम शृंगारिक चित्र मिलते हैं।[१] इन चित्रों में नारी परम-चेतना के रूप में कल्पित है परन्तु शरीर सौन्दर्य के जो चित्र कवि ने अंकित किए हैं वे उत्तेजक और मादक हैं। एकांकी अंगों पर अनावृत्त लावण्य के यह चित्र इन कृतियों में सहज मिलते हैं। कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं:

(१) सुप्त स्वर्ण के चक्रांगों से सुघर उरोजों पर स्थित,
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरी नित।
उठे कामना शिखरों से, श्वासों से स्वर्गिक स्पंदित,
रजत प्रीति के उन कलशों पर स्वर्ण शिराएँ वेष्ठित।[२]

× × ×

(२) ज्योति भँवर-सी मधुर नाभि प्रिय रजत फुहार उदर में,
स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के मानिक सर में।[३]

× × ×

(३) स्वर्णिम निर्झर-सी रति सुख की जङ्घाओं पर
लिपटी जीवन की ज्वाला उद्दीपन करती शीतल।[४]

× × ×

---

१. पंत जी ने अपना जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है उसमें उनका सहज सौन्दर्यवाद अपना पूरा हिस्सा लिए हुए है और इस सौन्दर्यवाद को सहार पंत जी के भौतिकता विषयक विश्वासों से भी प्राप्त होता है। जीवन का भौतिक आनन्द त्याज्य नहीं, भोग्य है, यह भाव उनके विचार-काव्य में बार-बार आता है। इसीलिए 'दार्शनिक हो जाने पर भी वे नारियों के सौन्दर्य का गान करते हैं, अध्यात्म की प्रशंसा करते हुये नर-नारी मिलन की महिमा का बखान करते हैं।

—पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ११६

२. स्वर्णकिरण—पृ० ३१ ३. वही, पृ० ३२

४. वही, पृ० ३३

(४) खिसका वसुधा के उरोज शिखरों के चल मलयांचल,
सरिता की जांघों से सरका लहरा रेशम सा जल।[1]

(५) नवल उरोज सरोज हुए सरसी के दोलित।[2]

× × ×

(६) वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर।[3]

× × ×

(७) स्वर्ग शोभा
कनक और उभरे उरोजों को
पीन जघनों से सटाए
सोई थी।[4]

इस प्रकार के कितने ही चित्र इन कृतियों में उपलब्ध हैं। दूसरे शब्दों में इनका बाहुल्य है। ऐसे स्थलो पर पंत जी का ध्येय अध्यात्म और श्रृंगार के समन्वय का है। इस स्थूल श्रृङ्गार-वर्णन की हिन्दी साहित्य संसार में काफी आलोचना हुई है। पंत जी ने अनेक स्थलों पर इस सम्बन्ध में अपना स्पष्टीकरण दिया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—'स्वर्णकिरण' और 'उत्तरा' में कहीं-कहीं दीप्त लावण्य के स्थल आए हैं, जिनसे मेरे कुछ मित्रों तथा आलोचकों को आपत्ति है। विशेषतः इसलिए कि उनकी संगति मेरे आध्यात्मिक काव्य के साथ नहीं बैठती कवि-दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौन्दर्य को उपभोग के गुंठन में सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के लिए वितरित कर देती है।... कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि को भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय में वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उससे उद्दीपन से अधिक आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।'[5] दिनकर जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'श्रृंगार के रंग में डूबे इन चित्रों पर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कोई बड़ी आपत्ति नहीं की जा सकती। जहाँ तक शील का प्रश्न है, उसका भी

१. स्वर्णकिरण—पृ० ५१।
२. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५४
३. वही, ६३
४. कला और बूढ़ा चाँद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३४
५. शिल्प और दर्शन (चरणचिन्ह)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२५

इतना भर उल्लंघन, प्रायः कवि करते ही आये हैं। शंका मेरी यह है कि आध्यात्मिक प्रसंगों में नारी-रूप और काम-भावना का एक ऐसा वर्णन किया जाना ठीक है या नहीं। कविता रचते समय कवि-कल्पना अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही काम करती है। अतएव, इन श्रृंगारिक चित्रणों का भी मुख्य कारण तर्क नहीं, भाव ही होगा।[१] वास्तव में सौन्दर्य-चित्रण से अधिक राग-भावना के प्रति जो मौलिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, उसी पर पंत जी ने इस उत्थान की रचनाओं में अधिक प्रकाश डाला है। इस विषय पर, समय आने पर, अधिक गम्भीर तथा रूढ़ि-ग्रह-मुक्त विवेचना हो सकेगी। राग-भावना को, स्वस्थ मानवता के स्तर पर, उन्मुक्त, परिणत तथा संस्कृत होना ही पड़ेगा— ऐसा उनका विश्वास है। 'श्रृङ्गार और अध्यात्म' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि—आज नारी तन के स्तर पर श्रृंगार-भावना का मूल्य आंकना अनुचित होगा, उसे धरा जीवन के स्तर पर देखना स्वाभाविक होगा। आज विश्व जीवन को हमें एक अधिक उच्च तथा व्यापक चेतना के प्रकाश में देखना है और राग चेतना के चिरन्तन सौन्दर्य पूर्ण गम्भीरतम स्तर, जो अभी प्रच्छन्न एवं अविकसित ही रह गए हैं, उन्हें मानव-जीवन का सक्रिय अंग बना कर नवीन रागानुभूति प्रस्फुटित तथा परिणत करना है।...अपनी अनेक रचनाओं में मैंने राग-भावना के उन्नयन के साथ ही नवीन प्राणिक जीवन की स्वीकृति पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और श्रृंगार और अध्यात्म के बीच पड़ी प्राचीन खाई को तथा मध्ययुगीन नैतिक अवरोधों को अतिक्रम कर नवीन विश्व-जीवन की सौन्दर्य चेतना के अस्फुट स्वप्न संचरण के शील-सौम्य, सुन्दर मुखर, गतिमय संगीत को अपने छन्दों में बाँधने की चेष्टा की है।[२] इस संदर्भ में अध्यात्म की और श्रृंगार का समन्वय करते हुये कवि ने प्राणों और इन्द्रियों के जीवन को महत्वपूर्ण बताया है—

प्राण, धन्य तुम, रजत-हरित ज्वारों से उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर,
चन्द्र कला को स्वप्न की ज्वालतरी में
तुम बखेरते रत्न-छटा आनन्द—तीर पर।

---

१. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ११६
२. शिल्प और दर्शन (श्रृंगार और अध्यात्म)—पंत, पृ० २७५-२७६

मैं उपकृत इन्द्रिया,—रूप रस गंध स्पर्श स्वर
लीला द्वार खुले अनन्त के बाहर-भीतर,
अप्सरियों से दीपित सुर-धनुओं के अंबर
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर ।[1]

अतीन्द्रिय सौन्दर्य के अन्तर्गत कवि ने प्रकृति के माध्यम से ऐसे सौन्दर्य की कल्पना की जो अदृश्य, अलक्षित, रमणीय और आकर्षक है परन्तु बोधगम्य नहीं है। यह वह सौन्दर्य है जो सत्य की पहचान से एक अलौकिक अनुभूति को जन्म देता है और मन को आनन्दित करता है। सत्य के साक्षात्कार से प्राप्त प्रभाव को कवि इस सौन्दर्य में अभिव्यक्त करता है। यद्यपि यह सौन्दर्य यथार्थ से दूर है परन्तु इससे प्राप्त आनन्दानुभूति उस यथार्थ से अधिक रमणीय है, स्वप्न जगत के आनन्द की तुलना इससे नहीं की जा सकती। देखिए—

मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको
करता न सत्य जग को मोहित ।[2]

स्वप्न-जगत का आधार सौन्दर्य है, इसीलिए वह कवि को इतना मोहित करता है :

स्वप्नों के मांसल शिखरों में
मैंने निज छिपा लिया आनन
यह शोभा का प्रिय वक्षःस्थल
जिसका संगीत हृदय स्पंदन ।[3]

× × ×

मन के भीतर का मन गाता,
स्वर्ग धरा में नहीं समाता,
स्वप्नों का आवेश ज्वार उठ
विश्व सत्य के पुलिन डुबाता ।[4]

इस प्रकार अतीन्द्रिय सौन्दर्य-जगत में पहुँचकर कवि की ऐसी आन्तरिक आनन्दानुभूति होती है जहाँ चारों ओर सुषमा और माधुर्य का साम्राज्य है।

---

१. वाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २५-२६
२. उत्तारा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११०
३. वही—पृ० ६५
४. वही—पृ० २७

सौन्दर्य की इस अलौकिक कल्पना को आत्मिक अनुभूति की कोटि में रखकर हम इसे कवि के दार्शनिक विवेचन का अंश कह सकते हैं। सौन्दर्य की इतनी सूक्ष्म कल्पना बिना आधार के सम्भव नहीं और फिर सौन्दर्य के साथ अन्तश्चेतना, चेतना, परम चेतना का वर्णन भी मिलता है। इसके पीछे कवि की जीवन-साधना की आत्मिक अनुभूति है। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव तो है ही।

अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति एक सशक्त माध्यम बनी है। इस सम्बन्ध में हम पूर्व-पृष्ठों में विवेचन कर चुके हैं। इस सौन्दर्य के चित्रण के साथ-साथ कवि ने इसे भू जीवन में उतरने की कामना भी की है। इस चरण का समस्त काव्य ही भविष्यत् की रमणीय कल्पना से प्रेरित है। जहाँ तक अतीन्द्रिय सौन्दर्य-चित्रण का प्रश्न है, निःसन्देह, अतीन्द्रिय सौन्दर्य—कहीं अन्तश्चेतना के सन्दर्भ में, कहीं भावी युग के सन्दर्भ में तथा साथ ही सौन्दर्य चेतना का तटस्थ अंकन किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य का सम्मोहन कवि को धीरे-धीरे अनुभूतियों के सोपान पर ले जाता हुआ जीवन सत्य की ओर ले गया है।

निष्कर्ष—निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कवि पंत प्रमुख रूप से अन्तर्मुखी सौन्दर्योपासक कवि हैं। उनकी अन्तर्मुखता जहाँ एक ओर उनके भावों को अधिक काल्पनिक बनाती है वहाँ दूसरी ओर उनकी सौन्दर्योपासना कल्पना को एक विशेष आकार प्रदान करती है। सौन्दर्य के इसी पार्श्व पर उन्होंने प्रकृति को एक नया अर्थ और नई प्रतिष्ठा प्रदान की है। इसके साथ ही विश्वमानवतावादी दृष्टिकोण की प्रस्थापना, व्यापक मानवीय विश्वासों की प्रतिष्ठा, दार्शनिक, आध्यात्मिक और कलात्मक निष्ठाओं के सांस्कृतिक समन्वय के फलस्वरूप उनके नवचेतनावादी काव्य में 'चेतना' का चिरंतन और विराट स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। ऐसा स्वरूप जिससे उनके काव्य की गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि हुई है।

कलापक्ष

अब तक हम पंत जी की विभिन्न काव्य-भूमियों के सन्दर्भ में उनके कला-शिल्पगत सौन्दर्य को मूल्यांकित करते आए हैं। नवचेतनावादी कविता के शिल्प पर दृष्टि डालने से पूर्व उनके सम्बन्ध में बच्चन जी की यह उक्ति ध्यातव्य है—'पंत पर उनका शिल्पकार हावी हो गया है। शिल्प के प्रति सचेत

होना तो ठीक है, पर शिल्प पर अधिकार होना कलाकार के लिए बहुत बड़ा खतरा है। इसकी परिणति होती है कलाकार के ऊपर शिल्प के अधिकार में। जीवन की पकड़ जैसे-जैसे छूटती जाती है, शिल्प की जकड़ मजबूत होती जाती है। अँग्रेजी में इसके सबसे बड़े शिकार टेनिसन थे। कालान्तर में, मुझे भय है, शायद पंत जी को भी ऐसा ही समझा जायेगा। गणना उनकी फिर भी बड़े कवियों में होगी। जैसे—जीवन के निर्माण में, वैसे ही कलाकार के निर्माण में भी बहुत से ऐसे तत्व प्रभावकारी और उत्तरदायी होते हैं, जिस पर अपना कोई अधिकार नहीं होता।'[1] पंत जी के शिल्प-सम्बन्धी बच्चन जी की इस उक्ति में आंशिक सत्य है। 'जीवन की पकड़ छूटने' के कथन से हम सहमत नहीं हैं—इस सम्बन्ध में यहाँ विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना तो नितान्त सत्य है कि आलोच्य काव्य में दार्शनिकता के कारण प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं और इनमें पल्लवकालीन कोमलता और तरलता का अभाव है। इसका मुख्य कारण आयु की प्रौढ़ता और परिपक्वता है।[2] यद्यपि इस काव्य में भी कल्पना का सौन्दर्य मिलता है, परन्तु वह सहज रूप नहीं है जो वीणा, पल्लव-काल में है। विश्वम्भर उपाध्याय इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'ऐसा प्रतीत होता है कि इस अभाव को छिपाने के लिए कवि ने पदावली को इतना सघन एवं दृढ़ बनाया है। अतः जिन भावनाओं को अन्य रहस्यवादी कवियों ने सहज ढङ्ग से व्यक्त कर दिया है उसे पंत जी दीर्घ एवं दृढ़ समास विधान के बंधन में जकड़ देते हैं, अतः भाषा में लचक नहीं दिखाई पड़ती है।'[3] हमारा मत है कि नवचेतनावादी काव्य का शिल्प उसकी काव्य-वस्तु की अनिवार्य माँगों से उद्भूत है। पल्लवकालीन काव्य में रूप के प्रति कवि का आकर्षण अधिक था। नूतन काव्य में रूप के द्वारा अरूप की ओर जाने तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कवि ने उसके अनुरूप भाषा और शैली का प्रयोग किया है। अरूप को रूपात्मकता प्रदान करने में सबसे अधिक सहायता उन्हें प्रतीकों और बिम्बों से मिली है। इसके अतिरिक्त सीधी कथन-शैली का प्रयोग भी कवि ने किया है। नवचेतनावादी कृतियो में शिल्प के प्रमुख उपादान जिनका हम विवेचन करेंगे भाषा, शैली, प्रतीक, बिम्ब और छन्द हैं।

---

१. नीड़ का निर्माण फिर—डॉ० हरिवंशराय बच्चन, पृ० १५०-१५१

२. बातचीत के दौरान पंत जी ने स्वयं इस तथ्य की पुष्टि की है।

३. पंत जी का नूतन काव्य और दर्शन—विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ४३३।

भाषा :—नवचेतनावादी काव्य की भाषा एक नवीन काव्यवस्तु का संस्पर्श पाकर पुनः स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को लेकर अवतरित हुई। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से यहाँ हमारा तात्पर्य भाषा के तारल्य से है अर्थात् प्रगतिवादी कविता की भाषा के ठोसपन का अभाव। कल्पना की गूढ़ता एवं चिन्तन की प्रधानता के कारण भाषा का भी वही स्तर है—संस्कृतनिष्ठ, कोमल, सांस्कृतिक पदावली का प्रयोग हुआ है। 'स्वर्णधूलि' को छोड़कर बाकी सभी कृतियों में भाषा का रूप समास-प्रधान, प्रतीकात्मक एवं वैचारिकता लिये हुए हैं। स्वर्णधूलि की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। भाषा में गद्यात्मकता का तत्व तो लगभग सभी कृतियों में विद्यमान है। इन कृतियों मे अनुभूति पक्ष दुर्बल है एवं संवेदना का अभाव है इसलिए 'लोकायतन' जैसी महाकाव्यात्मक कृति भी भाषा के आन्तरिक सौन्दर्य से अपूर्ण है। इसमें भाषा ने केवल विचारों को ढोया है। निम्नलिखित उद्धरणों के आधार पर इस काल के काव्य भी भाषा का अनुमान लगाया जा सकता है। देखिए—

जग, प्रच्छाय गुहाओं में, नव
वाष्पा के गज भरते गर्जन,
चंचल विद्युत लेखाएँ थीं
लिपट दृगों से जाती तत्क्षण।
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अन्तर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन।[1]
तुम्हें नहीं देता यदि अब सुख
चन्द्रमुखी का मधुर चन्द्र मुख,
रोग, जरा भय, मृत्यु देह में—
जीवन चिन्तन देता यदि दुख,
आओ प्रभु के द्वार।[2]

× × ×

---

१. स्वर्णकिरण (हिमाद्रि)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०
२. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६० (कुण्ठित शीर्षक)

युग संध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अह्न, बुझने को कल्प सूर्य,
मुँदने को मानस पद्म, उदित ज्योतिर्मय कवि,
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रान्ति काल ।[१]

× × ×

ऐसा नहीं कि छंद गंध रस भीने ये कोकिल स्वर
मेरी काव्य कला के शेष चरण हैं,—
नहीं, लोक मुख बिम्बित, मेरे सृजन कक्ष में,
हरित धरा जीवन से अंकित,
धरा महत् पर्वत दर्पण है ।[२]

× × ×

मैंने
गुलाब को
ओठों से लगाया ।
उसका सौकुमार्य
शुभ्र अशरीरी प्रेम था ।[३]

क्यों जीवन-विमुख मनुज ने
संन्यास लिया आंगन से,
छल स्वर्ग नरक के भय ने
वनवास दिया जीवन से ?[४]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि नूतन काव्य की भाषा एक उच्च स्तर ५ अधिष्ठित है, जिसमें दुरूहता और गद्यात्मकता अधिक है । इसके अतिरिक्त सीधी कथन अर्थात् वक्तव्यात्मकताका तत्व लिए हुए अनेक कविताएँ 'स्वर्णधूलि' से लेकर 'वाणी' तक मिलती हैं । 'लोकायतन' मे भी यह वक्तव्यात्मकता अनेक स्थानों पर देखी जा सकती है । केवल 'कला और बूढ़ा चाँद' कृति में इस

१. अतिमा (सन्देश)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२२
२. वाणी (आत्म निवेदन)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५४
३. कला और बूढ़ा चाँद (प्रेम)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४६
४. लोकायतन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५१

प्रकार की भाषा-शैली का अभाव है। सपाट भाषा-शैली की दृष्टि से 'स्वर्ण-धूलि' की १५ अगस्त १९४७, 'स्वर्णकिरण' की 'पंडित जवाहरलाल नेहरू जी के प्रति', 'उत्तरा' की 'उद्‌बोधन', 'वाणी' की 'आत्मिका', 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

प्रतीक :—पंत जी के समस्त नवचेतनावादी काव्य में विभिन्न रूपों में अत्यन्त व्यापक स्तर पर प्रतीक-योजना हुई है। यहाँ सभी प्रतीकों का वर्णन करना असम्भव है, इसलिए हम उन सामान्य दिशाओं का उल्लेख करेंगे जिसके अन्तर्गत उनकी प्रतीक योजना सक्रिय रही है। इस काव्य में अधिकांशतः प्रतीक या तो चेतना से सम्बन्धित हैं या फिर देह-बोध, नैतिक एवं उच्च मानवीय मूल्यों से। 'स्वर्ण' शब्द 'चेतना' के प्रतीक के रूप में इस काव्य में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। इस काव्य के अनेक प्रतीक अरविन्द-दर्शन की शब्दावली से भी प्रभावित हैं। अधिकांश में इनका प्रयोग अन्तश्चेतना एवं उससे सम्बन्धित अन्य तत्वों के लिए किया गया है। अपने प्रतीकों का चयन कवि ने अधिकतर प्रकृति के माध्यम से किया है। कुछ प्रतीक द्रष्टव्य हैं—

स्वर्ण निर्झर स्वर्णिम पराग स्वर्णोदय स्वर्णधूलि प्रीति निर्झर	अतिचेतन या स्वयंप्रभ चेतनापुंज
रजत शिखर	— शुभ्र चित् शक्ति
स्वर्णपर्वत	— चेतना की ऊर्ध्वता
सीता शरद चेतना चन्द्रमुखी सरिता वैदेही सोनजुही की बेल शुभ्र नीलिमा अन्तःशिखर चन्द्रकला	— अन्तश्चेतना के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त प्रतीक।
शिखर	— चेतना का ऊर्ध्वस्तर
नूतन गायन	— नवीन सृजन

अरुण ज्वाल	— नवीन चेतना
रजतातप	— आत्म निर्माण
पावक नूपुर तरणी वंशी	— अन्तःकरण की भावनाओं के प्रतीक
भू-जीवन	— भौतिकतावादी भावनाएँ
भू-यौवन	— नवीन चेतना
भू-मानस	— बाह्य मन का स्वर
फूल	— हर्ष, उल्लास, उमंग, सौंदर्य
सागर	— चेतना
बालुका	— अन्तश्चेतना की अनुभूतियाँ
मेघ	— भौतिक जगत्

इन प्रतीकों के अलावा पंत जी ने इस काव्य में प्रेयसी रूप में कल्पित नारी प्रतीक का प्रयोग बहुलता से किया है और ये प्रतीक-योजनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। इन प्रतीकों द्वारा कवि नवीन राग-दृष्टि की उत्कट अभिव्यंजना हुई है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'कला और बूढ़ा चाँद' तक में देखे जा सकते हैं। नारी-प्रतीक के दो चित्र देखिए—

(१) लो, वह आई विश्वोदय पर,
स्वर्णकलश वक्षोजों पर धर।
अर्ध विकृत कर ज्योति द्वार पर,
ज्वलित रश्मियों की अंजलि भर।
वह पवित्रता-सी अभिषेकित,
सद्यः स्फुट शोभा में आवृत।
आई अरुणोदय मन्दिर में,
पथ प्रकाश का करने विस्तृत।[१]

× × ×

(२) तुम फूलों की फूल हो
माखन-सी कोमल।

---

१. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५१

तुम्हारे शुभ्र वक्ष में
मुँह छिपा कर
मैं
ध्यान को
तन्मय अतलताओं में
डूब जाता हूँ[1]

पहले उदाहरण में चेतना के प्रतीक के रूप में उषा-नारी वक्षोजों पर सूर्य रूपी स्वर्ण-कलश रखकर और प्रज्ज्वलित रश्मियों के अंजलि में भर कर प्रकाश का पथ प्रशस्त करने के लिए अरुणोदय रूपी मन्दिर में आयी है। दूसरे उदाहरण में नारी-सौन्दर्य एवं उसकी पावनता ध्यान की एकाग्रता के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुई है। इनमें पत जो की नवीन राग-वादी दृष्टि द्योतित है। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण नूतन काव्य से दिये जा सकते हैं।

ऊर्ध्वचेतना के गहन अनुभव एवं उसके मानव जीवन में अवरोहण के व्यापार से सम्बन्धित प्रतीक-योजना देखिए—

मन से उठ ऊपर,
पंख खोल शोभा क्षितिजों पर
स्वर्ण नील आरोहों क तरो
गंध शुभ्र रज साँसों में भर,
गीतों के निःस्वर झरनों में
स्वप्न द्रवित सुरधनु वर्णों में
अन्तर शिखरों को नहलाती।[2]

इस उद्धरण में शोभा-शितिज और स्वर्णनील आरोह चेतना के ऊर्ध्व आरोहणके प्रतीक हैं एवं गन्ध शुभ्र रज-पार्थिवता की पवित्रता अन्तर शिखर—आन्तरिक उच्चता के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हैं। इस प्रकार चेतना से सम्बद्ध-तत्वों के अतिरिक्त सत्य, ज्ञान, प्रेम, भक्ति, मोह, संस्कार आदि के लिए भी पंत जी ने प्रतीक-योजना की है। जैसे :

(१) मैं सूर्य की किरणें दुहूँ
तुम चांद की।

---

१. कला और बूढ़ा चांद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६७
२. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४४-४५

मैं तुम्हें प्रकाश दूँ
तुम प्यार।[1]

× × ×

(२) ये छूँछें केंचुल, जड़ केंचुल
दृष्टि भयावह, पर जीवन-मृत-
कौन सत्य वह रीढ़ हीन जो
बाह्य तथ्य को रखता जीवित[2]

पहले उदाहरण में सूर्य की किरणें ज्ञान का और चांद की किरणें प्यार का प्रतीक हैं। दूसरे में केंचुल नव-चेतना के अवतरण के पूर्व विगत-मूल्यों का प्रतीक है।

जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं कि पंत जी के नवचेतनावादी काव्य के शिल्प में प्रतीक एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लगभग सभी रचना-सृष्टियों के शिल्प-सौन्दर्य में प्रतीकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परन्तु प्रतीक-योजना के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'कला और बूढ़ा चांद' है, क्योंकि इसमें कवि ने स्वयं साफ शब्दों में कहा है :

मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंद कर
सकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा।[3]

क्योंकि

बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ।[4]

इस काव्य में अनुभूति का वह स्तर है जहाँ कवि भाषा के माध्यम से भावों की वाणी नहीं पा रहा है, इसीलिए प्रतीकों और बिम्बों की भाषा का

---

१. कला और बूढ़ा चाँद (अमृत)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६२
२. अतिमा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६४
३. कला और बूढ़ा चाँद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६२
४. वही, पृ० १७६

प्रयोग किया है। पंत जी के प्रतीक प्रयोग की चरम परिणति व्यंजनात्मक भूमिका पर 'कला और बूढ़ा चाँद' है। इसमें अनिर्वचनीय भावों का प्रतीकों के माध्यम से स्थिर किया गया है। अनिर्वचनीय आनन्द की प्रतीकात्मक अभि-व्यक्ति देखिए :

इन्द्रियां
सीमाओं में बँधी
उसका पूर्णतः
अनुभव न कर सकीं,
वाणी
कला से सभी
उसे सम्पूर्ण
अभिव्यक्ति न दे सकी।
आनन्द
निखर कर
मेरे हृदय में समा गया
और
स्वर्ग पद्म तुल्य
अपने समग्र सौन्दर्य में
खिल उठा।[१]

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'कला और बूढ़ा चाँद' का प्रतीक योजना ऊर्ध्वोन्मुखी है। इसमें कवि ने अतिचेतन की भूमिका पर प्रतीकों का संयोजन किया है। इस कविता संग्रह में शिल्पगत नवीन अनुभूति का प्रस्तुतीकरण है। इसमें प्रयुक्त कुछ विशिष्ट प्रतीकों को समझने के लिए पंत जी द्वारा बच्चन जी को लिखा यह पत्र महत्वपूर्ण है :

'कला और बूढ़ा चाँद'

रश्मिपदी—मुख्यतः प्रेरणा पर आधारित, छन्द, अलंकरण आदि काव्य के बाह्य रूप पर आधारित नहीं।

१—रश्मिपदी = पद ही जिसकी रश्मि हैं (लगाम हैं) स्वतः नियन्त्रित = छंदबंध द्वारा नहीं।

---

१. कला और बूढ़ा चाँद—पंत, पृ० ११७

२—ग्यारह तार = १० इन्द्रिय + १ मन, जैसा तुमने लिखा है ठीक है।

३—ज्योति दुग्ध = गौ, दुग्ध आदि वेदों मे इन्दरट्यूशंस के प्रतीक हैं। तैल धारवत् अविच्छिन्न भक्ति को कहा जाता है। ज्ञान + भक्ति का सामंजस्य नई मानवता में शील के रूप में किया गया है। शील = संस्कार, जो अनुशीलन से प्राप्त होता है। शील = शीलति = टु मेडीटेट, कन्टेमप्लेट। अमृत का प्रतीक सत्य के लिए है, जो अमर है। मेरा अभिप्राय है—आज, सत्य, भक्ति सब शील के रूप में नये संस्कार के रूप में समन्वित हो रही हैं।

४—नारी इम्पर्सनल पोएटिक अर्थ में नारीत्व की ही द्योतक है।

५—प्रारम्भ में 'घर' स्वर्ग की पवित्रता, प्रेम आदि का प्रतिनिधि है—अर्थात् आदर्श का। अन्त का घर यथार्थ का प्रतीक है। दोनों में मतभेद दिखाया गया है—आत्मबोध कृषक बन गया है—पर चमचमाते कलश संकेत करते हैं कि यह पृथ्वी का आदर्श आदर्शोन्मुख यथार्थ है। कभी उज्ज्वल होगा।

६—मोमाल डफिये प्रसिद्ध हिमालय पक्षी है—जो अपनी रच कलरफुल प्लूमेज के लिए प्रसिद्ध है—इन्हें स्टफ करके अमीर लोग बैठकों में रखते हैं—मोर से भी अधिक रंग-छटा से पूर्ण होते हैं।

७—शशक जो (विड्थ) बाहर (बहिर्मुख) तेज भागता है,—मूषक जो गहरा बिल खोदकर (डेप्थ) उसमें विभिन्न वस्तुएँ इकट्ठा करता है। इसलिए मूषक को कलाकार माना—वह भीतर पैठता है। साँप क्रिटिकल फैकल्टी (आत्मज्ञान) है—यह यौगिक प्रतीक है—कुण्डलिनी का (मयूर सर्व-समन्वित जीवन चेतना) का प्रतीक है, मेढ़क अवश्य ही निम्न प्रवृत्ति का। यह एक व्यंग्य है। आज के जीवन की अव्यवस्थित असंयोजित शक्तियों पर।[१]

पंत जी के काव्य में शिल्पगत सौन्दर्य के अन्तर्गत प्रतीक की विवेचना के सन्दर्भ में 'कला और बूढ़ा चाँद' एक स्वतन्त्र प्रतीकात्मक काव्य कृति होने के कारण कुछ विस्तृत उल्लेख की अपेक्षा रखता था। वैसे भी नूतन काव्य के अन्तर्गत यह कृति भाव और कला—दोनों ही दृष्टि से एक सफल रचना-सृष्टि है।

---

१. कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० हरिवंशराय बच्चन, पृ० १०१-११०

नवचेतनावादी काव्य में प्रतीकों का तो प्रधान्य है ही, साथ ही बिम्ब-योजना भी एक प्रकार से उससे चिपकी-सी है। परन्तु स्वतन्त्र बिम्ब योजना के उदाहरण भी कम नहीं है। अब हम बिम्ब-योजना पर भी विचार कर लें।

बिम्ब—काव्यकला की दृष्टि से बिम्ब-योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पंत जी के चेतनावादी काव्य में एक ओर तो सूक्ष्म-बिम्बात्मकता है अर्थात् बिम्ब प्रतीकों के साथ मिलकर प्रयुक्त हैं और दूसरी ओर स्वतन्त्र बिम्ब रचना भी हुई है परन्तु इस प्रकार की बिम्ब-योजना का स्थान प्रायः गौण है। सूक्ष्म बिम्बात्मकता का प्राधान्य काव्य की भावभूमि का अन्तश्चेतनावादी होना है। जहाँ कहीं भी कवि ने दार्शनिक भावों अथवा सहज स्फुरण की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक रूप से की है वहाँ कोई न कोई बिम्ब भी उभरा है। स्वतन्त्र बिंब योजना में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है, वे हमें छायावादी बिम्बों की याद दिला देते हैं। इसका कारण है कवि की संवेदना का पूर्व काव्य की संवेदना से सम्बन्ध। अब हम दोनों प्रकार की बिम्ब-योजना के उदाहरण देख लें :

(१) उत्तर दिशा को
ज्ञान शिखर की
अनन्त चकाचौंध में
देह मान लेकर
अकेले न जाना,
भामिनी,
वहाँ कोई नहीं
कोई नहीं है।[१]

× × ×

(२) मुझे ज्ञात है
तुम
जो नवीन दिगंतों में
स्वर्णिम प्रभात हो

---

१. कला और बूढ़ा चांद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२

तुम्हीं
मेरे मानस में
शुभ्र पद्म कली बन
खिली हो ।[1]

पहले उदाहरण में ज्ञान शिखर, अनन्त चकाचौंध, देहमान आदि प्रतीकात्मक हैं, परन्तु 'देह मान' लेकर 'अकेले न जाना' वहाँ कोई नहीं के भाव से निश्चय ही एक ऐसी स्त्री का बिम्ब उभरता है जो देह मान लेकर किसी निर्जन प्रदेश में अपनी कामनापूर्ति के लिए जा रही हो। दूसरे उदाहरण में नवीन दिगन्त, स्वर्णिम प्रभात पद्म कली आदि प्रतीकात्मक हैं। बिम्ब की दृष्टि से देखें तो स्वर्णिम प्रभात में कमल कली खिलने का बिम्ब उभरता है। स्वतन्त्र बिम्ब-योजना के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(१) पंखों-से रे, फैले फैले ताड़ों के दल,
लम्बी लम्बी अँगुलियाँ हैं, चौड़े करतल ।
तड़ तड़ पड़ती वारि धार गिर उन पर चंचल,
टप टप झरतीं कर-मुख में जल बूँदें झलमल ।[2]

× × ×

(२) लो, अब खुला क्षितिज वातायन,
आई बन में स्वर्ण किरण छन,
जगे नीड़ के मुखर विहग गण,
बरस रहे नभ से मञ्जुल स्वर ।[3]

दोनों ही चित्रों में सुन्दर बिम्ब-विधान है। चूँकि आलोच्य काल की मुख्य शैली स्वतन्त्र-विधान नहीं है, इसलिए इसमें प्रगति काव्य की भाँति बिब के क्षेत्र में नवीन उपादानों की खोज नहीं दृष्टिगत होती। इस काव्य की मुख्य शैली प्रतीक-विधान की दिशा की ओर जा रही है। इसका विवेचन हम पीछे कर आये हैं।

---

१. कला और बूढ़ा चांद—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०७
२. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५५
३. उत्तरा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८४

छन्द :—अपने नवचेतनावादी काव्य में पंत जी ने स्वच्छन्द एवं परम्परागत दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इसके साथ ही मुक्त छन्द का भी प्रचुर प्रयोग किया है : 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' के छन्दों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—'कि इन रचनाओं में उन्होंने' यत्र-तत्र छन्दों की सम-विषम गति की एक-स्वरता को बदलने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किये हैं, जिससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों की गति में अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है, यथा—'सुवर्ण किरणों का झरता निर्झर' में सुवर्ण के स्थान पर 'स्वर्णिम' कर देने से गति में संगति तो आ जाती है, पर सुवर्ण किरणों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार 'जल से कठोर धरती' में 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था, 'मेरे ही असंख्यालोचन' के बदले···अगणित लोचन, 'मानव भविष्य हो शासित' के बदले···भावी हो शासित, दैन्यों में विदीर्ण मानव' के स्थान पर···विक्षत अथवा खंडित मानव हो सकता था,—और ऐसे ही अनेक उदाहरण दुहराये जा सकते हैं, किन्तु मैंने सम-विषय गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्व देना उचित समझा है। इस युग में जब हम ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छन्द लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में यति को मानते हुए सम-विषम की गति में इधर-उधर परिवर्तित कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में स्वरपात का सौन्दर्य आ जाता है। इन रचनाओं में मैंने ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है, यथा—कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि।'[1] छन्द सम्बन्धी कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(१) मेरे ही अगणित लोचन अपलक तारक गण
अन्धकार को प्रहसित करते भू-भय छेदन
मेरी किरणों से झरता धरती पर जीवन,
प्राणों से तृण तरु जीवों का करता पोषण।[2]

× × ×

(२) अंधकार हो दूर, ज्योति-छल जल-बुझ बारम्बार।
दृष्टि भ्रमित करता, तह पर तह मोह तमस विस्तार

१. शिल्प और दर्शन (प्रस्तावना)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८६-८७
२. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४७

मिटे अजस्र तृषा जीवन की, जो आवागम द्वार
जन्म मृत्यु के बीच खींचती आत्मा को अनजान।[१]

(३) स्वर्ग का प्रकाश
हास
करता उर तम विनाश,
किरणों बरसा कर
भय रंजने।
जन रंजने।[२]

हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल उक्त छन्दों में कवि ने मात्रिक छन्द का ही प्रयोग किया है। पहले उदाहरण में २४ मात्राओं वाले रोला छन्द का परम्परागत प्रयोग एवं दूसरे में २७ मात्राओं वाले सरसी छन्द का प्रयोग है। तीसरे में मुक्त छन्द का प्रयोग है जिसमें चरणों की संख्या एवं विस्तार अनिश्चित एवं स्वतन्त्र हैं। परन्तु लयाधार बना है।

निष्कर्ष—पंत जी के स्वर्ण-काव्य के शिल्प-पक्ष पर विचार करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि उनके इस काव्य में शिल्पगत चरम-विकास 'कला और बूढ़ा चांद' कृति में देखने को मिलता है। 'लोकायतन' आकार-प्रकार में बृहद एवं महाकाव्य होते हुए भी काव्य-कला की दृष्टि से सफल कृति नहीं ठहरती है इसलिए उसे यह स्थान नहीं दिया जा सकता। इस काव्य की शैली के सम्बन्ध में जो स्पष्टीकरण पंत जी ने स्वयं दिया है, वह इस प्रकार है—'कुछ आलोचकों का कहना है कि 'युगवाणी ग्राम्या' के बाद 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' की रचनाओं में, मैं फिर छायावादी शैली में लौट आया हूँ, जिससे मैं सहमत नहीं। छायावादी शैली में भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता में प्रस्फुटित होते हैं। मेरे उत्तर काव्य में स्वतः चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूप विधान को अतिक्रम करती रही हैं, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। 'स्वर्णकिरण', 'उत्तर', 'अतिमा' की शब्द-योजना में प्रस्फुटन से अधिक परिणति है।[३] इस प्रकार इस काल की कृतियों में व्यक्त चैतन्य के फलस्वरूप कवि का कला-बोध भी उसकी पूर्ववर्ती कृतियों से कहीं अधिक प्रौढ़ एवं परिष्कृत है।

---

१. स्वर्णकिरण—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २१
२. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४४
३. शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०८

पंत के विकासवादी काव्य में कला शिल्पगत सौन्दर्य

चेतनावादी काव्य के विश्लेषण के अन्तर्गत हमने देखा कि काव्य-यात्रा के उस चरण तक पहुँचते-पहुँचते कविश्री पंत की एक सुनिश्चित भावभूमि प्राप्त हो गई है। इससे आगे की रचना-सृष्टियां प्रायः इसी भावभूमि पर समतल रूप से मानव-जीवन, जगत् और नव संस्कृत-सम्बन्धी भविष्यत् कल्पना पर आधारित कविताएँ हैं। जिस काव्य का विवेचन हम प्रस्तुत अध्याय में करने जा रहे हैं उसमें अधिकांश रूप से भविष्यत् कल्पना के अनुरूप स्थित हो जाने के लिए वर्तमान में जो विकास हो रहा है, उससे सम्बन्धित कविताएँ हैं। इसी-लिए कवि ने इन्हें 'विकासवादी' की संज्ञा से अभिहित किया है।

'लोकायतन' के बाद पंत जी के विकासवादी काव्य के अन्तर्गत ग्यारह कृतियाँ है। साहित्यिकों एवं आलोचकों के मध्य इनकी बहुत अधिक चर्चा नहीं हुई है, जिससे स्पष्ट है कि इनमें सर्वथा नवीन अथवा युगान्तरकारी ऐसा कोई तत्त्व नही है, जो साहित्य जगत् में हलचल मचाए अथवा चर्चा का विषय बने। यद्यपि कथ्य की दृष्टि से किसी प्रकार की नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती तथापि पंत जी जैसे सवेदनशील एवं सौन्दर्य प्रिय कलाकार अपनी अभिव्यक्ति में सदैव नवीन एवं सुन्दर ही रहते हैं। इसलिए कथन की नवीनता और कलात्मकता उनके विकसनशील काव्य मे भी सर्वत्र उद्घाटित होती है। आलोच्य-काव्य के अन्तर्गत कृतियां क्रमशः इस प्रकार हैं—'किरण वीणा', 'पौ फटने से पहले', 'पतझर : एक भाव क्रान्ति', 'गीत हंस', 'शंखध्वनि' 'शशि की तरी', 'समाधिता', 'आस्था', 'सत्यकाम', 'गीत-अगीत' और 'सक्रान्ति'।

काव्य-परिचय

किरण-वीणा— 'पूँछा हंस आनन्द ने सहज
कवि, क्या सुन्दरता अपने में
स्वयं पूर्ण है ?'

कहा हृदय ने,
'हाँ'
आनन्द प्रसू सुन्दरता—
अपने में
वह स्वयं पूर्ण है।[1]

'किरण-वीणा' की 'सौन्दर्य' शीर्षक कविता की उक्त पंक्तियां कवि की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा को अभिव्यक्त कर रही हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ सन् १९६६ में लिखी गई हैं।' इन रचनाओं के विषयों में पर्याप्त वैभिन्य है, जिसका कि पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। 'वाणी' की 'आत्मिका' की तरह ही इस संग्रह के अन्त में 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक कविता में मेरी आत्म-कथा की भी रूपरेखा आ गयी है। 'आत्मिका' की कथावस्तु मुख्यतः मन तथा जीवन के धरातल की है। प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनु-भूतियों से भी सम्बन्ध रखती हैं।'[2]

इस संग्रह की कविताओं में वैचित्र्य का संकेत तो स्वयं कवि ने कर ही दिया है। इसका महत्व 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक लम्बी कविता (लगभग ५० पृष्ठों में फैली) की दृष्टि से है। यह कविता कवि के मानस जगत को उद्घाटित करती है। मध्ययुगीन सांस्कृतिक मूल्यों तथा आधुनिक भारत के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक वातावरण से असन्तोष प्रकट करते हुए कवि ने नवीन विश्व के निर्माण की कल्पना की है और साथ ही साथ उसके अपने जीवन एवं काव्य-यात्रा के विभिन्न मोड़ों का चित्रण भी इस कविता में हुआ है। भावभूमि की दृष्टि से इस संग्रह में कोई नवीनता नहीं है और न ही शिल्प के स्तर पर कोई नवीन दिशा आविष्कृत हुई है। एक प्रकार से इस चरण की सभी काव्य-सृष्टियाँ अपनी पूर्ववर्ती कृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाती हैं।

पौ फटने से पहले :

सिर से प्रिय पैरों तक,
नख-सिख—

---

१. किरण-वीणा—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८७

२. किरण-वीणा के विज्ञापन से—सुमित्रानन्दन पंत।

अमिते, तुम्हीं समग्र हो,
इसे जानता मेरा अन्तर !
इसीलिए, ललिते,
जब मैं प्रिय चरण चूमता
मुझको मिलता स्पर्श
कहीं चरणों से ऊपर
उस अन्तरतम का
जो प्रीति - स्वर्ग चिद्-भास्वर ।[1]

इस संग्रह में सन् १९६७ की कविताएँ संग्रहीत हैं। इन कविताओं में कवि ने अपनी भावनात्मक सर्जनाओं को वाणी देने का प्रयास किया है, जो मुख्यतः जीवन की केन्द्रीय चेतना को सम्बोधित कर लिखी गई हैं। इन कविताओं के सम्बन्ध में स्वयं कविश्री पंत ने विज्ञापन में लिखा है कि 'इन रागात्मक रचनाओं में मैंने आज के युग की पृष्ठभूमि में प्रेमा के संचरण को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है, ये प्रतिक्रियाएँ कई वर्षों से मेरे भीतर संचित थीं। अनेक लोगों के लिए जो कल्पनामात्र है, वह मेरे लिए सत्य रहा है। जो मेरे अत्यन्त घनिष्ट सम्पर्क में रहे हैं वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं कि मेरा मन अधिकतर इसी भावभूमि पर विचरण करता रहा है।··· 'पौ फटने से पहिले' नाम से स्पष्ट है, इन रचनाओं में आज के ह्रासयुगीन भावनात्मक संघर्ष का—गहन अन्धकार तथा काल की संवेदना का आशारुण प्रकाश संग्रंथित है, साथ ही राग-चेतना के सामाजिक विकास की सूक्ष्म रूपरेखा भी इनमें अन्तर्निहित है।[2]

प्रेमा अथवा अन्तश्चेतना को कवि ने कहीं सखी, कहीं माँ, कहीं बहन तथा कहीं प्रेयसी रूप में कल्पित किया है। उक्त उद्धरण में भी वह प्रेयसी रूप में ही कल्पित है। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से इस संग्रह की कविताएँ सुन्दर हैं।

पतझर : एक भाव-क्रांति—

नया मनुज चाहिए आज,
जन-भू को नव संयोजन,

---

१. पौ फटने से पहिले—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५७।

२. पौ फटने से पहिले संग्रह का विज्ञापन—सुमित्रानन्दन पंत।

ध्वंस भ्रंश कर खर्व मूल्य सब
भाव क्रान्ति हो नूतन।
छिन्न-भिन्न हो जाति वर्ग,
धर्मों के जर्जर बंधन,
नव-स्त्री-पुरुषों का समाज हो
मनुज हृदय का दर्पण।[१]

'पतझर—एक भावक्रान्ति' कविता संग्रह विकासवादी कृतियों में एक बड़ा संग्रह है जिसमें १०६ कविताएँ संग्रहीत है। इसका प्रकाशन काल सन् १९६९ है। इसके 'विज्ञापन' में कवि ने लिखा है—'प्रस्तुत संग्रह मे मेरी अनेक प्रकार की नवीनतम रचनाएँ संग्रहीत हैं। अधिकतर भावप्रधान हैं, कुछ विचार प्रधान भी है, जिनमें मैंने आज के आत्म-कुंठित युग में लाउड थिंकिंग करना आवश्यक समझा है।'[२]

कवि ने भावक्रान्ति को आभ्यंतर क्रान्ति का पर्याय माना है, जिसे वे बाह्य या भौतिक क्रान्ति की समग्रता और पूर्णता के लिए आवश्यक समझते हैं। उद्धृत पद्यांश में भी कवि ने नूतन भाव-क्रान्ति का आह्वान किया है। पतझर को उन्होंने युग-संघर्ष का द्योतक बताया है। उनकी दृष्टि में विघटित जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में ही पतझर की सार्थकता है, जिसे मानवास्था-परक नवीन-जीवन मूल्यों के बसन्त के आगमन की पूर्व-पीठिका समझा गया है। कवि की दृष्टि में युग संघर्ष द्वारा ही परिवर्तन घटित होता है, जो मानव-संस्कृति के क्रमिक विकास का अनिवार्य उपादान है। मूलतः आत्मवादी कवि होने के कारण इस संग्रह में भी पंत जी वस्तु-जगत की समस्याओं को अन्तर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा हल करने में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं।

इस संग्रह में मुख्य रूप से प्रेम, प्रकृति और अध्यात्म सम्बन्धी प्रगीत हैं। इन तीनों को कवि ने एक दूसरे से सम्बद्ध और परिपूरक के रूप में ग्रहण किया है। वैसे आरम्भ से ही पंत जी इन विषयों पर कविता करते आ रहे हैं, परंतु कलाकार के रूप में विकासशील होने के कारण उनके बौद्धिक विकास के साथ उनकी रचना-प्रवृत्तियाँ बदलती रही हैं, इसलिये इस संग्रह में भी निश्चय ही उनका मनोविकास क्रमागत नवीनता लिए हुए हैं।

---

१. पतझर : एक भाव-क्रान्ति (भाव क्रान्ति)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५०
२. पतझर : एक भाव-क्रान्ति—सुमित्रानन्दन पंत, (विज्ञापन)

गीत-हंस— गीत-हंस सी उतर सहज
तुम मनः शिखर पर
शुभ्र सुनहली छायाएँ
बरसाती रहती[1]—

'गीत-हंस' का प्रकाशन काल सन् १९६९ है। इसमें संकलित कविताएँ सन् १९६९ के पूर्वार्द्ध मे लिखी गई हैं। 'चन्द्रलोक' रचना (मनुष्य ने जब प्रथम बार चन्द्रमा पर पैर रखे) बाद की है। इसके अतिरिक्त एक अन्य रचना २० मई ५० शीर्षक सन् १९५० की है जो 'अब ७०' जोड़कर इसी संग्रह में सम्मिलित कर ली गयी है।

गीत-हंस के गीत गेय है। हालांकि इन गीतों में पिछले संग्रहों की कविताओं की तुलना में कोई भी नवीनता अथवा श्रेष्ठता नहीं है फिर भी इनमे कला-शिल्प का सौन्दर्य सहज निखरा मिलता है और इसमें अनेक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें उपलब्ध हैं। विषयों की दृष्टि से इस सग्रह में भी पर्याप्त वैविध्य है। मूल स्वर वही चिर-परिचित मानव-जीवन को सुन्दर बनाने के आग्रह क है। साथ ही कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि ऐसा सम्भव होगा और इसलिए उसका विचार है कि मानव-जीवन के विकास में वह अनिवार्य स्थिति अब उपस्थित हो रही है जिसमें जीवन स्वय ही नेतृत्व कर परम्परागत रूढ़ मूल्यों का नवीनीकरण करेगा। इस दिशा में युवा पीढ़ी का विक्षोभ एवं धरती पर हो रहे विभिन्न आन्दोलन इसके लक्षण हैं।

शंखध्वनि—

मन के वन में आग लगाती
यह गम्भीर शंखध्वनि मेरी,
युद्धोन्मुख हत जगत के लिए
इसे न जन समझे रणभेरी।[2]

'शंखध्वनि' संग्रह में 'युद्धोन्मुख हत जगत के लिए' तथा वर्तमान जीवन की विसंगतियों के प्रति कवि के मन को प्रतिक्रियाएँ हैं। नवीन जागरण का सन्देश भी इस संग्रह की कविताओं में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त कतिपय

---

१. गीत-हंस—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १

२. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४९।

कविताएँ कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों से सम्बन्धित हैं जिनमें 'राजू' और 'अनुपमा' विशेष उल्लेखनीय है। अनुभूतियों से सम्बन्धित हैं जिनमें 'राजू' और 'अनुपमा' विशेष उल्लेखनीय हैं। भाव-सम्प्रेषण की दृष्टि से ये दोनों ही कविताएँ प्रभावशाली हैं। अन्त की दो कविताओं का सौन्दर्य स्वर बिल्कुल भिन्न है, कविताएँ हैं 'वियतनाम' एवम् 'लेनिन के प्रति' पहली में वियतनाम में हो रहे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के प्रति कवि का उत्साह है और दूसरी में लेनिन को श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस संग्रह का प्रकाशन-काल सन् १९७१ है।

शशि की तरी—

भाव प्रवण, शोभा ग्राही
मेरे कवि उर का दर्पण
तुम्हीं जगा पाई उसमें
वह मधुर सूक्ष्म संवेदन[१]

इस कृति का प्रकाशन-काल भी सन् १९७१ है। अपनी काव्य-यात्रा में एक निश्चित भाव-भूमि प्राप्त कर लेने के उपरान्त पंत जी की कविता का विकास प्राय: समतल रहा है। परन्तु प्रस्तुत कृति इस दृष्टि से कुछ भिन्न है। इसमें हम एक बार फिर कवि की पल्लवयुगीन भावुकता के दर्शन करते हैं। उसका भाव-प्रवण मन अत्यन्त तीव्र मानवीय अनुभूति प्राप्त कर फिर से इस संग्रह में नवीन हो उठा प्रतीत होता है।

इस संग्रह की समस्त कविताएँ अनुपमा की स्मृति से सम्बन्धित हैं। 'अनुपमा' शीर्षक कविता का जिक्र हम 'शंखध्वनि' संग्रह के परिचय में कर चुके हैं। अनुपमा एक छोटी-सी लगभग तीन-चार साल की लड़की थी जिसे पंत जी ने स्वराज्य-भवन (इलाहाबाद का बाल-भवन) में देखा था और अनायास ही विशेष आकर्षण का अनुभव कर उसके प्रति उनका मन वात्सल्य से भर उठा था और उनका विचार उसे गोद लेने का था, परन्तु दुर्भाग्यवश उसके घुटने की हड्डी के आपरेशन के उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई और 'अनुपमा' के इस प्रकार अकस्मात अप्रत्याशित रूप से चले जाने के कारण मेरे हृदय में जो सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया है। उसी की स्नेह मधुर स्मृति में मेरे मन ने ये गीत गुनगुनाएँ हैं।'[२] इस प्रकार इस संग्रह की सभी कविताओं में

---

१. शशि की तरी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. वही (परिचय)

कवि का दुःख गीतों में प्रवाहित हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना द्वारा कवि ने अपनी 'सुता' का स्मृति-गान किया है। अनुभूति की गहनता, भाव-प्रवणता एवं सहज उच्छ्वास के कारण इस संग्रह की कविताओं का निश्चय ही विकासवादी कृतियों में श्रेष्ठ स्थान है।

समाधिता :

जीवन प्रेमी हों जन
मनोगुहा में रहें न खोयें,
युग प्रबुद्ध हों,
जीवन के अनुभव में नहाएँ धोएँ।[1]

'समाधिता' कविता संग्रह का प्रकाशन काल सन् १९७३ है। 'शशि की तरी' जैसी भाव-प्रवण रचना के बाद कवि फिर समतल भाव-भूमि पर उतर आता है। पिछली कृतियों की शृंखला में समाधिता भी एक कड़ी के समान है। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि ने ईश्वर पर मनुजत्व स्थापित करते हुये उसे इस धरती पर उतरने की आकांक्षा को दुहराया है। लोकमंगल एवं जीवन में अध्यात्म की महत्ता पर बल दिया है अर्थात मनुष्य जीवन प्रेमी होकर आत्मोपलब्धि करे। इस भावभूमि से भिन्न एक कविता गर्भपात के वैधीकरण के विरोध में तथा दूसरी कविता बांगला देश पर भी है। कवि ने जैसा कि इसके 'विज्ञापन' में संकेत किया है कि इस संग्रह की कविताओं में 'धरातल अपने में जीवन की एक नवीन भूमिका है।' परन्तु हमें पिछली कृतियों की तुलना में इसमें किसी प्रकार की नवीनता के दर्शन नहीं होते। लोकमंगल की भावना, ईश्वर का मनुजत्व, आत्मोपलब्धि तथा कुछ सम-सामयिक विषय—यह सब तो कवि का चिर परिचित स्वर है।

आस्था—

मूल स्रोत पकड़ो आस्था का
जो प्राणों की
भाव-भूमि में बहती
सित चेतना तरंगित—
तर्कों वादों के पुलिनों को
रस मज्जित कर।[2]

---

१. समाधिता—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११०

२. आस्था—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५४।

'आस्था' संग्रह 'समाधिता' के बाद का एक बड़ी कविता संग्रह है जिसमें १०८ कविताएँ हैं। इसका प्रकाशन-काल भी सन् १९७३ ही है। इस संग्रह के सम्बन्ध में कविपंत ने 'विज्ञापन' में कहा है—'आस्था' में मेरी 'समाधिता' के बाद की नवीनतम रचनाएँ संग्रहीत हैं। ये रचनाएं सांस्कृतिक-सामाजिक युग-जीवन-परिवेश सम्बन्धी विश्लेषण की दृष्टि के प्रेरित होने के कारण अधिक तर अतुकान्त छंदों में लिखी गयी हैं। जीवन एवं मन के अधिक निकट होने के कारण इनमें आदर्श के साथ यथार्थ का भी चित्रण मिलता है। इस आस्थाहीन युग में ये अपनी सहज आस्था से मन को छू सकें, इन्हें लिखने में यही ध्येय रहा है।'[१]

इस प्रकार 'आस्था' की अधिकांश कविताएं युग जीवन के यथार्थ से प्रेरित हैं और इनका प्रमुख केन्द्र 'मानव' एवं धरती है। कवि का दृष्टिकोण है कि वर्तमान युग में सभ्यता एवं संस्कृति के ह्रास का कारण है विकास की एकांगी दिशा। मनुष्य आज आस्थाहीन होता जा रहा है, वह बाह्य वस्तुगत मूल्यों को अधिक महत्व देता है और आन्तरिक मूल्यों की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। अतः सभ्यता और संस्कृति के समस्त विकास के लिए बहिर्रन्तर मूल्यों को विकसित करना आवश्यक है। इन्हीं जीवन-मूल्यों को कवि ने 'आस्था' की कविताओं में वाणी दी है।

सत्यकाम :—

राग द्वेष से मुक्त हृदय होगा प्रभु मंदिर,
अन्तर्दृष्टि बदल जाएगी भूजीवन प्रति,
काम भावना, राग चेतना का मूल्यांकन
परिणत होगा कला प्रेरणा, सृजन प्रेम में।
आकांक्षा की किरण सूक्ष्म सुरधनु वर्णों में
सर्जित होकर विहंस उठेगी मनः क्षितिज में।
अंतर वैभव अभिनव भावों में विकसित हों
फूट पड़ेगा श्री सुषमा के नव बसंत में।
लौटेगा तब स्वर्ग धरा चरणों की रज पर
दिव्य भाव होंगे कृतार्थ बन मानवीय निधि।[२]

---

१. आस्था—विज्ञापन—सुमित्रानन्दन पन्त।
२. सत्यकाम—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ९२

'सत्यकाम' महाकाव्य का प्रकाशन काल सन् १९७५ है। यह कृति भी पंत के चेतना काव्य का एक शिखर है क्योंकि इसमें ज्ञान योग की एकांगिता को धरती के जीवन से संपृक्त करने का पन्त ने प्रयास किया है। श्री अरविन्द के अर्थ में अतिमानसीय अवतरण को भी वे अति-कल्पना मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्राय: अपनी रचनाओं विशेषकर 'सत्यकाम' में प्रकाश डाला है। वास्तव में पन्त का 'सत्यकाम' मानवीय समस्याओं से ही जूझने का प्रयास करता है।[1]

कवि के शब्दों में—'सत्यकाम मूलत: धरती के जीवन का काव्य है। सच्चे अध्यात्म की परिणति, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं, धरती के जीवन की सम्पन्नता एवं पूर्णता में ही होनी चाहिए। भारतीय परम्परावादी मनीषा को धरती के स्तर पर उतारने के लिए अनेक वैचारिक सोपानों की सहायता लेनी पड़ी है, जो कि इस काव्य के एक अनिवार्य एवं स्वाभाविक अंग बन गये हैं।

सत्यकाम में साधना का सत्य तथा काव्य का सत्य तदाकार हो गये हैं। कथा भाग का कृश पजर मुख्यत: छांदोग्य उपनिषद से लिया गया है।...... मूलत: यह एक तापस की भावनाओं को वाणी देने वाला बोध-काव्य है।[2]

'सत्यकाम' की रचना से पूर्व कवि ने लगभग चार वर्षों तक वेदों एवं उपनिषदो का गहन अध्ययन किया। इसमें जीव, जगत एव मानव-जीवन के मनोरागाध्यात्मिक रूपांतरण की कामना की गयी है। जिसके अन्तर्गत औपनिषदिक जीवन-दृष्टि और मूल्य-धारणा को महत्ता दी गयी है। यह कवि की विशेषता रही है कि उसने औपनिषदिक जीवन-दृष्टि और मूल्य धारणा को निरपेक्ष रूप में न स्वीकार कर उसे आधुनिक युग और समसामयिक समस्याओं के संदर्भ में देखा परखा है। आध्यात्मिक सत्य या मनोजगत के सत्य को कवि ने धरती का सत्य अथवा जीवन का सत्य इसलिए कहा है कि स्वामी विवेकानन्द की भांति उसका लक्ष्य भी स्वस्थ अध्यात्म की परिणति को भू-जीवन की सम्पन्नता एवं परिपूर्णता में रूपान्तरित करना है। वस्तुत: कवि की दृष्टि में जन-जीवन की घोर उपेक्षा करना ऋषि-मुनियों की जीर्ण व्याधि है। कवि की धारणा है कि मनुज-सत्य केवल भौतिक या केवल आध्यात्मिक मूल्यों से कहीं अधिक महत्तर है।

---

१. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य खण्ड २—शांति जोशी, पृ० ४६१।
२. सत्यकाम—विज्ञप्ति—सुमित्रानन्दन पन्त।

'सत्यकाम' महाकाव्य सर्गों अथवा अध्यायों में विभाजित न होकर सोपानों में विभाजित है। जिनके नाम हैं—जिज्ञासा, जबाला, दीक्षा, मन का निर्जन, प्राण ब्रह्म, साक्षात्कार, ब्रह्माग्नि, आत्म-ब्रह्म, जीव ब्रह्म, गुरुकुल, मातृशक्ति। शीर्षक के अनुरूप कवि ने मनोजगत के सत्यों का अन्वेषण 'जिज्ञासा' से आरंभ कर उसकी परिणति 'मातृ शक्ति' में पायी है। काव्य-कला, लालित्य, रागात्मक भावोन्मेष की दृष्टि से अतुकान्त छन्दों में प्रणीत यह काव्य-कृति कविश्री पंत की रम्य सृष्टि है।

गीत-अगीत

कौन भावना आज
बांध सकती मानव का अन्तर
ह्रास त्रास विघटन के युग में
छाया घोर ववण्डर।[1]

'गीत-अगीत' में जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है गेय और अज्ञेय कविताएं हैं। इसका प्रकाशन अभी सन् १९७७ में ही हुआ है। इन कविताओं की रचना कवि ने अपनी अस्वस्थता के अनन्तर की है, जो कुछ सीमा तक अस्वस्थता से उत्पन्न अवसाद को दूर करने में समर्थ हुई है। इन कविताओं का सम्बन्ध वर्तमान की वास्तविकताओं से है। स्वयं कवि ने इस कृति के सम्बन्ध में लिखा है—'प्रस्तुत संग्रह की रचनाएं आज के संक्रांति युग की परिस्थितियों से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। इनके भावबोध में एक प्रकार से युगवैषम्य को अभिव्यक्त मिली है।[2] समसामयिक विषयों में 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक', 'काला बाजार', 'गरीबी न हटाओ', 'दहेज प्रथा' जैसी ज्वलन्त कविताएं हैं। साथ ही इस संग्रह में भी कवि का वात्सल्य आप्लावित हृदय बार-बार छलकता है, इस बार यह वात्सल्य उनकी प्यारी बेटी सुमित्रा के प्रति है—'मेरी प्यारी बेटी सुमित्रा' तथा 'जब तू के० जी० में पढ़ लिख कर' दो सुन्दर कविताएं इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। एक अन्य लक्ष्य तथ्य यह है कि 'गीत-हंस' में कवि ने कहा—'मुझे न कुछ कहने को नूतन' और अब 'गीत-अगीत' का कवि कह रहा है—'जी करता कुछ नूतन गाऊं' जो उसी के शब्दों में इस बात का प्रमाण है

---

१. गीत-अगीत—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ३६।
२. वही—दो शब्द।

कि 'वृद्ध देह के साथ वृद्ध हो सका नहीं' अर्थात् अकुंठित प्रतिभाशील कवि पंत अपनी सृजन प्रतिभा में चिर तरुण हैं।

संक्रान्ति :

महाक्रांति का यह अवाक् क्षण,
गत युग का नव पट परिवर्तन;
देश काल निः स्तब्ध देखते
लोकतंत्र के नव प्रांगण को।[१]

प्रस्तुत विवेचन के अन्तर्गत 'संक्रान्ति' अंतिम कविता-संग्रह है। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा कि कवि पन्त चिर तरुण स्रष्टा हैं इसलिए इस कविता सग्रह को हम अब तक की कृतियों में ही अंतिम कहेंगे। इसके बाद भी उनके कविता सग्रह प्रकाशित होंगे, ऐसी हमें आशा है। इस संकलन का प्रकाशन काल २० मई, सन् १९७७ (इस तिथि को कवि ने अपने जीवन के ७७ वर्ष पूरे किये) है और इसमें सग्रहीत कविताओं की रचना की प्रेरणा कवि को इस वर्ष हुए लोकसभा के निर्वाचन के दौरान मिली है। स्वयं कवि के शब्दों में—'इन रचनाओं की प्रेरणा मुझे सन् १९७७ के चुनाव से मिली है। हमारी जनता अब युग-प्रबुद्ध होकर मनोनुकूल राजनीतिक निर्णय ले सकती है, यह बात इस निर्वाचन से स्पष्ट हो गयी है।

इसे मैं अपने देश की ही नहीं, विश्व-इतिहास की एक महान् घटना मानता हूँ। इतने विशाल पैमाने में इतनी बड़ी शान्तिपूर्ण रक्तहीन क्रान्ति एव राज्य परिवर्तन का संभव होना मन को आश्चर्य-चकित कर देता है।[२]

इस संग्रह को कवि ने 'जनवादी ये खादी के स्वर विजयी जन पर सहज निछावर' कह कर जनता को ही समर्पित किया है।

मनुष्य के भविष्य की जो कल्पना कवि अब तक करता आया है, इस निर्वाचन को देखकर उसके सम्भव होने की उसकी आशा दृढ़ हुई है और साथ ही कवि ने इस घटना को राजनीतिक दृष्टि से अधिक सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। संग्रह की ५२ कविताएं इसी विषय से सम्बन्धित हैं।

---

१. सक्रान्ति—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ३६।
२. दो शब्द—सुमित्रानन्दन पन्त।

अंतिम कविता 'श्री आनन्द कुमार स्वामी' के प्रति उनकी जन्मशती के अवसर पर लिखी गयी है जिसमें कवि ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की है।

भावपक्ष—

आलोच्य कृतियों के भावपक्ष को समझने के लिए 'शंखध्वनि' की भूमिका की यह पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं—'अब संसार के देश जब परस्पर निकट आने एवं एक पूर्ण संयोजित विश्व-जीवन तथा मानव-संस्कृति का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे हैं और भौतिकतावादी अपनी अतिस्पर्धा के कारण, ध्वंसात्मक तथा अतियांत्रिकता के कारण सहज मानवीय विकास का बाधक बनता जा रहा है, भारतीय चैतन्य सम्बन्धी मांगलिक दृष्टि निकट भविष्य में, बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय, विश्वजीवन में अवतरित होकर उसका अनिवार्य और अभिन्न अंग बन सकेगी।'[1] अतः तात्विक दृष्टि से पन्त जी की भाव-दृष्टि इन कृतियों मे चेतना-काव्य से भिन्न नहीं है। इनमें भी विचारात्मकता का प्राधान्य है, परन्तु कविता को विचार-सम्प्रेषण का माध्यम बनाने में उनका एक विशिष्ट लक्ष्य रहा है। वह अपने चिन्तन को कविता द्वारा जन-सामान्य तक पहुँचाना चाहते है। इसमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस स्तर पर पहुँच कर कवि भाव-शून्य हो गया है। कवि के शुद्ध हृदय-पक्ष के उत्तम उदाहरण 'शशि की तरी' में देखे जा सकते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी जहां वात्सल्य-भाव व्यक्त हुआ है, वहां उसकी भावप्रवणता स्पष्ट द्योतित होती है। 'संक्रान्ति' संग्रह में केवल दो हफ्ते के अन्दर लिखी ५२ कविताएँ जिन की प्रेरणा का विषय 'लोक-सभा का चुनाव है—एक सवेदनशील कवि ही लिख सकता है। इस प्रकार बौद्धिकता का प्राधान्य होते हुए भी कवि उसी प्रकार संवेदनशील एव भावप्रवण है, जैसा पहले था, हां युग जीवन के प्रति वह अब अधिक सजग दिखायी देता है। यही कवि की जीवंतता है।

इन कृतियों में विषयों की विविधता का सकेत हमने काव्य-परिचय के अन्तर्गत किया है। मुख्य रूप से नारी, सौन्दर्य, प्रकृति, कला, लोकमंगल, वात्सल्य, चेतना तथा युग जीवन से सम्बन्धित समसामयिक घटनाएं कविता का विषय है। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से इन कृतियों के कुछ सुन्दर उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

---

१. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पन्त (भूमिका) पृ० ६।

भावनात्मक सर्जना के अत्यन्त कलात्मक एवं सुन्दर चित्र 'पौ फटने से पहले' कृति में उपलब्ध है जिसमें प्रेमा अथवा चेतना को लेकर कवि ने रागात्मक रचना की है। दो चित्र द्रष्टव्य हैं—

(१) तुम्हें सुनहली धूप कहूँ ?
सित स्पर्श मनोहर।
चंपक तन
कांचन विनम्र
सौरभ का अन्तर।[1]

(२) तुम नहीं होती
किसे मैं, प्राण, पहनाता
सुनहली ज्योति-ध्वनि पायल ?
जिन्हें गढ़ते किरण चुम्बित
लहरियों के मधुर करतल।[2]

इसी प्रकार 'पतझर : एक भावक्रांति' की भाव शक्ति, 'गिरी-कोमल', 'चन्द्रकला', 'मध्यों के प्रति' आदि कविताओं में कवि ने सुन्दर भाव-चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'गीत हंस' संग्रह की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

कांसों के फूलों के गहने
पहने आती
अब प्रियतमा
शील नत, सुन्दर[3]

प्रकृति का सौन्दर्य कवि को सदैव सम्मोहित करता रहा है और यह शाश्वत प्रकृति उसके अभिव्यक्ति सौन्दर्य में प्रस्फुटित होता रहा है। 'शंखध्वनि' की 'धूप का टुकड़ा' एक सुन्दर कविता है जिसमें कवि ने एक प्राकृतिक व्यापार की लुभावनी झलक देते हुए वस्तु चित्रण के साथ सौन्दर्य-भावना एवं चितवन का अद्भुत संयोग उपस्थित किया है।

एक धूप का हँसमुख टुकड़ा
तरु के हरे झरोखे से झर

१. पौ फटने से पहले—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ४३।
२. पौ फटने से पहले—पृ० ११।
३. गीत-हंस पृ० ५।

अलसाया है धरा-धूल पर-
चिड़िया के सुफेद बच्चे सा ।[1]

निसर्ग वैभव का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

कितनी सुन्दरता बिखरी
प्राकृतिक जगत में ईश्वर,
टपक रही गिरि-शिखरों से झर,
लोट रही घाटी में
लिपटी धूप छांह में निःस्वर !
अनिल स्पर्श से पुलकित तृण दल,
बहती सीमाहीन
श्लक्ष्ण संगीत स्रोत सी
अहरह वन-भू मर्मर[2]

'वीणा' कालीन प्रकृति वर्णन के रहस्य भाव की झलक हमें इस काल की कृतियों में भी यत्र-तत्र मिल जाती है । देखिए—

कहाँ जा रहीं ये सरिताएँ
कौन बुलाता उन्हें
मौन गोपन इंगित कर ?
किसे समीकरण
अर्पित करता निज अचल में
वन कुसुमों की
सौरभ संचित कर चुपके से ।[3]

प्रकृति के फूल-फल कवि-हृदय में किन भावों को जाग्रत करते हैं, इसका चिन्तन-युक्त उदाहरण प्रस्तुत है—

'निर्निमेष सौन्दर्य,
रूप सयोजन श्री हरती मन,
दीप्त वर्ण सुन्दर भावों के
ज्यों प्रतीक हों गोपन ।

---

१. शंखध्वनि, पृ० ३६ ।

२. पतझर : एक भाव क्रान्ति—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६५ ।

३. आस्था—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १२१ ।

सौरभ साँसों से भर देते
जन भू उर का आंगन—
सुधर फूल, सौन्दर्य कला के
तुम हो जग में दर्पण।[1]

साधारणतया पंत जी ने प्रकृति का उल्लासपूर्ण सौन्दर्य-युक्त वर्णन ही अधिक किया है। इसके साथ चिन्तन, रहस्य और अध्यात्म का मिश्रण भी मिलता है। परन्तु प्रकृति का उदास वर्णन केवल तभी किया है जब वह अधिक दुःख कातर हुआ है। 'पल्लव' युग में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं। उसके बाद विकासवादी कृतियों में ऐसे उदाहरण 'शशि की तरी' में हैं। पुत्री-वियोग में कवि अत्यधिक भाव-विह्वल हो उठा है और समस्त प्राकृतिक परिवेश भी अब उसके लिए करुणा-पूर्ण है।

(१) ऐसा मधुर न पहिले रहा प्रकृति मुख
भरा करुणा मार्दव से देता वह सुख।
निशि में भर आते तारों के लोचन
दिन भर गंध समीरण, फिरता उन्मत्त।[2]

(२) मैं ही नहीं
विकल रहता हूँ केवल,
तृण, तरु पल्लव गिरि वन
तुम्हें न पाकर जग में
जाने कैसे लगते
निष्प्रभ, उन्मन![3]

'सत्यकाम' महाकाव्य में पंत जी ने महाकाव्यात्मक कृति के अनुरूप पर्याप्त प्रकृति वर्णन किया है—कहीं पृष्ठभूमि के रूप में, कहीं नारी सौन्दर्य के तुलनात्मक रूप में तो कहीं रहस्यमय रूप में। 'जबाला' सर्ग में ऊषा का एक सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—

आदि उषाएं लाज लालिमाओं में लिपटी
शुभ्र स्वर्ग के वातायन से झांक वधू सी,

---

१. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७८।
२. शशि की तरी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २०।
३. वही—पृ० ३०।

सद्यः स्नात अगुण्ठित यौवन की शोभा से
मंत्रमुग्ध करती थीं विस्मित जीव जगत को।
प्रथम बार जब उदित हुई दिवपुत्री ऊषा
अपनी स्वर्णिम बाँहों में भर नयी धरा को
ब्रह्मा के भी लिए दृश्य वह रहा चमत्कृत।[1]

प्रकृति-वर्णन के बाद लगभग सभी कृतियों में नारी-सौन्दर्य एवं स्वतन्त्र रूप से नारी सम्बन्धी अनेक द्रष्टव्य चित्र कवि ने अंकित किये हैं। 'शंखध्वनि' में युग-रमणी का एक चित्र देखिए—

आज सभी क्षेत्रों में स्त्री नेतृत्व ग्रहण कर
आगे बढ़ती— लाँघ देहली घर-आँगन की।

× × ×

निखिल सभ्यता बनी प्रसाधन युग रमणी की,
पर अन्तः सौन्दर्य खो गया—प्रमुख विभूषण,
भोग तल्प वह मात्र—न श्रद्धा पात्र प्रीति की—
हृदय-सत्य ही साध्य-सभ्यता-संस्कृति साधन।[2]

'युग-रमणी' के चित्रण के साथ ही कवि दूसरी ओर नारी का पक्ष लेता हुआ कहता है—

तुम हो पूर्ण प्रकृति :
बर्बर सभ्यता ने तुम्हें
बना दिया अब नग्न विकृति।
अखिल शील सौन्दर्य
प्रेम आनन्द सत्य को
तुम केवल अस्वीकृति[3]

इसीलिए अनेक स्थान पर कवि ने नारी-मुक्ति का आह्वान किया है—

नारी को होना ही है
अब मुक्त धरा पर

१. सत्यकाम—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २१।
२. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४३।
३. गीत-हंस—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६३-६४।

युग्म कर्म होगा उसकी
  इच्छा पर निभर ।
वह जननी है निखिल सृष्टि
  उसके ही आश्रित,—
वही जन्म दे सकती,
  मानव जग की भू पर ।[1]

नहीं तो—

सभ्य न हो सकता समाज वह
जिसमें नारी मुक्त न हो ।[2]

और नारी के मुक्त हो जाने पर--

कितना संस्कृत हो जाएगा जन-भू जीवन
स्त्री जब विचर सकेगी निर्भय, मुक्त धरा पर,
मानव तब निश्चय ही मानव बन जाएगा ।
स्त्री जब श्री शोभा प्रतीक बन मांसल जग में
आनंदित कर नर-उर को सौन्दर्य स्पर्श से
तृप्त करेगी जन-जन को, रस सूक्ष्म कला से
प्राणिक आवेगों को संस्कृत, अंतर्मुख कर ।
शील संयमित, आत्म-संतुलित होगी स्वयमपि
स्त्री तब नयी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर ।[3]

स्त्री-सौन्दर्य-सम्बन्धी निम्नलिखित सुन्दर उदाहरण में कवि के वैयक्तिक भाव की झलक भी मिलती है--

श्री शोभा ललित तुम, मुझको अस्पृश्य रहीं,
  वंशी की रस-अवयव मांसल लय सी कोमल,
नव भाव रूप धर छूती स्वप्नों के उर को
  हो उठते प्राण अदृश्य स्पर्श पाकर चंचल ।[4]

---

१. आस्था—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १६० ।
२. समाधिता—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १५१ ।
३. [illegible] —सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६२ ।
४. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १०७ ।

वात्सल्य-भाव सम्बन्धी रचनाओं में 'शशि की तरी' समस्त काव्य-कृति ही उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त 'शंखध्वनि' संग्रह में 'अनुपमा' और 'राजू' कविता 'आस्था' में तुमको पाकर तथा 'गीत-अगीत' में 'मेरी प्यारी बेटी सुमिता' तथा 'जब तू के० जी० में पढ़ लिखकर' कविताएँ दर्शनीय हैं। यहाँ कुछ सुन्दर पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

(१) शशि लेखा को लिए गोद
वात्सल्य मुग्ध सा अंबर,
तुम अंक लगाने को
आतुर हो उठता अन्तर।[1]

(२) तुमको पाकर प्रिय सुमिते,
आज गोद में
अनुभव करता हूँ
चरितार्थ हुआ अब जीवन।[2]

सौन्दर्य भाव पंत-काव्य का केन्द्रीय भाव है और इसीलिए सौन्दर्य के कवि पंत ने इन कृतियों में फिर से दोहराया है कि उसके कवि मन को सौन्दर्य ही आकर्षित करता है और वह सुन्दरता को भिन्न-भिन्न आयामों में निरखता-परखता हुआ अपनी कला को सार्थक करता है—

सुन्दरता सींचती मुझे
सुन्दरता ही करवाती प्रणयन[3]

असुन्दरता में भी सौन्दर्य देख लेना कला का सार्थक होना है—

देख सके सौन्दर्य असुन्दरता में भी मन,
क्योंकि असुन्दरता केवल संकीर्ण दृष्टि भर।
कैक्टस हो कर्दम – सब कुछ ही सुन्दर जग में।
विकसित हो भू-मन, व्यापक सौन्दर्य-बोध हो,
कला दृष्टि नव रूप करे निर्माण विश्व का—
सभी समान, – बहे जग में न विषमता का विष।[4]

---

१. शशि की तरी—पंत, पृ० ७२।
२. आस्था—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३७।
३. गीत-हंस-सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२०।
४. शंखध्वनि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २४।

सौन्दर्य-साधना कठिन साधना तो है परन्तु सर्वोपरि एवं महान साधना है, सौन्दर्य-स्पर्श का आनन्द अनिर्वचनीय है—

(१) सौन्दर्य साधना कृच्छ् महत्
जीवन के विष को बना अमृत,
सह घृणा दंश, दे सहज प्रेम,
पशु को करना होता संस्कृत ।[१]

(२) मुझे ज्ञात सौंदर्य साधना
सर्वोपरि साधना सुसंस्कृत,
ईश्वर नत सौंदर्य पदों पर,
शांति प्रीति आनन्द समर्पित ।[२]

सौन्दर्य भैरवी ही इस धरती पर नित नूतन रूप में अभिव्यक्त हो धरा को सुंदर बनाता है—

वह त्रिलोचना—
भूत भविष्यत् वर्तमान पर
अभिव्यक्ति देती निज में
अभिनव को सुन्दर !
कला-शेखरा,
झरती ऋत संबोधि सुधा
भू मन में,
सित कपाल पात्री,
भरती नव रक्त
जगत् जीवन में ।[३]

इस प्रकार पंत जी की विकासवादी कृतियों के भावपक्ष के उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि काव्य-प्रौढ़ पर पहुँच कर एवं जीवन-दृष्टि स्थिर हो जाने पर कवि निरन्तर उस मनोमय धरातल पर विचरण कर रहा है जहां किसी प्रकार के संशय अथवा पूर्वाग्रह का स्थान नहीं है। उसका भाव

१. वही—पृ० १३३ ।
२. गीत-हंस—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २२२ ।
३. पतझर : एक भाव क्रान्ति—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० २३२-३३ ।

जगत उस उच्च स्तर को स्पर्श कर चुका है जहां शब्द, छन्द, स्वर और गीत भी उसे व्यक्त करने में अक्षम हैं ; इसीलिए काव्य-यात्रा के इस स्तर पर कवि शांत-प्राण मन होकर अपने कवि-कर्म में आज भी सृजनशील है। अपने इस विवेचन को हम कवि की ही निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा समाप्त कर रहे हैं—

अब न शब्द रह गए, छन्द ही,
रहे न गीतों के स्वर मादन,
स्पर्श रह गया केवल तन्मय,
मूक भाव-जग, शांत प्राण मन।[१]

कलापक्ष :—विकासवादी कृतियों के विवेचन के सन्दर्भ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भाव एवं कथ्य की दृष्टि से यह चेतना-काव्य की परंपरा का विकास है। किसी प्रकार की नवीन भूमि की उपलब्धि इनमें नहीं है। अतः शिल्प की दृष्टि से भी इनमें किसी प्रकार का आविष्कारक तत्व अथवा नवीनता नहीं है।

छायावादी काव्य के उपरान्त कवि अलंकार तथा छन्द की दृष्टि से उतना सचेत नहीं रहा और 'कला और बूढ़ा चांद' में तो भाषा भी उसके भावों को व्यक्त करने में अक्षम प्रतीत हुई। फिर भी तब से अब तक के काव्य में कला-उपकरण की दृष्टि से कवि ने सबसे अधिक प्रयोग बिम्बों एवं प्रतीकों का किया है। भाषा-शैली अधिकांश रूप में सपाट-कथन शैली अथवा वक्तव्य प्रधान शैली रही है। वक्तव्य शैली एक प्रकार से इस काव्य की प्रतिनिधि-शैली रही है।

इस काव्य में भी भावोच्छ्वास के बजाय कविता ने विचारों का वहन अधिक किया है और इस प्रक्रिया में जहां विचारों का ग्रहण कविता में बिम्बात्मक रूप से हुआ है वहां कविता प्रभाव उत्पन्न करती है और जहां सीधी कथन शैली को अपनाया है वहां कला-पक्ष शिथिल है। एक प्रभावशाली बिम्ब द्रष्टव्य है—

तुम बसन्त आने से पहले
चली गई—

१. गीत-हंस—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८८।

चिनगी सी छिटकी स्मृति की
कोपलें नई ।[1]

उक्त उदाहरण 'शशि की तरी' से लिया गया है। वास्तव में यह कृति इस काल के काव्य में भाव और शिल्प की दृष्टि से अपवाद स्वरूप है। जहां भाव की दृष्टि से इसमें सहज भावोच्छ्वास एवं सच्ची संवेदना है वहीं शिल्प के स्तर पर भी इसमें कवि की संवेदना का सच्चा योग होने के कारण यह कृति इस काल की कृतियों में श्रेष्ठ होने का दावा करती है। वैसे सामान्यतः 'किरण-वीणा' से लेकर 'संक्रान्ति' तक बिम्ब एवं प्रतीक की दृष्टि से कोई नयापन किसी कृति में नहीं है। अधिकांशतः पुराने प्रतीक एवं बिम्ब-विधान के पुराने उपकरणों का ही प्रयोग मिलता है। 'पौ फटने से पहले' कृति की समस्त रचनाएं अंतश्चेतना से सम्बन्धित होने के कारण प्रतीकात्मक हैं परन्तु देखने पर ये चेतना-काव्य के प्रतीकों का स्मरण कराती है। देखिए—

तार नहीं,
तरेर रहे
मुझको सौ-सौ भू-लोचन,
कहीं खोल दूं
मैं न हृदय में
स्वर्ग ज्योति वातायन !
और कहीं
सचमुच उचार दूं
मुँह से ढाई अक्षर
कोलाहल मच जाय,
लजाए अणु-विस्फोट भयंकर ।[2]

इस उद्धरण में चेतनावादी पद्धति पर विकसित चेतना और प्रेम-भाव की व्यंजना प्रतीकों के माध्यम से प्रभावोत्पादक बन पड़ी है।

वस्तुतः कवि पंत के विकासवादी काव्य में भाव और शिल्प के स्तर पर किसी प्रकार की नवीनता न होने का अर्थ यह नहीं है कि उनका यह

---

१. शशि की तरी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२. पौ फटने से पहले—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १४२-४३

काव्य कम महत्त्वपूर्ण है, बल्कि जहां तक काव्य की रम्यता एवं सौंदर्य का प्रश्न है, वह इस काव्य में भी प्रचुर रूप से विद्यमान है। और फिर नवीनता और पुरातनता का कवि के शब्दों में इस प्रकार है—

मुझे न कुछ कहने को नूतन !
प्राण ! पुरातन ही चिर नूतन
जान गया मन ![1]

निष्कर्षतः पंत जी बिम्बवादी रुचि के चित्र-केन्द्रित कला-शिल्प के कवि हैं। यदि हम उन्हें एकमात्र सौंदर्य का कवि कहें तो अत्युक्ति न होगी। समृद्ध एवं विकसित सौंदर्य चेतना तथा लोकमंगल की भावना से उनका विकासवादी काव्य भी समग्रतः अनुप्राणित है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कृतियाँ

१. वीणा	—	इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
२. ग्रंथि	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण
३. पल्लव	—	राजकमल, दिल्ली, सातवां संस्करण, १९६३
४. गुंजन	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, सातवां संस्करण, संवत् २०१० वि०
५. ज्योत्स्ना	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
६. युगांत	—	लोक भारती, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण
७. युगवाणी	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्र० सं०
८. ग्राम्या	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण संवत् २००८ वि०
९. स्वर्ण किरण	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद प्रथम संस्कारण संवत् २००४ वि०
१०. स्वर्णधूलि	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण संवत् २००४ वि०
११. उत्तरा	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, संवत् २००६ वि०
१२. रजत शिखर	—	भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सवत् २००८ वि०
१३ शिल्पी	—	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
१४. सौवर्ण	—	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० सं०सन् १९५७
१५. अतिमा	—	राजकमल, दिल्ली, द्वितीय संस्करण संवत् २०१५ वि०
१६. वाणी	—	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९५८

१७. कला और बूढ़ा चाँद — राजकमल, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५९
१८. लोकायतन — राजकमल, दिल्ली, प्र० स०, सन् १९६४
१९. किरण-वीणा — राजकमल, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९६७
२०. पौ फटने से पहले — राजकमल, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९६७
२१. पतझर: एकभावक्रांति — राजकमल एण्ड संस, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९६९
२२. गीत हंस — लोक भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् १९६९
२३. शंखध्वनि — राजकमल, दिल्ली, प्र० स० सन् १९७१
२४. शशि की तरी — राजकमल, दिल्ली, प्र० सं० सन्
२५. समाधिता — राजकमल, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९६४
२६. आस्था — राजकमल, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९७३
२७. सत्यकाम — राजकमल, दिल्ली, प्र० स० १९७६

परिशिष्ट—२

हिन्दी ग्रन्थों की सूची

१. अशोक के फूल—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सत्साहित्य प्रकाशन, नई दिल्लीचतुर्थ संस्करण, सन् १९५५।
२. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, भारती भण्डार, इलाहाबाद प्र० सं० संवत २००० विक्रमी।
३. आधुनिक काव्य रचना और विचार—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, साथी प्रकाशन, सागर, १९६२।
४. आधुनिक हिन्दी काव्य-शिल्प (१९००-१९४०ई.)—डॉ० मोहन अवस्थी, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, सन् १९६२।
५. आधुनिक काव्य में सौन्दर्य-भावना—शकुन्तला शर्मा—सरस्वती मन्दिर प्रकाशन बाराणसी, प्रथम संस्करण सन् १९५१।
६. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प—कैलाश बाजपेयी—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६३।
७. आधुनिक हिन्दी कवियों की काव्यकला—डॉ० प्रेमनारायण टण्डन, हिन्दी साहित्य लखनऊ सन् १९६१।

८. आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली तृतीय संस्करण, १९६२।
९. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० कुमार विमल, अर्चना प्रकाशन, आरा, सन् १९६४।
१०. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९५४।
११. आधुनिक हिन्दी कविता का मूल्यांकन—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी-भवन, जालन्धर इलाहाबाद, १९६२।
१२. आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका—शम्भुनाथ पाण्डेय, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६४।
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य—डॉ० रामेश्वर लाल खन्डेलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १९५८।
१४. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां—जगदीश नारायण त्रिपाठी, प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर।
१५. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान—नरेन्द्रमोहन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९७२।
१६. आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन प्रथम संस्करण संवत् २०१४।
१७. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डॉ० केशरी नारायण शुक्ल, नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी सन् १९६१।
१८. आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा—रामकुमार सिंह, ग्रन्थम प्रकाशन, प्रकाशन, कानपुर, सन् १९६५।
१९. आधुनिक काव्य और दर्शन—डॉ० रामभूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९७३।
२०. आधुनिक हिन्दी काव्य—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद मिश्र—ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर सन् १९६६।
२१. आलोचना क मानदण्ड—शिवदान सिंह चौहान, रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली प्रथम सस्करण, १९५८।
२२. आस्था के चरण—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९६८।
२३. कवि पंत और उनकी छायावादी रचनाएं—डॉ० पी० आदेश्वर राव, प्रगति प्रकाशन, आगरा प्रथम सस्करण, १९७२।

२४. क्या भूलूं क्या याद करूँ—डॉ० हरिवंश राय बच्चन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्र० सं० १९६९ ।

२५. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जय शङ्कर प्रसाद भारती, भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण ।

२६. कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, सन् १९६२ ।

२७. कविता के नये प्रतिमान—डॉ० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६८ ।

२८. कवि सुमित्रानन्दन पंत—आर० जी० शर्मा और पी० सी० जायसवाल—सरस्वती पुस्तक सदन आगरा १९७१ ।

२९. कला और संस्कृति—सुमित्रानन्दन पंत—किताब महल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

३०. कवि सुमित्रानन्दन पंत और उनका प्रतिनिधि काव्य—शिवनन्दन प्रसाद ।